अध्याय | विषय-सूची | पृष्ठ संख्या

इकाई I - राजनीतिक समाजशास्त्र का परिचय (Introduction of Political Sociology) **1-27**

1.1 उद्देश्य (Objectives) 1

1.2 प्रस्तावना (Introduction) 2

1.3 संगठन और प्रशासन-तंत्र : वेबर का दृष्टिकोण (Organisation and Administration System: Perspective of Weber) 4

1.4 राज्य : एक विलक्षण संघ (State: An Astonishing Union) 11

1.5 आदिम और आधुनिक समाजों में राजनीतिक संस्थाएँ (Political Parties in Ancient and Modern Society) 13

1.6 परम्परागत आधुनिक भारतीय समाज मे लोकतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था और संरचना (Democratic Political System and Structure in Traditional and Modern Indian Society) 15

1.7 राजनैतिक अभिजन : भर्ती और सामाजिक परिवर्तन में उनकी भूमिका (Political Elite: Recruitment and Role in Social Change) 17

1.8 राजनैतिक व्यवस्था : अवधारणा और स्वरूप (Political System: Concept and Types) 20

1.9 राज्य और समाज (State and Society) 22

1.10 राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र (Political Science and Sociology) 23

1.11 सारांश (Summary) 26

- अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions) 26
- संदर्भ पुस्तकें (Reference Books) 27

इकाई II - राजनीतिक प्रक्रियाएँ, अभिजन एवं शक्ति का विकेन्द्रीकरण (Political Processes, Elites and, Decentralization of Power) **28-57**

2.1 उद्देश्य (Objectives) 29

2.2 प्रस्तावना (Introduction) 29

2.3 राजनीतिक प्रक्रियाएँ यानी राजनीतिक समाजशास्त्र (Political Processes Means Political Sociology) 29

2.4 परंपरागत समाज में प्रजातंत्र (Democracy in a Traditional Society) 30

2.5 प्रजातंत्र : परंपरागत समाज की चुनौतियाँ (Democracy: Challenges of Traditional Society) 34

2.6 राजनीतिक दल और उनके सामाजिक आधार (Political Parties and their Social Base) 37

2.7 राजनीतिक अभिजन की सामाजिक संरचनात्मक उत्पत्ति और उनकी स्थिति (Social Structural Origin of Political Elites and their Position) 40

2.8 राजनीतिक अभिजन : अर्थ और परिभाषा (Political Elite: Meaning and Definition) 41

2.9 भारत में राजनीतिक अभिजन की उत्पत्ति (Origin of Political Elite in India) 42

2.10 आँचलिकता (Regionalism) 44
2.11 अनेकत्ववाद एवं राष्ट्रीय एकता (Pluralism and National Unity) 46
2.12 शक्ति का विकेन्द्रीकरण : पंचायती राज (*Decentralization of Power: Panchayati Raj*) 49
2.13 73 वाँ संविधान संशोधन (73rd Constitutional Amendment) 51
2.14 74 वाँ संविधान संशोधन : नगरपालिका की संरचना (74th Constitutional Amendment: Structure of Municipality) 53
2.15 निकायों की संरचना (Structure of Municipality) 54
2.16 सारांश (Summary) 56
- अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions) 57
- संदर्भ पुस्तकें *(Reference Books)* 57

इकाई III - राजनीतिक में बुद्धिजीवी की भूमिका, दबाव एवं हित समूह और नौकरशाही (Political Role of Intellectuals, Pressure and Interest Group and Bureaucracy) 58-85

3.1 उद्देश्य (Objectives) 58
3.2 प्रस्तावना (Introduction) 59
3.3 राजनीतिक मे बुद्धिजीवी की भूमिका एंव महत्त्व *(Political Role and Importance of Intellectuals)* 59
3.4 विचारधारा के अंत का सिद्धांत (Theory of End of Ideology) 64
3.5 दबाव एवं हित समूह : प्रकृति, आधार एवं राजनीतिक महत्त्व (Pressure and Interest Group: Nature, Base and Political Importance) 67
3.6 दबाव समूहों की कार्य–प्रणाली (Functioning Techniques of Pressure Groups) 71
3.7 दबाव समूहों की कार्यविधियाँ (Functioning Methods of Pressure Groups) 75
3.8 दबाव समूह और लोकतन्त्र (Pressure Groups and Democracy) 76
3.9 नौकरशाही : विशेषता, प्रकार और राजनीतिक विकास में इसका महत्त्व (Bureaucracy: Characteristics, Types and its Importance in Political Development) 78
3.10 नौकरशाही के लाभ एवं प्रकार्य : सामाजिक-आर्थिक परिणाम (Advantages of Bureaucracy: Socio-Economic Consequences) 83
3.11 सारांश (Summary) 84
- अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions) 85
- संदर्भ पुस्तकें (Reference Books) 85

इकाई IV - भारत में राजनीतिक प्रक्रिया, राजनीति में जाति–धर्म, क्षेत्रीयतावाद एवं भाषा की भूमिका (Political *Process in India, Role of Caste, Religion, Regionalism and Language* in Politics) 86-111

4.1 उद्देश्य (Objectives) 86
4.2 प्रस्तावना (Introduction) 87
4.3 जाति और भारतीय राजनीति (Caste and Indian Politics) 87

4.4 जाति का राजनीतिक रूप : रजनी कोठारी का दृष्टिकोण (Political Dimensions of Caste: Rajni Kothari's Approach) 88
4.5 जाति के राजनीतिकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Caste Politicization) 91
4.6 भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका (Role of Caste in Indian Politics) 92
4.7 धर्म एवं राजनीति (Religion and Politics) 97
4.8 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद (Regionalism in Indian Politics) 100
4.9 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद : विश्लेषण (Regionalism in Indian Politics Analysis) 101
4.10 क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम (Evil Consequences of Regionalism) 108
4.11 सारांश (Summary) 110
• अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions) 110
• संदर्भ पुस्तकें (Reference Books) 111

इकाई V - लोकमत, लोकतंत्र में मीडिया की भूमिका एवं राजनीतिक समाजीकरण (Public Opinion, Role of Media in Democracy and Political Socialisation) **112-136**

5.1 उद्देश्य (Objectives) 112
5.2 प्रस्तावना (Introduction) 113
5.3 लोकमत का अर्थ व परिभाषा (The Meaning and Definition of Public Opinion) 113
5.4 लोकमत का निर्माण तथा अभिव्यक्ति (Formation and Expression of Public Opinion) 115
5.5 स्वस्थ-लोकमत के निर्माण की पूर्व शर्तें (Pre-Requisites of Sound Public Opinion) 119
5.6 लोकतंत्र और लोकमत (Democracy and Public Opinion) 122
5.7 अशिक्षित समाजों में संचार की समस्याएँ (Problems of Communication in Illiterate Society) 125
5.8 लोकतंत्र में मीडिया की भूमिका (Role of Media in Democracy) 126
5.9 समाज निर्माण में समाचारपत्र की भूमिका (Role of Newspapers in Social Development) 128
5.10 कार्यपालिका में संचार साधनों का योगदान व प्रचार की भूमिका (Contribution of Means of Communication) and Role of Propaganda in Executive) 129
5.11 सामाजिक जीवन का राजनीतिकरण या राजनीतिक समाजीकरण (Politicization of Social Life or) Political Socialization) 130
5.12 राजनीतिक समाजीकरण का संप्रत्ययीकरण एवं प्रक्रिया (Conceptualisation and Concept of Political Socialisation) 132
5.13 राजनीतिक समाजीकरण के निर्माणक तत्व (Determinants of Political Socialisation) 132
5.14 सारांश (Summary) 135
• अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions) 136
• संदर्भ पुस्तकें (Reference Books) 136

इकाई–1
Unit–I

नोट

राजनीतिक समाजशास्त्र का परिचय
(Introduction of Political Sociology)

संरचना (Structure)

1.1 उद्देश्य (Objectives)
1.2 प्रस्तावना (Introduction)
1.3 संगठन और प्रशासन-तंत्र: वेबर का दृष्टिकोण
(Organisation and Administration System: Perspective of Waber)
1.4 राज्य: एक विलक्षण संघ (State: An Astonishing Union)
1.5 आदिम और आधुनिक समाजों में राजनीतिक संस्थाएँ
(Political Parties in Ancient and Modern Society)
1.6 परम्परागत और आधुनिक भारतीय समाज में लोकतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था और संरचना
(Democratic Political System and Structure in Traditional and Modern Indian Society)
1.7 राजनैतिक अभिजन: भर्ती और सामाजिक परिवर्तन में उनकी भूमिका
(Political Elite: Recruitment and Role in Social change)
1.8 राजनैतिक व्यवस्था: अवधारणा और स्वरूप (Political System: Concept and Types)
1.9 राज्य और समाज (State and Society)
1.10 राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र (Political Science and Sociology)
1.11 सारांश (Summary)
- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

1.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- संगठन एवं प्रशासन-तंत्र को समझने में;
- आदिम और आधुनिक समाज की राजनीतिक संस्थाओं को जानने में;
- राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र की व्याख्या करने एवं इनके अंतर को जानने में;
- राजनीतिक समाजशास्त्र का उल्लेख करने में।

नोट

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

राजनीतिक चिन्तकों ने यह कहा कि राज्य के पास सम्प्रभुता है। तात्पर्य यह कि अपने क्षेत्र के अंदर सभी व्यक्तियों और संस्थाओं पर इसका कानूनी अधिकार है। समाज की अवधारणा भी समान रूप से सर्वसमावेशी थी। जिन लोगों ने समाज के विषय में तर्क दिये उनका कहना था कि जो कुछ इसके अंतर्गत आता है वह सब समाज का ही एक हिस्सा है जो कुछ समाजशात्रियों की चिंता धारा में था उनमें से अधिकांश को राजनीति वैज्ञानिकों ने राजनीति शास्त्र का विषय माना जबकि समाजशास्त्रियों का नज़रिया इसके विपरीत था। इस विवाद को अब शांत कर दिया गया है। यह बात अब व्यापक रूप से स्वीकार की जाती है कि दोनों अनुशासन अपनी विशिष्ट दृष्टि से सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत स्त्री व पुरुष के व्यवहारों तथा क्रियाकलापों पर चर्चा करते हैं। इस प्रकार एक राजनीति वैज्ञानिक सिर्फ सत्ता के आयाम से ही संबद्ध होता है। वह उन तत्वों और प्रभावों से सरोकार रखता है जो राजनीतिक सत्ता के वितरण को प्रभावित करते हैं। राज्य ही अंतिम सत्ता है जो कानूनी रूप से सारी शक्तियों का इस्तेमाल करता है। यह राज्य को एक अनोखा चरित्र प्रदान करती है। दूसरी तरफ समाजशास्त्री "सामाजिक नियंत्रण से ज्यादा जुड़ा हुआ है। यह उन तरीकों से ज्यादा संबद्ध है जिनके तहत बड़ी व्यवस्था की विभिन्न इकाइयाँ आपसी संबंधों को निर्धारित करती है।" तात्पर्य यह कि समाजशास्त्री औपचारिक संरचनाओं और कानूनी परिभाषाओं से अधिक सामाजिक संबंधों से जुड़ा होता है।

चूँकि दोनों विभाग बड़ी सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत मानवीय व्यवहारों से संबद्ध हैं, यह माना जा सकता है कि सामाजिक संरचनाओं और राजनीतिक संस्थाओं के बीच पारस्परिक समायोजन करने के अवसर हैं। मूल्य और समूह की संस्कृति और उनके द्वारा विकसित राजनीतिक संस्थायें एक दूसरे से संबद्ध है। अपनी तरफ से राजनीतिक संस्थायें भी सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों को प्रभावित करती हैं। राजनीतिक समाजशास्त्र सिर्फ राजनीतिक व्यवस्थाओं को सबल करने वाली सामाजिक शर्तों का ही अध्ययन नहीं करता है बल्कि राजनैतिक संस्थायें गैर-राजनीतिक सामाजिक संरचना को कैसे प्रभावित करती हैं इस पर भी गौर करता है। इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि राजनीतिक समाजशास्त्र अपनी अध्ययन-परिधि की दृष्टि से समाज को राज्य पर या राज्य को समाज पर प्राथमिकता नहीं देता है।

इस संदर्भ में मान्टेस्क्यू (Montesquieu 1689-1755) के विचारों को सामने रख सकते हैं। वे पहले दार्शनिक थे जिन्होंने एक तरफ राजनीतिक संरचना और संस्थाओं के विषय में और दूसरी ओर विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक तत्वों के बीच संबंधों पर बहस शुरू की। सामाजिक और आर्थिक घटनाओं के विश्लेषण द्वारा उन्होंने दोनों प्रकार की घटनाओं के बीच संबंध तलाशने की कोशिश की।

उन्होंने राजनीतिक संस्थाओं को कुछ आदर्श प्रकारों जैसे गणतंत्र, कुलीनतंत्र, राजतंत्र और निरंकुश तंत्र में वर्गीकृत किया। उनके विचार में इन राजनीतिक संस्थाओं का जन्म दुर्घटनावश नहीं हुआ था। इसके विपरीत विभिन्न ऐतिहासिक कालों में सामाजिक तत्व इसके विकास के कारण रहे हैं। सामाजिक-आर्थिक नियामकों को समझे बिना कोई भी राजनीतिक संस्थाओं के मूल चरित्र को नहीं समझ सकता। जब मोन्टेस्क्यू राजतंत्र या कुलीन के विषय में बात करते हैं तो उनके दिमाग में संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था होती है, जिसका एक घटक राजनीतिक संस्थायें हैं।

वे निर्णयात्मक पद्धति से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते। उनके निष्कर्ष ऐतिहासिक घटनाओं, विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययनों (भूत तथा वर्त्तमान से संबद्ध), विभिन्न लोगों के यात्रा-वृत्तांतों और दूर-दूर की यात्राओं के अपने अनुभव पर आधारित हैं।

उन्होंने एथेन्स, स्पार्टा और रोम में मौजूद गणतांत्रिक सरकारों के सार को खोजने और उनका विश्लेषण करने का प्रयास किया है। इन तुलनात्मक अध्ययनों के आधार पर उन्होंने गणतांत्रिक ढंग से सरकारों की सफलता की निम्नलिखित पूर्व स्थिति रखी: सीमित जनसंख्या, लोगों में आर्थिक समानता और नागरिकों में जिम्मेदारियां निभाने की इच्छा उनके विचार में अगर जनसंख्या आदर्श स्थिति से ज्यादा हो जाती है जो सामाजिक एकता चिंताजनक रूप से कमज़ोर होगी। इसी प्रकार नागरिकों के बीच धन और आमदनी का असमान वितरण सामाजिक एकता के लिए समान

रूप से खतरनाक होगा। इस प्रकार की आर्थिक असमानता अंततः गणतांत्रिक सरकार के स्थान पर कुलीनतंत्र को जन्म देगी।

यूरोप की समकालीन राजतंत्रीय व्यवस्था के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि जनसंख्या का छोटा आकार और राजा के प्रति प्रजा की स्वतः स्फूर्त स्वामिभक्ति राजतंत्रीय राज्य-व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करती है। राजतंत्र की सामाजिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए उन्होंने बताया कि कृषि के विस्तार, उद्योग, व्यापार और वाणिज्य ने एक जटिल प्रकृति के सामाजिक वर्गीकरण को जन्म दिया। मोन्टेस्क्यू के अनुसार विभिन्न वर्गों के बीच हितों की लड़ाई ने किसी एक वर्ग को समाज में प्रभावशाली होने से रोका। परिणामस्वरूप नागरिक सबसे अधिक राजनीतिक स्वतंत्रता पाने के योग्य हुए। लेकिन लोगों की संपूर्ण कुशलता का प्रत्येक वर्ग द्वारा अपने हित साधन के निमित्त से इस्तेमाल करने के ज्यादा से ज्यादा प्रयास से हानि होती है, क्योंकि प्रत्येक वर्ग पूरे समाज के हितों को नजरअंदाज कर अपना हित साधना चाहता है। लोगों को सामाजिक जिम्मेदारियों और प्रतिबद्धताओं को स्वीकार करने के लिए इसलिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे राजा के कृपापात्र बनें। उन्हें यह सब समाज की वास्तविक भलाई के लिए नहीं सिखाया जाता।

नोट

उन्होंने पूर्वी निरंकुश तंत्र को यूरोपीय निरंकुशतंत्र की तुलना में आदर्श माना। निरंकुश राजा के प्रति पूर्वी लोगों का रूख, जो भयपूर्ण होने के साथ-साथ आदर भरा भी था और बड़ी जनसंख्या ने पूर्वी देशों में निरंकुशता के जन्म और स्थायित्व में सहायक भूमिका निभाई विभिन्न वर्गों और समुदायों के बीच विग्रह ने निरंकुश राजा के खिलाफ एकताबद्ध लड़ाई को रोका।

आज हम हू-ब-हू उसी लीक पर नहीं चलते जो राजनीतिक व्यवस्थाओं को आदर्श प्रकारों में वर्गीकृत कर या खास-खास प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं के लिए लाभदायक सामाजिक परिवेश की पहचान करते हुए मान्टेस्क्यू ने हमें प्रदान की थी। लेकिन सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के बीच संबंध के विषय में उनका विचार अपने साररूप, में आज भी समान रूप से स्वीकार्य है। उन्होंने इस बात की चर्चा की कि कैसे सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करने से राजनीतिक व्यवस्था बदलती है या फिर इसका उल्टा होता है। उन्होंने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि सामाजिक और आर्थिक शक्तियों की भूमिका को समझे बिना राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति और गहरे अर्थों को नहीं समझा जा सकता। यही कारण है कि राजनीतिक समाजशास्त्र के क्षेत्र में मान्टेस्क्यू को अग्रणी माना जाता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र के क्षेत्र में दूसरे अग्रणी चिंतक टॉकविले (Tocqueville) थे। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के पारस्परिक संबंधों को समझने के लिए मान्टेस्क्यू द्वारा किए गए अनुसंधानों को आगे बढ़ाया। लेकिन उन्होंने अपनी खोज को संयुक्त राज्य अमेरिका तक ही सीमित रखा और तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया। अपनी पुस्तक "द डेमोक्रेसी इन अमेरिका" में उन्होंने उन कारणों को रेखांकित किया जिनकी वजह से अमेरिका में प्रजातांत्रिक संस्थायें सफल हुईं। ऐसा करते हुए उन्होंने अमेरिकी जनता की परंपरा, पर्यावरण की स्थिति, चरित्र, व्यावहारिक पद्धति और नैतिक आदर्श जैसे गैर राजनीतिक तत्वों पर भी विचार किया जिनका देश के राजनीतिक जीवन पर असर पड़ता है। राजनीतिक व्यवस्था पर इन गैर राजनीतिक तत्वों के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए उसने बताया कि अंततः संस्थागत सुरक्षा ही प्रजातंत्र की सफलता का कारण नहीं है। प्रजातंत्र उसी हद तक सफल हो सकता है जिस हद तक लोग प्रजातांत्रिक मूल्यों को समझते हैं और सभी सामाजिक संस्थाओं को उपयुक्त प्रजातांत्रिक चेतना से द्योतित करते हैं। वह आगे जोर देते हुए कहते हैं कि वे संस्थागत व्यवस्थायें जिन्होंने अमेरिका में प्रजातंत्र की सफलता के लिए काम किया दूसरे समाजों में काम नहीं कर पाईं, क्योंकि वहाँ लोगों में प्रजातंत्र के काम करने के लिए आवश्यक तथा उचित गुण विद्यमान नहीं होते हैं। वे यह भी कहते हैं कि संस्थायें एक समाज से दूसरे समाज में, इस आशा से कि वे संतोषजनक ढंग से काम करेंगी, आसानी से बदली नहीं जा सकतीं। आचरण और मूल्यों के नियम, जो प्रजातंत्र की सफलता के लिए काम करते हैं, अंदर से पैदा होते हैं। दूसरे शब्दों में किसी खास तरह की सरकार के सत्ता में आने से पूर्व उपयुक्त ढंग से समाज का रूपान्तरण अपरिहार्य है। टॉकविले ने राजनीतिक समाजशास्त्र की इस बुनियादी मान्यता को सबसे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया।

नोट

राजनीतिक समाजशास्त्र के विषय में सैद्धांतिक और आनुभविक लेखन दो स्पष्टतः भिन्न, परंतु एक दूसरे से कहीं न कहीं मिलती परंपराओं में पाया जाता है।

एक तरफ राजनीतिक समाजशास्त्र बहुत दूर के अर्थों में समाज के संस्थागत क्षेत्रों में सत्ता के सामाजिक आधार का अध्ययन करता है। इस परंपरा के अंतर्गत राजनीतिक समाजशास्त्र सामाजिक वर्गीकरण और संगठित राजनीति में इसके परिणामों का अध्ययन करता है। सामाजिक संगठनों और परिवर्तनों के अध्ययन का यह एक विशेष उपागम है। यह प्रचलित दृष्टिकोण मार्क्स के इस सिद्धांत की देन है कि वे वर्ग-विद्वेष और सामाजिक वर्गीकरण सामाजिक तत्वों से जन्म लेते हैं। तात्पर्य यह है कि वे उत्पादक संबंधों से जन्म लेते हैं जो कि उत्पादक शक्तियों द्वारा पैदा किए जाते हैं। मार्क्स ने राजनीतिक समाजशास्त्र के अध्ययन को सामाजिक संरचना या 'मैक्रो' समाजशास्त्र के अध्ययन के समकक्ष रखा। उनका यह विचार राजनीतिक समाजशास्त्र के व्यवहारिक विश्लेषण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि राजनीतिक व्यवस्था पद्धति या सामाजिक वर्गीकरण को प्रतिबिम्बित करती है।

राजनीति वैज्ञानिकों और समाजशास्त्रियों द्वारा दो आधारों पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण की आलोचना की गई है। प्रथम तो यह है कि यह राजनीतिक घटनाओं को समाजशास्त्रीय घटनाओं का कारण मानता है और दूसरा कि यह विभिन्न प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं के सामाजिक परिवर्तन के कारणों पर विचार करने में असमर्थ है।

वैपरीत्य के रूप में, राजनीतिक समाजशास्त्र को भी संकीर्ण अर्थ में समझा-बूझा जाता है। इस अवधारणा के अनुसार राजनीतिक समाजशास्त्र राजनीतिक समूहों और राजनीतिक नेतृत्व के सांगठनिक विश्लेषण पर केन्द्रित रहता है। इस परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक समाजशास्त्र का केंद्रीय अध्ययन पार्टी संगठन के औपचारिक-अनौपचारिक रूपों का अध्ययन है, जिनका संबंध सरकारी अफसरशाही, न्याय व्यवस्था, हित समूहों और मतदाताओं से होता है। यह संस्थागत या सांगठनिक विचार धारा का रुख है।

मैक्स वेबर के लेखन से राजनीतिक समाजशास्त्रियों ने अधिक स्वायत्त और संस्थागत राजनीतिक विचारधारा के लिए अपना बौद्धिक अभिमुखन हासिल किया। समाजशास्त्री के रूप में वेबर ने एक ऐसी चिंतन धारा अपनाई जो मार्क्सवाद से मिलती-जुलती थी। इसके अनुसार उन्होंने सामाजिक संरचना के बारे में सुसंगत विचार रखे, जो राजनीति के विश्लेषण के आधार थे। पर वह मार्क्स के विचारों से मतभेद रखते थे। उन्होंने कहा कि सामाजिक स्तरीकरण के अंतर्गत आर्थिक संबंध और सामाजिक प्रस्थिति या यूँ कहा जाए कि इज्जत और सम्मान दोनों आते हैं।

"वर्ग, प्रस्थिति और दल" नामक लेख में वेबर ने संकेत दिया कि आधुनिक समाज का उदय सामाजिक और आर्थिक ढाँचे से राजनीतिक संस्थाओं के विलगाव की ऐतिहासिक प्रक्रिया का द्योतक है। अतः राजनीतिक संस्थाएँ .... प्रत्यक्ष समाजशास्त्रीय खोजबीन की योग्यता के साथ अविर्भूत होती हैं क्योंकि वे सामाजिक बदलाव के स्वतंत्र स्रोत हैं।

1.3 संगठन और प्रशासन-तंत्र: वेबर का दृष्टिकोण (Organisation and Administration System: Perspective of Waber)

आज के सभी समाज सांगठनिक समाज हैं, क्योंकि सांगठनिक परिदृश्यों में ही हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अगर हम भारत के किसी छोटे या बड़े शहरी क्षेत्र को देखें तो पाते हैं कि उपरोक्त कथन कितना सही है। हमारे बच्चे शहरों या महानगरों के अस्पतालों में जन्म लेते हैं, विद्यालयों में पढ़ते हैं और प्रकारांतर से सरकारी या निजी संगठनों या खेलकूद वाले संगठनों जैसे अनेक संगठनों-संस्थाओं के सदस्य होते हैं। समय के अनुसार भारत के ग्रामीण क्षेत्र भी इसी का अनुकरण करेंगे जैसा कि सभी उच्च वर्गीय समाजों में होता है। यह द्रष्टव्य है कि संगठन सामाजिक इकाइयों से भिन्न होते हैं। मसलन परिवार, मित्र या नातेदार समूह या समुदाय अपने स्पष्टतः निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध होते हैं।

समाज में जैसे-जैसे श्रम विभाजन बढ़ता जाता है, विभिन्न प्रकार से संगठन भी संख्या और रूप के आधार पर बढ़ते हैं। प्रत्येक संगठन कोई एक या कुछेक काम करता है। कार्यक्षमता के हित में यह जरूरी है कि प्रत्येक

नोट

संगठन एक प्रशासकीय ढाँचा विकसित करे और कुछ नियमों की व्यवस्था करे जिनसे विशिष्ट लक्ष्य पूरे हो सकें। इस प्रकार प्रशासन-तंत्र या अफसरशाही नामक एक विशेष प्रकार का संगठन सामने आता है। अफसरशाही अथवा प्रशासन-तंत्र पर आधारित संगठन आधुनिक औद्योगिक समाज की पारिभाषिक विशेषता बनता जा रहा है। अफसरशाही या प्रशासन-तंत्र के विषय में मैक्स वेबर का विश्लेषण समाजशास्त्र के क्षेत्र में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अध्ययन है।

प्रशासन-तंत्र के विषय में वेबर के विचार को सामाजिक क्रियाओं के संदर्भ में समझने की जरूरत है। यह वेबर का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आचरण को कुछ अर्थ देता है। इसलिए मानवीय क्रियाकलाप उसमें अंतर्निहित अर्थ या उद्देश्य के लिहाज से समझे जा सकते हैं। वेबर ने सामाजिक क्रियाओं के चार प्रकार बतायें हैं। ये हैं: (*i*) उद्देश्य के लिहाज से विवेकपूर्ण कार्य (*ii*) मूल्य के लिहाज से विवेकपूर्ण कार्य (*iii*) आवेगात्मक या भावनापूर्ण कार्य और (*iv*) पारंपरिक कार्य।

वेबर के समकालीन युग की व्याख्या में ही उनके क्रियाकलाप संबंधी विभाजन को समझा जा सकता है। उनके अनुसार जिस दुनिया में हम रहते हैं उसकी मुख्य विशेषता विवेकशीलता है। उदाहरण के लिए आर्थिक उद्यम विवेकपूर्ण है क्योंकि यह मूल्य निर्धारण के उचित मानदंडों को मानता है और उद्यम में निहित विभिन्न कारकों के लाभ-हानि को तोलता है। इसी प्रकार प्रशासन-तंत्र राज्य पर नियंत्रण रखता है। सच तो यह है कि पूरा समाज लक्ष्य की ओर उन्मुख संगठन में विश्वास करता है। "प्रशासकीकरण (ब्यूरोक्रेटाइजेशन) इस प्रक्रिया का प्रमुख उदाहरण है। प्रशासन व्यवस्था पर आधारित किसी संगठन का लक्ष्य स्पष्ट रूप से निर्धारित होता है। यह उन साधनों का उचित मूल्यांकन करता है जिनसे लक्ष्य की प्राप्ति होती है और उन बातों को दूर करता है जो इस लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग में बाधक होते हैं। प्रशासन-व्यवस्था इस प्रकार 'संस्थागत रूप में एक विवेकसम्मत कार्य' है।"

नियंत्रण का एक रूप प्रशासन-व्यवस्था भी है। यह संस्तरण पर आधारित संगठन का द्योतक है जिनमें उच्च व अधीनस्थ पदों पर आसीन लोगों के दायित्व तथा शक्तियां स्पष्टत: निर्धारित होती है। कुछ लोगों का काम आदेश देना है तो कुछ लोगों का काम उनका पालन करना। बड़े आकार के किसी संगठन में कार्यों को समन्वित करने की भी जरूरत होती है। इन सबका मतलब होता है संगठन के निचले ढाँचे पर ऊपर के ढाँचे का नियंत्रण। ऐसे नियंत्रण तभी प्रभावशाली और आसान होते हैं जब उच्च अधिकारियों के सामने स्वैच्छिक आत्मसमर्पण हो। अधिकारियों के सामने लोग सहजतापूर्वक स्वयं मातहत हो जाते हैं। मैक्स वेबर ने वैधता के तीन प्रकार बताए हैं, जो सामाजिक कार्यों से उपजते हैं। इस प्रकार यह पारंपरिक अर्थों से उत्पन्न हो सकता है। ऐसी वैधता, जिसे हम पारंपरिक वैधता कहते हैं, विस्तृत परंपराओं द्वारा स्वीकृत विश्वासों पर आधारित होती है और परंपराओं के आधार पर शक्तिशाली पदों पर आसीन लोग इन अधिकारों का प्रयोग करते हैं। इसी तरह वैधता विवेकसम्मत या तर्कसंगत अर्थों से भी उत्पन्न हो सकती है। ऐसी वैधता को विवेकसम्मत या तार्किक वैधता कह सकते हैं। यह विश्वासों और उन लोगों के अधिकारों को जो कानून द्वार निर्धारित अधिकारों को लागू करवाने के हकदार हैं, प्रतिबिम्बित करती है। एक अन्य प्रकार की वैधता भी है। इसे 'करिश्माई वैधता' कहते हैं ('ग्रेस' या अनुकंपा के लिए प्रयुक्त यूनानी शब्द का पर्याय) जो किसी व्यक्ति के प्रति उसके अनुयायियों की भक्ति-भावना पर निर्भर होता है। उनकी धारणा के अनुसार वह व्यक्ति बेनजीर ताकत, वीरता और दूसरे व्यक्तिगत गुणों से पूर्ण है। इस प्रकार करिश्माई वैधता आवेगात्मक या भावनात्मक क्रियाओं से उद्भूत होती है।

सांगठनिक संरचना वैधता के आधार पर अपना स्वरूप निर्धारित करती है। इस पहलू पर जोर देते हुए मैक्स वेबर ने निम्नलिखित बातें कहीं हैं–"जिस प्रकार की वैधता की माँग की जाती है, आज्ञाकारिता-प्रकार, इसे तय करने वाले प्रशासकीय कर्मचारियों के प्रकार और क्रियान्वित करने वाली सत्ता की पद्धति आदि सभी मौलिक रूप से उसी तरह की भिन्नता दर्शाएंगी।" प्रशासन-तंत्र को समझने के लिए यह जरूरी है कि वैधता के उस रूप को ध्यान में रखा जाए जिस पर यह आधारित होता है।

वेबर ने अधिकार के जिन विभिन्न रूपों की चर्चा की है, वे निम्न प्रकार के हैं–पारंपरिक अधिकार, विवेकसम्मत या तर्कसंगत कानूनी अधिकार और करिश्माई अधिकार। वेबर कहते हैं कि इन आदर्श प्रकारों में से कोई

भी शुद्ध रूप से ऐतिहासिक दृष्टांत में नहीं पाया जाता। हाँ, इनमें से किसी रूप के समान कोई भी उदाहरण अवश्य मिल सकता है।

नोट

प्रशासकीय संगठन का विश्लेषण करते हुए मैक्स वेबर ने प्रशासन-तंत्र के प्रकारों का चुनाव किया है जो विशेष रूप से आकृष्ट करने वाला है। यह विवेकसम्मत या तर्कसंगत वैधता पर आधारित है जो कि सभी अधिकारों का स्रोत है। वेबर ने प्रशासन-तंत्र के संगठन की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है–

(*i*) प्रशासन-तंत्र कानूनन एक संगठन के रूप में सरकारी कार्यों का सतत कार्य-व्यापार है।

(*ii*) एक संगठन के करने लायक जटिल कार्य विभिन्न भागों में बाँट दिए जाते हैं। जो कर्मचारी जिस कार्य में पारंगत होता है उसे उसी की जिम्मेदारी दी जाती है। उदाहरण के लिए सरकारी कार्यों को विभिन्न विभागों में बाँट दिया जाता है, जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि, प्रतिरक्षा आदि। प्रत्येक विभाग में प्रत्येक कर्मचारी की जिम्मेदारी और कार्य सुनिश्चित होते हैं ताकि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकें।

(*iii*) यह अधिकार विभिन्न प्रकार से बंटे होते हैं। जिनसे कार्यालय संबंधी पदों की श्रेणियाँ निर्मित होती है। कुछ कर्मचारियों के पास दूसरों की तुलना में कम नियंत्रण व देखरेख होते हैं।

(*iv*) वेबर कहते हैं, "अफसरशाही या नौकरशाही के प्रशासन" का मतलब है ज्ञान के आधार पर नियंत्रण को लागू करना। यह इसकी विशेषता है जो इसे विशेष रूप से विवेकसम्मत या तर्कसंगत बनाती है।" उन लोगों में कुछ विशिष्ट योग्यतायें होनी चाहिए, जो इस अधिकारों का इस्तेमाल करते हैं। वे प्राय: परीक्षाओं पर आधारित औपचारिक योग्यताओं के आधार पर नियुक्त होते हैं।

(*v*) अफसर (ब्यूरोक्रैट) प्रशासन के उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण नहीं रखते। उन्हें निजी उद्देश्यों के लिए अपने सरकारी पद का इस्तेमाल करने की अनुमति नहीं है। वे सरकारी क्वार्टर या दूसरी ज़रूरी चीजों का नौकरी से बर्खास्तगी या समाप्ति के बाद इस्तेमाल नहीं कर सकते।

(*vi*) प्रशासकीय कार्य लिखित रिकॉर्ड के रूप में होते हैं ताकि उनकी तारतम्यता बनी रहे।

(*vii*) कर्मचारी व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र व्यक्ति होते हैं परंतु उनसे आशा की जाती है कि निर्वैयक्तिक होकर कानूनी तौर पर परिभाषित अपने कार्यक्षेत्र में काम करें। अफसरों के कार्य कानून के अनुसार होते हैं न कि उसके दोस्त तथा मुवक्किल के प्रति भावनाओं के अनुसार। उसके क्रियाकलाप भावुकता पर आधारित होने की अपेक्षा तर्कसंगत होते हैं।

(*viii*) अफसरों को तनख्वाह मिलती है यद्यपि यह वेतनमान के अनुसार होता है। उम्र और अनुभव के आधार पर भत्ता मिलता है और सेवानिवृत्ति के बाद पेंशन दी जाती है।

(*ix*) सामान्यत: अफसरों के पास और कोई नौकरी नहीं होती और अपने पूरे सेवा काल में, जहाँ तक उनके सरकारी कार्यों के संबंधित कर्त्तव्य पालन का प्रश्न है, वे कानून के अनुसार काम करते हैं।

मैक्स वेबर की विवेकसम्मत कानूनी अफसरशाही या प्रशासकीय संगठन को परंपरागत सत्ता के प्रशासकीय संगठन की तुलना में रखकर देखा जाता है। दूसरे मामले में-"आज्ञाकारिता बनाए गए कानूनों से पैदा नहीं होती बल्कि उस व्यक्ति से होती है जो परंपरा के अनुसार एक अधिकारयुक्त स्थान रखता है।" परम्परा प्रमुख क्रियाकलापों और उसके आदेशों में निहित अंतर्वस्तु को तय करती है या फिर उसे स्वतंत्र रूप से काम करने के लिए छोड़ देती है। अपने अनुयायियों का इस्तेमाल करते हुए सत्तासीन व्यक्ति अपने प्रति पारंपरिक रूप से वफादार लोगों को बहाल कर सकता है या फिर उन लोगों को रख सकता है जो पूरी तरह उसके प्रति वफादार हैं।

यद्यपि वेबर प्रशासन तंत्र या अफसरशाही के सकारात्मक योगदान से परिचित थे और जानते थे कि बड़े औद्योगिक समाजों के अस्तित्व के लिए यह अपरिहार्य है। पर वे इसकी सीमाओं से भी अवगत थे। उन्होंने यह बात बताई कि विशेषीकरण जो अफसरी व्यवस्था का मूल है, विशेष कार्य करने की क्षमता को बढ़ा सकता है, पर अफसरों को उनकी स्वत: स्फूर्तता, सृजनात्मकता और व्यक्तिगत पहलकदमी से वंचित कर सकता है। अफसरों के व्यवहार में निर्वैयक्तिता और यांत्रिकता "आत्माविहीन विशेषज्ञों" को जन्म देगा। सावधानी से निरीक्षण करने के लिए प्रशिक्षित होने के कारण और एकदम से अंधे होकर संगठन के नियमों को लागू करने, खासकर सरकारी नियमों को

लागू करने के अधिकार के मद में वे यह बात भूल जाते हैं कि मनुष्य के लिए कानून होते हैं न कि कानून के लिए मनुष्य। वेबर के लिए इसलिए "तर्कीकरण की प्रक्रिया, अफसरशाही या प्रशासन-तंत्र जिसकी प्रमुख अभिव्यक्ति है, मुख्यत: अतार्किक है। यह अंतत: उद्देश्यरहित है क्योंकि यह जीवन को अर्थ और उद्देश्य देने वाले परंपरागत मूल्यों को नष्ट करती है।"

नोट

वेबर ने सरकारी संगठन की अफसरशाही में अंतर्निहित दो खतरों को भी रेखांकित किया है। उनके अनुसार सरकारी कार्यालयों में अफसर शक्ति के अब तक बनाए गए रूपों में सबसे पूर्ण और प्रभावशाली संस्थागत रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऐसी शक्तियाँ अगर अनियंत्रित या अबाध हो तो वे दो कारणों से अवांछित हो सकती हैं। प्रारंभ करते हुए हम कह सकते हैं कि अफसरशाही संकट के समय में अनुपयुक्त है। प्रशासनिक अधिकारियों को प्रक्रिया को लागू करने और विशिष्ट मामलों में कानूनों का अनुप्रयोग करने का प्रशिक्षण दिया जाता है, निर्णय लेने का प्रशिक्षण नहीं मिलता है। संकट का समय अन्वेषण और सुधार की माँग करता है और अगर स्थितियों का तकाजा हो तो यांत्रिक प्रक्रिया को भी खत्म किया जाता सकता है। प्रशिक्षण और स्थिति-निर्धारण के संदर्भ में कहा जा सकता है कि वे जिम्मेदारी से सुसज्जित नहीं हैं। दूसरे, "पूँजीवादी समाज में बड़े अफसर पूँजीपतियों के हितों के दबाव में आ सकते हैं और अपने प्रशासकीय कार्यों को पूँजी के लिए इस्तेमाल होने दे सकते हैं।"

मैक्स वेबर के अनुसार "इन दोनों खतरों को राज्य प्रशासन पर मजबूत संसदीय नियंत्रण द्वारा ही टाला जा सकता है। मुख्य रूप से पेशेवर राजनीतिज्ञों को अफसरशाही के ऊपर प्रत्येक विभाग में उच्च पदों पर होना चाहिए। इससे मजबूत और प्रभावशाली नेतृत्व को प्रोत्साहन मिलेगा क्योंकि राजनीतिज्ञ निर्णय लेने के लिए प्रशिक्षित होते हैं।" अगर राजनीतिक कार्यकारिणी को किसी विभाग का उत्तरदायी बनाया जाता है तो "इससे प्रशासन-तंत्र की गतिविधियां जनता की नजरों के सामने होंगी और इसके व शक्तिशाली हितों के बीच किसी भी सौदेबाजी का पर्दाफाश हो सकेगा। राजनीतिज्ञ जनता के प्रतिनिधि होते हैं और वे जनता की जाँच-पड़ताल व विरोधी पार्टी की आलोचना के दायरे में होते हैं। इसलिए वे लोग अपने कार्यों के प्रति उत्तरदायी होते हैं।"

वेबर शायद इस बात से अनजान नहीं थे कि राजनीतिज्ञ नौसिखिए होते हैं और बहुत क्षेत्रों के बारे में तकनीकी ज्ञान का उनमें बहुत अभाव होता है। इस परिस्थिति में अफसर जो तकनीकी ज्ञान में पारंगत और अनुभवी होते हैं अपने राजनीतिक आकाओं को दिशा-निर्देश दे सकते हैं और यहाँ तक कि उन्हें नियंत्रित भी कर सकते हैं। मैक्स वेबर के शब्दों में-"राजनीतिक स्वामी प्रशिक्षित अफसरों के सामने स्वयं को विशेषज्ञ के सामने प्रशिक्षु जैसा महसूस करता है।"

यांत्रिक और सावयवी संगठन

मैक्स वेबर ने एक आदर्श प्रशासन-तंत्र का चित्र प्रस्तुत करते हुए बताया कि आधुनिक औद्योगिक समाज में सच्चे संगठन इस आदर्श को अपनायेंगे। इसलिए सुझाव है कि आदर्श प्रकार से भिन्नतायें हो सकती है। वेबर ने इस बात पर कोई प्रकाश नहीं डाला कि कैसे और क्यों ये भिन्नतायें होती हैं। इस विशेष विषय पर अमेरिका और इंग्लैंड में कई शोध किए गए हैं। इन शोधों का मोटे तौर पर निष्कर्ष ही है कि वेबर के आदर्श प्रकार (आइडियल टाइप्स) एक खास सांचे में ढली यांत्रिक जिम्मेदारियों वाले प्रशासन के लिए उपयुक्त हैं और यह पूर्व निर्धारित या पूर्व अनुमानित स्थितियों या स्थायी स्थितियों के लिए ही सही है। दूसरी तरफ इस तरफ के प्रशासकीय (नौकरशाही अथवा अफसरशाही पर आधारित) संगठन उन आधुनिक औद्योगिक परिप्रेक्ष्यों के लिए सही नहीं हैं जिनमें तकनीकी और वाणिज्यिक स्थितियाँ व्यावहारिक रूप से बदलती हैं। परिस्थितियों के अनुसार बदलती तकनीकों के कारण अप्रत्याशित हैं। उदाहरण के लिए हम इलेक्ट्रानिक उद्योग को देख सकते हैं, जिनमें नई तकनीकों को इतनी तेजी से अपनाया गया है कि उत्पादन और व्यापारिक क्षेत्रों से जुड़ा कोई भी आदमी दावे से नहीं कह सकता कि कल क्या होगा। इस प्रकार की परिस्थिति में नियमोन्मुखी और संस्तरण पर आधारित वेबर की अफसरशाही अनुपयुक्त होगी।

इन दो परिस्थितियों के लिए उपयुक्त दो प्रकार के प्रशासकीय संगठनों को क्रमश: यांत्रिक और सावयवी कहा गया है। यांत्रिक संगठन बहुत सारे दृष्टिकोणों से मैक्स वेबर के आदर्श प्रकार से मिलते-जुलते हैं। "इसमें एक विशेष प्रकार का श्रम-विभाजन होता है, जिसमें प्रत्येक कर्मचारी के अधिकार और कर्त्तव्य साफ-साफ परिभाषित

होते हैं। विशेष कार्य एक प्रबंधन संस्तरण द्वारा समन्वित होते हैं; जो कार्यों को निदेशित करता है और निर्णय लेता है। संचार मुख्यत: लंबवत होता है। संकेत नीचे की ओर आदेशों की शृंखला में प्रवाहित होते हैं। सूचनाएं ऊपर तक पहुँचने से पहले संस्तरण के विभिन्न स्तरों तक पहुँचती हैं। प्रत्येक व्यक्ति संगठन में अपनी व्यक्तिगत जिम्मेदारी निभाने से ज्यादा किसी भी चीज के लिए जिम्मेदार नहीं होता।"

नोट

दूसरी तरफ सावयवी संगठन में जिम्मेदारियों के क्षेत्र साफ-साफ परिभाषित नहीं होते। जटिल प्रशासकीय ढाँचा और विशेषीकृत श्रम-विभाजन यांत्रिक संगठन में लुप्त हो जाते हैं। व्यक्ति का कर्त्तव्य पूर्व निर्धारित कार्यों को पूरा करने के बजाए संगठन के लक्ष्यों को आगे बढ़ाने के लिए अपनी कुशलता का इस्तेमाल करना होता है। जब कोई समस्या आती है तो जिन लोगों को इसके समाधान के विषय में ज्ञान होता है। वे आपस में मिलकर बैठकर इसका समाधान ढूंढ़ने की चेष्टा करते हैं। पूर्व परिभाषित करने की बजाय समस्या की प्रकृति को ध्यान में रखने से जिम्मेदारियाँ रूपायित होती है। संचार आदेशों के बजाए विचार-विमर्श के जरिए होता है। यह संकेत और निर्णय के बजाए सूचना और सुझाव के रूप में होता है। यद्यपि एक संस्तरण होता है, महत्त्वपूर्ण निर्णयों पर उच्च प्रबंधन का एकाधिकार नहीं होता।

जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है, स्थायी स्थितियों के लिए यांत्रिक संगठन सबसे उपयुक्त है। सावयवी संगठन बदलती परिस्थितियों के लिए उपयुक्त हैं। इस प्रकार के शोध वेबर के मॉडल में परिष्कार और शुद्धता की माँग करते हैं। इनकी प्रासंगिकता इस तथ्य में निहित है कि हम तीव्र परिवर्तनशील दुनिया में रहते हैं। इसलिए ये और इसी प्रकार के परिवर्तनों की आवश्यकता है।

प्रशासन-तंत्र: मार्क्सवादी अवधारणा

मैक्स वेबर के अनुसार प्रशासन तंत्र औद्योगिक समाज की पारिभाषिक विशेषता है चाहे वह समाज पूँजीवादी हो या समाजवादी। यह सवाल कि उत्पादन के साधन पर किसका स्वामित्व है, प्रासंगिक नहीं है। पर मार्क्स प्रशासक तंत्र को पूँजीवादी समाज की अनिवार्य विशेषता मानते हैं। ऐसे समाज में अल्पसंख्यकों का एक छोटा-सा वर्ग उत्पादन की शक्तियों का स्वामी होता है। प्रशासन-तंत्र इस अल्पसंख्यक वर्ग के हाथ में शासक वर्ग की सेवा करने का एक औज़ार है। समाजवादी समाज में जहाँ उत्पादन की शक्तियाँ सामूहिक रूप से अधिकृत होंगी, प्रशासन-तंत्र या अफसरशाही के उस रूप को त्याग दिया जाएगा जिस रूप में यह पूँजीवादी समाज में मौजूद है। लेनिन मानते थे कि 1917 में सोवियत संघ में सर्वहारा का अधिनायकत्व के स्थापित हो जाने के बाद राजकीय: प्रशासन-तंत्र में तेजी से गिरावट आ सकेगी।" वे इस बात के प्रति सचेत थे कि अफसरशाही का कोई न कोई रूप आवश्यक है। लेकिन वे इसे मार्क्स और एंगेल्स के बताए रास्ते पर मोड़ने के लिए इच्छुक थे। इस प्रकार का एक सुझाव था कि प्रशासक सीधे नियुक्त होगा और इसे किसी भी समय वापस बुला लिया जा सकेगा। दूसरा प्रस्ताव था कि प्रशासक की तनख्वाह साधारण मजदूर की तनख्वाह के बराबर होगी। तीसरा प्रस्ताव था कि काम को इतना सरल बना दिया "जाए जिसे पूरा करने के लिए प्राथमिक शिक्षा और संख्याज्ञान पर्याप्त हो।" लेनिन ने एक ऐसा माहौल बनाने की बात सोची जिसमें प्रशासन में बहुत सारे लोग भाग ले सकेंगे क्योंकि सबमें प्रशासन में भाग लेने की योग्यता होगी। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति एक समय अफसर होगा, इसलिए कोई भी अफसरशाही वाली शैली नहीं अपना पायेगा और न ऐसा रूख अख्तियार करेगा।

पर मार्क्स, एंगेल्स या लेनिन ने इस बात की कोई विस्तृत रूपरेखा नहीं दी कि कैसे यह व्यवस्था काम करेगी और वस्तुत: अफसरशाही का जनवादीकरण किस प्रकार होगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि 1917 की रूसी क्रांति के बाद अफसरशाही या प्रशासन तंत्र के ढाँचे को खत्म नहीं किया गया था। इसके विपरीत अफसरशाही को विस्तृत किया गया था। रूसी परिदृश्य के पर्यवेक्षक अफसरशाही ढाँचे के किसी भी तरह के विस्तार और मजबूती को न्यायसंगत बताते हैं और कहते हैं कि केन्द्रीय आर्थिक नियोजन पूरी आबादी के आर्थिक विकास के लिए था, जिसके लिए एक सबल अफसरशाही की आवश्यकता थी। उनका यह भी विचार है कि चूँकि उत्पादन की शक्तियाँ सामूहिक स्वामित्व पर आधारित होती हैं, इसलिए अफसरशाही के कार्य पूंजीवादी समाज से भिन्न होंगे।

नोट

चीन में सांस्कृतिक क्रांति के दौरान माओत्सेतुंग ने प्रयास किया कि मैक्स वेबर द्वारा प्रदत्त आदर्श प्रशासन व्यवस्था को लागू किया जाए। पुनर्संगठन का जो प्रयास किया गया उसे इस प्रकार चित्रित किया जा सकता है–"अधिकारियों के कठोर संस्तरण को खत्म कर दिया जाएगा.... नेतागण रहेंगे परंतु वे आदेश देने के बजाय नेतृत्व करेंगे। श्रम का विशिष्ट विभाजन और जिम्मेदारियों का अलगाव एक ऐसी व्यवस्था के लिए समाप्त हो जाएगा जिसमें "हर कोई सभी चीजों का ध्यान रखेगा।" संगठन के अंदर विशेषज्ञ भूतकाल के व्यक्तित्व हो जाएंगे क्योंकि तकनीकी विशेषज्ञ पूरे जनसमुदाय में समाहित कर दी जाएगी। पूर्णकालिक पेशेवर प्रशासक तिरोहित हो जाएंगे। सभी प्रशासकीय नेतागण अपना कुछ समय फैक्ट्री या खेत में अवश्य लगाएंगे। अंततः निश्चित नियम और कानून वाली अफसरशाही जो अफसरशाही की विशेषता है, को जनसमुदाय को दमित करने वाला बताया जाता है। इसलिए उन्हें जनसमुदाय की आकांक्षाओं के अनुसार बदल देना चाहिए।"

उपरोक्त परिवर्तनों को दो तरह से लागू किया गया: (क) एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित करने की व्यवस्था द्वारा, जिसके अनुसार, नेताओं को पुनः आधार संगठनों में वापस भेजा जाएगा जिससे वे जनसंगठनों की समस्याओं को समझ सकें, (ख) 'समूह आधारित' निर्णय प्रक्रिया द्वारा, जिससे मजदूर स्वयं सीधे फैक्ट्री की निर्णय प्रक्रिया से जुड़ सकें।

ऐसा लगता है कि चीन द्वारा हाल में आधुनिकीकरण करने के निर्णय ने जनवादीकरण की उपरोक्त नीति पर अंकुश लगा दिया है। यह सुझाव दिया गया है कि "माओ का हस्तक्षेप प्रशासन-तंत्र यांत्रिकता के खिलाफ एक करिश्माई पहल था।" जैसा कि मैक्स वेबर ने कहा है कि अगर करिश्माई सत्ता पारंपरिक या विवेकसम्मत-कानूनी अधिकार (सत्ता) में नियमित कर दिया जाता तो सांस्कृतिक क्रांति के प्रयोग निश्चय ही अल्पजीवी होते। कुछ लोगों ने यह टिप्पणी भी की है कि "प्रशासन-तंत्र के गायब हो जाने की मार्क्सवादी भविष्यवाणी एक आदर्शातिरेकी (यूटोपियन) दृष्टिकोण से प्रतिबद्ध विचार है।"

रॉबर्ट माइकेल्स (Robert Michels): जनतांत्रिक संगठन और अल्पतंत्र के लौह कानून

इटली के समाजशास्त्री रॉबर्ट माइकेल्स (1886-1936) ने 1911 में 'पॉलिटिकल पार्टीज' नाम से एक किताब प्रकाशित करवाई। यह यूरोप के समाजवादी दलों, ट्रेड यूनियनों और खासकर जर्मनी के समाजवाद दल का अध्ययन है। ये दल प्रत्यक्ष रूप से अपने उद्देश्यों में पूँजीवाद विरोधी और समाजवाद समर्थक हैं। उनकी गतिविधियों का उद्देश्य अपने-अपने देश में पूँजीवाद का खात्मा और समाजवाद की स्थापना था। ये संगठन उस हद तक जनतांत्रिक या जनवादी होने का भी दावा करते थे जिस हद तक वे अपने सदस्यों की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करते थे। पुस्तक में माइकेल्स ने इनकी गतिविधियों और खासतौर से इनके काम करने के तौर-तरीकों का विश्लेषण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि वास्तविक स्थिति में जनवादी आदर्श कोई महत्त्व नहीं रखता।

माइकेल्स अपना विश्लेषण एक विरोधाभास से शुरू करते हैं। बड़े आकार वाले और बहुत बड़ी जनसंख्या वाले राष्ट्र राज्यों में लोग सत्ता के केंद्र में अपनी इच्छाओं को पहुँचा पाने में तब तक असमर्थ हैं जब तक वे संगठित नहीं हो जाते। माइकेल्स के अनुसार जनतंत्र के लिए संगठन इसीलिए आवश्यक है। जनता निर्णय-प्रक्रिया में स्पष्ट कारणों से सीधे भाग नहीं ले सकती। संख्या रास्ते की रुकावट है। एक या कुछेक के लिए तो क्या 'बहुतों' के लिए भी यह संभव नहीं है, विशेष रूप से तब जब 'बहुत' का मतलब कई सौ हजार या सैकड़ों हजार होता है। एक मात्र रास्ता प्रतिनिधि व्यवस्था को अपनाना है जिसके द्वारा प्रतिनिधिगण जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनकी इच्छाओं को पूरा करते हैं। सिद्धांततः यह व्यवस्था प्रजातंत्र की मांग को पूरी करती है। पर ऐन इस बिंदु पर माइकेल्स यह तर्क देते हैं कि वस्तुस्थिति बिल्कुल अलग है। संगठन, जो लोगों के प्रजातांत्रिक प्रक्रिया में भाग लेने के लिए अपरिहार्य है, जनतंत्र के लिए मौत की घंटी की तरह ध्वनित होता है। सत्ता उनके हाथों में केन्द्रित होती है, जो संगठन के मामलों के प्रभारी होते हैं। यह प्रजातंत्र का विरोधाभास और त्रासदी है जो माइकेल्स की पुस्तक की विषय है। माइकेल्स इस बात का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं कि कैसे अल्पतंत्र जनतंत्र का मुखौटा लगाकर सारी शक्तियों पर एकाधिकार कर लेता है।

नोट

किसी संगठन के प्रारंभिक विकास की अवस्था में बहुत सारे प्रकार्य और पद बराबर होते हैं क्योंकि "धन और शक्ति की विभिन्न मात्रायें विभिन्न पदों से जुड़ी नहीं होतीं।" संगठन के मुखिया और इसके विभिन्न पदाधिकारियों को जो सामाजिक सम्मान मिलता है उनको वे विशेष मान-सम्मान और विशेषाधिकार में बदल नहीं पाते। माइकेल्स के शब्दों में-"मुखिया मूलत: जनता का सेवक होता है।" प्रारंभिक अवस्था में इसके सदस्यों की जनतंत्र और समानता के प्रति दृढ़ आस्था के कारण संगठन या जनतांत्रिक और समानता वाला चरित्र सुनिश्चित होता है। प्रतिनिधियों में क्रमबद्ध बदलाव होता है। वे सामूहिक इच्छाओं के प्रति नतमस्तक होते हैं। सामान्यत: उनके बीच बहुत उच्चस्तरीय भाईचारा मौजूद होता है।

यह स्थिति तभी तक संभव है जब तक (क) संगठन अपने आकार में छोटा हो और (ख) संगठन के प्रकार्य ज्ञान और कुशलता की माँग नहीं करते। यद्यपि चीजें तब बदलनी शुरू हो जाती हैं जब संगठन का बढ़ता दायरा श्रम-विभाजन की जटिलता की ओर अग्रसर होता है जिसमें कुछ जिम्मेदारियाँ विशेष प्रशिक्षण, विशेष प्रकार की कुशलता और एक खास मात्रा में ज्ञान की माँग करती हैं। विशेषज्ञता बहुत जरूरी हो जाती है। "विशेषज्ञ क्रमश: सेवक नहीं बल्कि मालिक लगने लगते हैं और संगठन संस्तरण युक्त तथा प्रशासकीय हो जाता है।" संगठन के बढ़ते दायरे के अनुसार प्रशासकीय कर्त्तव्य और जिम्मेदारी जटिल हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप "यह अब संभव नहीं रहता कि उन्हें सरसरी तौर पर देखा जाए।" समय बीतने के साथ ये जिम्मेदारियां और कर्त्तव्य उनकी समझ से बाहर हो जाते हैं जो विशेषज्ञ नहीं होते। "इस स्थिति को सामने पाकर ट्रेड यूनियन एवं राजनीतिक दलों के सदस्यगण मामलों को अपने नेताओं के भरोसे छोड़ने लगते हैं। अफसरशाही या प्रशासन-तंत्र की कार्यसमितियाँ निर्णय लेने लगती हैं और इस लिहाज से सामान्य सभा गौण हो जाती है। इस प्रकार वह संगठन जो अपने संदस्यों का प्रतिनिधित्व करने के लिए बना था, समाप्त हो जाता है क्योंकि सदस्यगण निर्णय-प्रक्रिया और हिस्सेदारी के दायित्वों से मुक्त हो जाते हैं।" एक दूसरा समानांतर विकास भी होता है। वे व्यक्ति जो मूलत: सामूहिक हितों को पूरा करने के लिए नियुक्त किए गए थे, शीघ्र ही अपने निजी हित विकसित कर लेते हैं जो सामूहिक हितों के विरुद्ध होते हैं। माइकेल्स इसीलिए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संगठन जो प्रजातंत्र को बचाए रखने के लिए बनाए जाते हैं, अपरिहार्य रूप से अल्पतंत्र या गुटतंत्र (ओलीगार्की) पैदा करते हैं जो कि एक छोटे कुलीन वर्ग द्वारा शासन है। यह 'अल्पतंत्र का लौह कानून है'। प्रशासन-तंत्र के ढाँचे की अल्पतांत्रिक प्रकृति को देखते हुए क्या यह कहा जा सकता है कि सदस्यों के विभिन्न हिस्सों के हितों को पूरा किया जा सकता है? माइकेल्स बहुत ही निराशवादी हैं। वे यह तर्क देते हैं कि वे जो अपने पद और स्थान की वजह से संगठन में निश्चित स्थान पाते हैं, क्रमश: अपने स्वार्थ विकसित कर लेते हैं। स्वभावत: ऐसे स्वार्थ संगठन के घोषित उद्देश्यों को खत्म कर देते हैं। इससे संगठन के उद्देश्य बदल जाते हैं, और अंतत: संगठन को बचाए रखना अपने आप में साधन नहीं बल्कि साध्य हो जाता है। संगठन के नेता वैसा कुछ भी करने से बचते हैं जिनसे उनका पद खतरे में पड़ता है इसके बावजूद कि संगठन के उद्देश्य को पूरा करने के लिए ऐसा करना यदाकदा आवश्यक होता है।

नेतागण अपनी सत्ता बनाए रखने में समर्थ होते हैं। ऐसा वे विभिन्न कारणों से करते हैं जिनमें से तीन प्रमुख हैं। प्रथम तो नेतागण अपने अनुभव, निपुणता और अपरिहार्यता को भुनाते हैं जिनसे उनका स्थान सुनिश्चित हो जाए। पुन: वे जी तोड़ प्रयास कर सदस्यों के बीच यह धारणा पैदा करते हैं कि यदि वे संगठन के अधिकारी नहीं रहे तो संगठन को बहुत हानि होगी। दूसरे, सदस्यगण उदासीन रहते हैं और खुशी और राहत महसूस करते हैं यदि दूसरे लोग उनकी जिम्मेदारियाँ अपने कंधो पर ले लेते हैं। उनकी उदासीनता सामान्य सभा में उनकी क्षीण उपस्थिति से जाहिर है। "तीसरे, लोग अक्षम हैं। माइकेल्स इसे जनता की दीर्घकालिक अक्षमता बताते हैं।"

माइकेल्स के अनुसार, नए समाजवादी समाज के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण सबसे कमज़ोर कड़ी प्रशासन की समस्या है। बड़े संगठनों में आवश्यक रूप से कुछेक हाथों में सत्ता का संकेद्रण होगा। मानवीय प्रकृति ऐसी है कि यह छोटा अल्पसंख्यक अपना स्वार्थ विकसित कर लेता है, जो सामूहिकता के खिलाफ है। इतना ही नहीं, वे लोग हर तरह से अपना पद बचाए रखने का प्रयास करते हैं। माइकेल्स इसीलिए यह निष्कर्ष निकालते हैं कि नेता और कार्यकर्ता के बीच झगड़े होते हैं, जो समाज के वर्गीय झगड़े के समान नहीं हैं। माइकेल्स के अनुसार यह प्रक्रिया पूर्ण सामाजिक कानून है। वह कहते हैं, "एक विश्वव्यापी सामाजिक कानून के अनुसार सामूहिकता के

प्रत्येक अंग श्रम-विभाजन के द्वारा अस्तित्व में आए। अपने लिए ही वे सृजन करते हैं और ताकतवर होने की स्थिति में ऐसे स्वार्थों का सृजन करते हैं जो उनके लिए विशिष्ट होते हैं। इन विशेष स्वार्थों की मौजूदगी सामूहिकता के हितों की रक्षा करने की दृष्टि से खतरनाक है और इनके कारण सामाजिक व्यवस्था में अलगाव पैदा हो जाते हैं। काफी समय पश्चात् ये विशिष्ट वर्गों में विभाजित हो जाते हैं।" ऐसा कहते हुए माइकेल्स मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष की अवधारणा का नहीं बल्कि वर्गविहीन समाज के उनके नजरिए का खंडन करते हैं। उन्होंने किसी भी समाजवादी सरकार के सत्ता में आने के पहले ही इतनी महत्त्वपूर्ण टिप्पणी कर दी। समाजवादी जीत सकते हैं, पर समाजवाद नहीं। यह उस समय समाप्त हो जाएगा जिस समय इसके मानने वाले 'विजयी' होंगे। जाइटलिन (Zeitlin) इस संदर्भ में यह कहते है कि "समाजवादी आत्मा पर प्रशासकीय संगठन की जीत अन्तर्राष्ट्रीय एकता के रूप में एक मौलिक समाजवादी सिद्धांत के उल्लंघन के रूप में पहले ही स्पष्ट हो चुकी थी।"

रॉबर्ट माइकेल्स के विचारों, खासकर अल्पतंत्र या गुटतंत्र या कुलीनतंत्र के लौह कानून की तरह एक पूर्ण सामाजिक कानून संबंधी उनके विचारों की विभिन्न कोणों से आलोचना की गई है। प्रथमत: यह सुझाव कि अल्पतंत्र का लौह कानून सभी बड़े संगठनों में काम करता है स्वीकार्य नहीं है। विभिन्न प्रकार के अंतरसांस्कृतिक और यहाँ तक कि संगठनों के अंदर की सांस्कृतिक स्थिति के अध्ययन के बाद यह स्पष्ट होता है कि जनतांत्रिक और गणतांत्रिक दल के अंदर की संरचना इस हद तक विकेन्द्रित है कि कोई भी केंद्रीय नेतृत्व दल के सदस्यों या स्थानीय दल पर अपना मंतव्य थोप नहीं सकता है। स्थानीय स्तर पर दल सदस्य काफी प्रभावशाली और शक्तिशाली हैं, परंतु स्थानीय स्तर पर कोई अल्पतांत्रिक शासन विकसित नहीं हो सकता क्योंकि सदस्य स्वयं विभिन्न गुटों में बंटे रहते हैं।

फिर इस विषय पर माइकेल्स का विचार एकपक्षीय है। उन्होंने सिर्फ सत्ता के दुरूपयोग की संभावना पर विचार किया है और दल के बड़े नेताओं के उस प्रयास के विषय में कुछ भी नहीं कहा है जो वे संगठन के लक्ष्यों को पूरा करने के लिए करते हैं। यह करना उनके अपने हित में है। संगठन के सदस्यों के हृदय में लगातार पलते गुस्से के कारण पार्टी आकाओं के पद खतरे में पड़ सकते हैं। सदस्यों के विद्रोह की संभावना उनके ऊपर नियंत्रण का काम कर सकती है जिससे वे सदस्यों की इच्छाओं के खिलाफ अपने पद का दुरूपयोग नहीं कर सकते।

1.4 राज्य: एक विलक्षण संघ (State: An Astonishing Union)

एकात्मक और संघात्मक इन दो चिंतन-संप्रदायों के विचारकों के बीच राज्य और अन्य संघों के अंतर्संबंधों को लेकर विवाद होते हैं। एकात्मक राज्य के पक्षधर राज्य के लिए निरंकुश सत्ता की माँग करते हैं जबकि संघात्मक विचार वाले लेखक राज्य को अन्य संघों की तरह ही संघ मानते हैं जिसके पास कम कुशलता और सीमित अधिकार होते हैं।

एकात्मवादियों के अनुसार, राज्य एक सर्वोच्च सामाजिक संस्था है और अन्य संघ अपने जन्म, पहचान और नेतृत्व के लिए इस पर आश्रित हैं। वे अस्तित्व में इसलिए हैं क्योंकि राज्य उनको अस्तित्व में रहने की अनुमति देता है। एकात्मवादी दूसरे प्रकार के संघों को मनुष्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक मानते हैं, लेकिन वे अन्य संघों के साथ संबंध के लिहाज से राज्य को विलक्षण या अद्वितीय मानते हैं। इन लेखकों के अनुसार ये संघ राज्य द्वारा निश्चित किए गए निर्देशों और नियमों के अनुसार कार्य करते हैं।

बहुलतावादी (प्लूरलिस्ट्स) इस धारणा को स्वीकार नहीं करते। वे सामाजिक जीवन के नियामक के रूप में राज्य की विशेष भूमिका को स्वीकार करते हैं लेकिन वे इस बात का कोई कारण नहीं देखते हैं कि नियमित करने वाला ही नियमित होने वाले के रूप में देखा जाए। वे एकात्मवादियों के ऊपर आरोप लगाते हुए कहते हैं कि "वे गलत हैं क्योंकि वे राज्य की इच्छा को सर्वोपरि मानते हैं और राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त शक्तियों का ही प्रयोग करते हैं।" वे आगे मानते हैं कि–"दूसरे संघ स्वाभाविक रूप से और स्वत: स्फूर्त ढंग से बनते हैं और अपने विशिष्ट कार्यक्षेत्र में राज्य के नियंत्रण से स्वतंत्र होकर कार्य करते हैं। निजी व्यक्तित्व के विकास के लिए ये दूसरे संघ भी उतने ही जरूरी हैं जितना कि राज्य है। हमारी बहुत सी सामाजिक जरूरतें हैं जो सिर्फ राज्य द्वारा ही पूरी नहीं हो

नोट

सकती हैं। उनकी चुनी हुई सदस्यता की वजह से इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ये संघ ज्यादा अनुकूल हैं।" लास्की ने इसलिए तर्क दिया है कि "राज्य मनुष्य की संघवादी प्रवृत्तियों को समाप्त नहीं करता।" उनकी राय में–"समाज अपनी प्रकृति में आवश्यक रूप से संघीय होता है। दूसरे संघ वास्तविक इस अर्थ में हैं कि राज्य वास्तविक है। इसीलिए राज्य के लिए चर्च और ट्रेड यूनियनों से प्रतियोगिता करना आवश्यक है। जिससे स्त्रियों और पुरुषों की निष्ठा को प्राप्त किया जा सके।" लास्की कहते हैं–"कोई भी संघ मेरे निजत्व की संपूर्णता के लिए कानून नहीं बना सकता।" संघवादी इसलिए निष्कर्ष निकालते हुए यह कहते हैं–"राज्य को इन स्वतंत्र रूप से जन्मे और कार्यरत संघों की तुलना में किसी भी महत्त्वपूर्ण अर्थ में सम्प्रभु नहीं कहा जा सकता।" दूसरे संघ समाज की जमीन के लिए उतने ही अपने हैं जितना राज्य।

इस प्रकार बहुलतावादी सिद्धांत राज्य को गौरवान्वित करने के खिलाफ एक स्वागत योग्य प्रतिक्रिया है। हमें राज्य की इस कमी को स्वीकार करना चाहिए कि "यह अधिक आत्मीय या व्यक्तिगत हितों को, जिनके अंतर्गत भिन्न-भिन्न प्रकार की स्वत: स्फूर्त और स्पंदनशील अभिव्यक्तियां शामिल हों, प्रायोजित नहीं कर सकता। लेकिन किसी को समूह स्वायत्तता की धारणा पर इतना जोर नहीं देना चाहिए। ऐसे कुछ कार्य हैं जिसे सिर्फ राज्य ही कर सकता है। अगर राज्य तीन क्षेत्रों में काम करना बंद कर दे, जैसा कि प्रो. रोस्तो ने कहा है, तो कोई भी नागरिक पूर्ण विकास और सम्मान नहीं पा सकता। इस दृष्टि से राज्य एक "सामुदायिक एजेंसी" जैसा लगता हैं जिसकी जिम्मेदारी विभिन्न संघों के दावों और क्रियाकलापों को समन्वित करना है। यह विशिष्ट कार्य राज्य को एक अनोखा चरित्र प्रदान करता है।"

राज्य और अंतर्राष्ट्रीय समुदाय

मानवता की अभिरूचि समान रूप से सम्प्रभुता को सीमांकित करने की माँग करती है। एक पूर्ण और सम्प्रभु राज्य की धारणा यह इंगित करती है कि एक राज्य दूसरे राज्य के साथ अपनी मर्जी से व्यवहार कर सकता है। यह अधिकार किसी राष्ट्र के उस अधिकार से संबद्ध है जिसके अनुसार वह दूसरे देश से मतभेदों व अन्तर्विरोधों को हल करने के लिए लिए युद्ध कर सकता है।

आधुनिक विश्व के संदर्भ में यह अधिकार मान्य नहीं है। सर्वप्रथम तो वैज्ञानिक विकासों और तकनीकी प्रगति ने दूरियाँ खत्म कर दी हैं और "एक राष्ट्र पर दूसरे राष्ट्र की निर्भरता को बढ़ा दिया है।" हमने उस समय को बहुत पीछे छोड़ दिया है जब राष्ट्र अपनी मर्जी से अलगाव में रह सकते थे। इसके विपरीत हम आज "एक ही दुनिया" में रहते हैं जिसमें एक देश की आर्थिक मंदी पूरी दुनिया की आर्थिक खुशहाली को प्रभावित कर सकती है। यहाँ तक कि फैशन या वेशभूषा में परिवर्तन (ज़ैसे एक देश के पहनावे में परिवर्तन) दूसरे देश में अविश्वसनीय रूप से कम समय में ही मशहूर हो सकता है। इन आर्थिक और सामाजिक यथार्थों से यह स्पष्ट होता है कि हमें एक विश्व-दृष्टि विकसित करनी चाहिए और मानवता के किसी भाग के लिए नहीं, बल्कि पूरी मानवता के लिए योजना बनानी चाहिए। सहकारी प्रयत्नों द्वारा हम बहुत कुछ पा सकते हैं। तेजी से सिमटती हुई इस दुनिया में हम कुछ हासिल कर विभाजन के झगड़ों को अपेक्षाकृत बहुत कम कर सकते हैं। दूसरे, किसी राज्य द्वारा सम्प्रभु शक्ति का असीमित प्रयोग पूरी दुनिया की सुरक्षा के लिए खतरा है, क्योंकि कुछ राज्यों के पास अत्यधिक विनाशकारी अत्याधुनिक हथियार हैं। युद्ध किसी प्रकार शांति नहीं ला सकता। इसे अब एक युक्तिसंगत विकल्प नहीं माना जा सकता। "इस युग में यह अब कोई अर्थ नहीं रखता जब आणविक आदान-प्रदान द्वारा घातक विष हवा और जल के सहारे सुदूर दुनिया के कोने-कोने में फैल जाएगा और अजन्मी पीढ़ियाँ इसके प्रभाव से अछूती नहीं रहेंगी।" एक आणविक दुर्घटना बड़े और छोटे, अमीर और गरीब, प्रतिबद्ध और गैर प्रतिबद्ध, विजेता और विजित सबको खा जाएगी। आज की सैन्य वास्तविकताओं के सामने सचमुच कोई भी देश सुरक्षित नहीं है। "अस्त्र-शास्त्रों की भयावह दौड़ में किसी राष्ट्र की सुरक्षा उस देश के हथियारों में वृद्धि होने के बावजूद संदिग्ध है।" इसीलिए एक राष्ट्र-राज्य के हितों को मानवता के हितों का अनुगामी होना चाहिए। लास्की के शब्दों में–"हमारी समस्या मानवता के हितों को इंग्लैंड के हितों से जोड़ना नहीं है। हमारी समस्या यह है कि हम किस प्रकार कार्य करें कि इंग्लैंड के हित स्वभावत: पूरी मानवता के हितों के द्योतक बन जाएँ।" दूसरे शब्दों में हमें विभिन्न राष्ट्रों के एक अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के अस्तित्व को मान्यता देनी चाहिए जिसका प्रत्येक राष्ट्र-राज्य एक हिस्सा हो। यह एक सचाई है जिसे हम सिर्फ अपनी बर्बादी की स्थिति में ही अनदेखा कर सकते हैं।

1.5 आदिम और आधुनिक समाजों में राजनीतिक संस्थाएँ (Political Parties in Ancient and Modern Society)

नोट

इस प्रकार की सरकारों से दु:खी होकर जो लोगों के न्यायपूर्ण अधिकारों तथा स्वतंत्रता का हनन करती हैं, अनेक लोगों ने राजनीतिक संस्थाओं को ही पूरी तरह समाप्त करने का सपना देखा। उन लोगों ने यह माना कि चूँकि सरकार कोई प्राकृतिक संस्था न होकर मनुष्य द्वारा रचित-निर्मित और उसके स्वीकार करने की इच्छा पर आश्रित संस्था है, इसे समाप्त करना आसान है जिससे लोग अपनी स्वाभाविक इच्छाओं को पूरा कर सकें और अपनी सच्ची खुशी पा सके। इस प्रकार के अराजकतावादी तर्कों ने इतिहास के हर काल में अगणित लोगों को प्रभावित किया। लेकिन यह विचार हमेशा एक प्रेरणा रहा। अब इसके बारे में सर्वव्यापी विचार यही है कि यह विचार एक कोरी कल्पना है।

कुछ आदिम समाजों में राजनीतिक संस्थाओं की पूर्ण अनुपस्थिति के विषय में लोगों के विचारों को देखकर राज्यविहीन समाज की धारणा और भी मजबूत हुई। पर बात एकदम सटीक नहीं है। यह सच है कि आदिम समाज में कानून नहीं था, कचहरी या विधायिका नहीं थी और कार्यपालिका उस रूप में नहीं थी जिस रूप में यह हमारे आज के अपने जटिल समाज में दिखाई देती है तो भी आदिम समाज का एक गंभीर पर्यवेक्षक यह देखने से चूका नहीं कि उस समय भी राजनीतिक नियंत्रण की जरूरत थी जिसे गैर राजनीतिक चरित्र वाली संस्थाए पूरा करती थीं।

राजनीतिक नियंत्रण की आवश्यकता सामाजिक जीवों के लिए विश्वव्यापी विशेषता क्यों है? क्या सामाजिक नियंत्रण की गैर राजनीतिक संस्थाएं सामाजिक कानूनों की दृष्टि से समय-समय पर होने वाली हिंसा को रोकने की दृष्टि से अपर्याप्त हैं? उत्तर स्पष्ट रूप से नकारात्मक है। ऐसे कुछ लोग सभी प्रकार के समाजों में होते हैं, जो बार-बार सामाजिक मानदंडों को तोड़ते हैं और सामाजिक दबावों के समक्ष नहीं झुकते। उनके मामलों में सामाजिक मानदडों को लागू करना पड़ता है। अत: राजनीतिक नियंत्रण अवश्यंभावी हो जाता है क्योंकि यह न केवल अधिकार है बल्कि अंतिम अधिकार है जो हमेशा, जब जरूरी हो, बलप्रयोग का समर्थन हासिल करता है। कोई भी समाज अत्यंत गंभीर मामलों में शक्ति के प्रयोग की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसलिए राजनीतिक संस्था आवश्यक और अपरिहार्य है।

राज्य के अभ्युदय के बारे में इस प्रकार्यात्मक व्याख्या के अलावा दो और व्याख्याएं हैं। यह तर्क दिया जाता है कि राजनीतिक संस्थाएं समाज की बढ़ती जटिलता और इसके वस्तुत: बढ़ते आकार का परिणाम है, जिसमें युद्ध एक प्रमुख कारक रहा है। उदाहरण के लिए ओपनहाइमर ने राज्य के अभ्युदय को-"एक कबीले द्वारा दूसरे कबीले पर विजय पाने और उसे गुलाम बनाने" की प्रवृत्ति से जोड़ते हुए अपना विचार प्रतिपादित किया है। दूसरी तरफ मार्क्सवादी सिद्धान्त उत्पादन के साधनों और धन के कारण समुदाय के अंदर होने वाले विभेदों को राज्य के उदय का कारण बताता है। कोई भी व्याख्या क्यों न हो, सच यही है कि आदिम और पहले के समाज की एक विशिष्ट व्यवस्था के रूप में जहाँ कहीं भी एक अलग राजनीतिक सत्ता अस्तित्व में थी, यह वंश, धर्म और दूसरी संस्थाओं से घनिष्ठ रूप से जुड़ी थी।

राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति के अनुसार आदिम समाज दो प्रकार के थे-(*i*) वे जिनकी राजनीतिक संरचना स्पष्ट है (*ii*) वे जिनकी राजनीतिक संरचना स्पष्ट तो है, परंतु नातेदारी और धर्म से बहुत हद तक प्रभावित है।

आधुनिक काल की राजनीतिक संस्थाएं

बोटोमोर ने समकालीन दुनिया में तीन प्रकार की राजनीतिक स्थितियों को अभिन्न माना है।

प्रथम, मुख्य रूप से अफ्रीका के देशों में मौजूद आदिवासी या जनजातीय समाज हैं, जिन्हें पश्चिमी राजनीतिक संस्थाओं की नीतियों के आधार पर और पाश्चात्य प्रभाव के आलोक में आधुनिक बनाया जा रहा है। यह कहना कठिन है कि इस प्रकार के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया जनजातीय झगड़ों को रोकने में और राष्ट्रीय एकता और अखंडता को एक मजबूत बुनियाद प्रदान करने में किस हद तक कामयाब होगी। औपनिवेशिक शक्तियों की आवश्यकता और सुविधा के अनुसार अफ्रीका को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट दिया गया। परिणामस्वरूप एक विशेष जन-जाति की अस्मिता यूरोप की विभिन्न औपनिवेशिक शक्तियों के बीच तीन या चार पड़ोसी राज्यों में विभक्त हो गई। इससे राष्ट्र-राज्यों के बीच तनाव उत्पन्न हो गया और अस्थिरता पैदा हो गई। इस प्रकार अफ्रीकी समाज ने

नोट

जनसंख्या के विशाल हिस्सों के त्वरित आर्थिक विकास और उनको बेहतरी प्रदान करने जैसी चुनौतियों का सामना किया। आदिवासी समूहों से निर्मित राष्ट्रीय समुदायों को सुदृढ़ करने के कठिन सवालों का भी जिनका अस्तित्व उनके ही सीमावर्तियों के बीच व्याप्त है और औपनिवेशिक शक्तियों के बीच अफ्रीका के एकतरफा बँटवारा के कारण पैदा हुए थे, अफ्रीकी समाज ने सामना किया।

दूसरी समस्या उन पुरानी सभ्यताओं वाले विकासशील देशों में एक अन्य प्रकार की राजनीतिक स्थिति के कारण पैदा हुई है जो अपने समाजों को विदेशी राज से मुक्ति के बाद आधुनिक बना रहे हैं। अफ्रीका के नव-स्वतंत्र राज्यों के अलावा जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, मध्य पूर्व के अरब राज्य, उत्तरी अफ्रीका, एशियाई देश और लैटिन अमरीकी देश इस वर्ग के अंतर्गत आते हैं।

ऐसी कुछ राजनीतिक स्थितियाँ और समस्याएं भी हैं जो सभी देशों में नहीं तो अधिकांश विकासशील देशों में निश्चित रूप से पाई जातीं हैं। इनमें से कुछ समस्याएं हैं–(*i*) पाश्चात्य राजनैतिक संस्थाओं के आधार पर बिल्कुल नए प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना, (*ii*) तीव्र आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त सरकारी तंत्र का गठन, (*iii*) यथाशीघ्र जन सामान्य के जीवन-स्तर को सुधारने के उपाय।

ये विकासशील देश उपरोक्त कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के सिलसिले में बहुत सारी समस्याओं का सामना कर रहे हैं। इन देशों की अधिकतर राजनीतिक संस्थाएं, जो पश्चिमी प्रभाव के सांचे में गठित की गई हैं, ठीक से काम नहीं कर रही हैं, क्योंकि इन देशों की जनता उपयुक्त राजनीतिक संस्कृति विकसित नहीं कर पाई है। वंशगत व्यवस्था, पारिवारिक रिश्तों के बंधन, वर्ग-विभाजन और सबसे बढ़कर जीवन के बारे में पारंपरिक विचार आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था के सुचारू रूप से परिचालन के लिए अनुकूल नहीं हैं। ये तत्व 'कार्य संस्कृति' विकसित करने के लिए भी अनुकूल नहीं है। इनके परिणामस्वरूप आर्थिक विकास अवरुद्ध हो रहा है। जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने में सरकार की असफलता सेना प्रमुखों या महत्वाकांक्षी राजनीतिक नेताओं तथा राजनीतिक संस्थाओं को दरकिनार कर अधिनायकवादी शक्ति ग्रहण करने की प्रवृत्ति दर्शाती है। बंगलादेश, पाकिस्तान, बर्मा, और अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के बहुत सारे देश इस प्रकार के विकास के उदाहरण हैं।

तीसरी श्रेणी में यूरोप, उत्तरी अमेरिका, आस्ट्रेलिया, जापान हैं। इस श्रेणी के अंतर्गत आने वाले देशों में दो तरह की राजनीतिक व्यवस्था है। अतः प्रजातांत्रिक-पूंजीवादी या प्रजातांत्रिक-समाजवादी देश एक तरफ और साम्यवादी देश दूसरी तरफ हैं।

पहली कोटि के आधुनिक औद्योगिक देशों की सामान्य राजनीतिक विशेषताएं इस प्रकार हैं: (*i*) एक राजनीतिक समुदाय के रूप में राष्ट्र-राज्य का अस्तित्व, (*ii*) राजनीतिक पार्टियों, दबाव समूहों और राजनीतिक आंदोलनों का अस्तित्व, (*iii*) वयस्क मताधिकार के आधार पर राजनीतिक कार्यपालिका का गठन, (*iv*) वृहद नौकरशाही द्वारा सार्वजनिक मामलों का प्रशासन।

दूसरे प्रकार के औद्योगिक समाजों की सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्था एक दल का अस्तित्व है जो राजनीतिक सत्ता पर एकाधिकार रखता है। "मार्क्सवादी सिद्धांत के आधार पर इस स्थिति को न्यायोचित ठहराया जाता है। क्योंकि यह परस्पर विरोधी सामाजिक वर्गों के अधिनायकवाद की अभिव्यक्ति है। संक्रमण के दौर में पार्टी के अधिनायकवाद को सर्वहारा अधिनायकवाद के समतुल्य माना जाता है। इस दौर में अंतिम रूप से वर्गविहीन समाज की बुनियाद रखी जाती है।" मार्क्सवादी सिद्धांत के आधार पर कहा जाता है कि वर्गविहीन समाज की स्थापना के बाद राज्य तिरोहित हो जाएगा। पर साम्यवाद के सिद्धांत और व्यवहार की बहुत आलोचना हुई है। यह कहा जाता है कि साम्यवादी समाजों में राज्य उत्पीड़क प्रवृत्ति काफी बढ़ जाती है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता की प्रक्रिया और अभिव्यक्ति की अबाध स्वतंत्रता को नष्ट कर देती है। सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में विरोधी विचारों को दबाने की घटना इस नकारात्मक प्रगति के उदाहरण हैं। विशेषकर पूर्वी यूरोप के देशों में शक्ति के अति केन्द्रीकरण के खिलाफ बार-बार आवाज उठाई गई है। युगोस्लाविया में राजनीतिक सत्ता को विकेन्द्रित करने की कोशिश की गई। "सबसे रूढ़ व पारंपरिक मार्क्सवाद के खिलाफ सबसे बड़ी आलोचना यह है कि यह सारे सबूतों को नकारते हुए मानता है कि राजनीतिक सत्ता हमेशा आर्थिक सत्ता पर आधारित होती है या हो सकती है पर वैज्ञानिक तथा सटीक दृष्टिकोण से आर्थिक सत्ता का विश्लेषण करने में यह हमेशा असफल हो जाता है.....। आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के बीच कार्य-कारण संबंध की जड़ अठारहवीं शताब्दी के नागरिक समाज और राज्य के बीच विभेद में तलाशी जा सकती है। यह सामाजिक चिंतकों की इस धारणा से भी स्पष्ट होता है कि प्रारंभिक औद्योगिक विकास के दौर में राजनीतिक नियमन ने तेजी से आर्थिक मुक्ति के द्वारा खोले। लेकिन व्यापक आर्थिक परिप्रेक्ष्य में दूसरी संस्थाओं पर आर्थिक

ढाँचे के महत्त्वपूर्ण प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी हमें राजनीति की आपेक्षिक स्वायत्तता स्वीकार करनी होगी।" साम्यवादी देशों में दूरगामी महत्त्व वाली बात चीन में हुई जहाँ निजी उद्यमियों को कृषि और उद्योग दोनों महत्त्वपूर्ण आर्थिक क्षेत्रों में प्रमुख भूमिका निभाने की जिम्मेदारी सौंप दी गई।

सोवियत रूस और पूर्वी यूरोप के देशों में 1989 के बाद जो घटनाएँ हुई उन्होंने यह साबित कर दिया कि साम्यवादी दल के पदाधिकारियों के हाथ में सत्ता दे देना भर बहुसंख्य लोगों के लिए शोषण के अंत और स्वंतत्रता का आश्वासन नहीं होता।

नोट

1.6 परम्परागत और आधुनिक भारतीय समाज में लोकतांत्रिक राजनैतिक व्यवस्था और संरचना (Democratic Political System and Structure in Traditional and Modern Indian Society)

विस्तृत अर्थ में, लोकतंत्र न केवल राजनैतिक अवधारणा दर्शाता है बल्कि समाज की एक जीवन शैली भी दर्शाता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को समाज की संरचनाओं और संस्थाओं में उसकी स्वतंत्र भागीदारी के संदर्भ में समानता का अधिकार होता है। संकीर्ण अर्थ में लोकतंत्र का अर्थ है जीवन के सभी क्षेत्रों में समाज के सभी सदस्यों को आजादी से वे निर्णय लेने के अवसर मिलना जो उनके जीवन को व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से प्रभावित करते हैं। संकीर्णतम (restricted) अर्थ में, लोकतंत्र शब्द राज्य के नागरिकों को राजनैतिक निर्णयों में स्वतंत्रतापूर्वक भागीदारी के अवसर मिलने से है। इस प्रकार लोकतंत्र समतावादी (equalitarian) समाज की स्थापना का प्रयत्न है।

लोकतंत्र के विविध प्रकार हैं: राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक। राजनैतिक लोकतंत्र वयस्क मताधिकार (adult franchise) तथा अपनी पसंद के नेतृत्व के चुनाव तक ही सीमित है। सामाजिक लोकतंत्र का उद्देश्य वर्गहीन और जातिहीन समाज की रचना करना तथा सामाजिक स्तरीकरण और पूर्णग्रहों को तोड़ना है। आर्थिक लोकतंत्र कल्याणकारी राज्य पर बल देता है और धन के केन्द्रीयकरण और आर्थिक विषमताओं के विरुद्ध विद्रोह करता है। नैतिक लोकतंत्र का झुकाव प्रचलित अभिवृत्तियों के अनुस्थापन तथा सही और गलत व्यवहार की अवधारणा के साथ विचार करने की ओर है। लोकतंत्र के पीछे मित्रभावना, भ्रातृत्व और सद्व्यवहार का दर्शन काम करता है।

प्राचीन भारत में लोकतंत्र (Democracy in Ancient India)

ऋग्वेद लोकतांत्रिक सिद्धांतों और आदर्शों के प्रति इतना अधिक प्रतिबद्ध है कि इसमें लोकतंत्र को एक देवता (deity) माना गया है और इसे 'समजन' कहा गया है। इस शब्द का अर्थ है लोगों की सामूहिक चेतना तथा राष्ट्रीय मन (mind) जिसके प्रति व्यक्ति का मस्तिष्क श्रद्धानत होता है क्योंकि इसी स्रोत से वह शक्ति प्राप्त करता है। 'समजन' को संबोधित स्तुति गान (ऋग्वेद) में लोगों से कहा गया है कि वे एक सभा में एकत्र हों (संगच्छध्वं) और वहाँ एक स्वर में बोलें (सम्वदध्वम्), मन एक हो (सम्मनः), चित्त एक हो (समचित्तम) एक ही नीति हो (समानमंत्राह) और आशाओं व आकांक्षाओं में एक हों (आकूति)। इस प्रकार लोकतंत्र अपने नागरिकों की आंतरिक एकता व उनकी भावात्मक एकता पर निर्भर माना जाता था। लोकतांत्रिक सिद्धांत सार्वजनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों–राजनैतिक सामाजिक और सांस्कृतिक–में कार्य करते थे। वैदिक युग में लोकतांत्रिक परंपरा युगों से भारतीय राजनीति की समूची वृद्धि को संचालित करती थी। जहाँ राजतंत्र (monarchy) था वहाँ यह सीमित (limited) संवैधानिक राजतंत्र था जिससे राजतंत्र का स्वरूप मूलरूप में लोकतांत्रिक ही रहा। यह विकेन्द्रीयकरण या स्थानीय स्वायत्तता (autonomy) पर निर्भर था। लोग निम्नलिखित उपयुक्त संघ और समूह आरोही क्रम (ascending order) में स्वशासन में अपने अधिकारों का प्रयोग करने के लिए बना लेते थे; कुल (clan), जाति (caste), श्रेणी (guild), पुर (pura or village community), और जनपद (the state)। प्रत्येक समूह के अपने नियम और कानून होते थे। प्रत्येक अपने स्तर पर स्वशासन लोकतंत्र के लिए करता था। प्राचीन भारत में कुछ जनपद तो स्वरूप में गणतंत्र जैसे होते थे और कुछ में राजतंत्रीय संगठन होता था। लेकिन प्रायः प्रत्येक में एक समिति आधुनिक संसद का पूर्व स्वरूप होती थी जिसमें ऊँचे और नीचे लोग राज्य के मामलों पर निर्णय लेने के लिए उपस्थित होते थे। आर.के. मुकर्जी (R.K. Mukerjee, Glimpses of Ancient India, Bhartiya Vidya Bhawan Bombay, 1961 : 42) ने उल्लेख

नोट

किया है: "राजतंत्र के साथ-साथ नियमित गणतांत्रिक प्रकार की राजनीति भी विकसित हुई जिनकी झलक विविध साहित्यक पुस्तकों–ब्राह्मण, बौद्ध और जैन में मिलती है। महाभारत में भी कुछ गणराज्यों का उल्लेख है जो 'संघटगण' कहलाते थे। पाँच गणराज्यों (republican unions) को अंधक, वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज कहा जाता था। इनको मिलाकर एक संघ बना हुआ था जिसका अध्यक्ष संघ मुख्य होता था। इसी तरह महाभारत में 'गण' (republics) का उल्लेख है जिसका शासन नेताओं की समिति 'गण मुखियाओं' द्वारा होता था। इन सभी गणों में पूर्णरूपेण लोकतांत्रिक संविधान होता था। प्रत्येक में एक परिषद् (assembly) होती थी।"

जैन और बौद्ध मूलग्रंथों में भी अनेक पूर्व गणराज्यों और कुछ गणराज्यों के परिसंघों, जैसे 'वृजि' जिसमें नौ मल्लकी, नौ लिच्छिवी तथा काशी–कौशल के अठारह गणराज्य तथा अन्य राज्य शामिल थे, का उल्लेख पाया जाता है। यह उल्लेख भी किया गया है कि महावीर स्वामी की मृत्यु पर इसी वृजि परिसंघ के 36 गणराज्यों द्वारा उनकी अंत्येष्टि पर अग्नि प्रज्वलित कर श्रद्धांजलि अर्पित की गई थी। उन दिनों लिच्छिवी सुपरिचित गणराज्य था जिस पर 7707 राजाओं की समिति शासन करती थी जो संवैधानिक रूप से सम्राट होते थे। सख (Sakha) गणराज्य प्रसिद्ध है। इसी ने संसार को बुद्ध जैसा महापुरुष दिया। इस गणराज्य में लगभग 80,000 घराने थे जो गणराज्य के अंग थे जिसमें एक अध्यक्ष या राजा सहित 500 सदस्यों की परिषद् या संसद थी। बौद्ध युगीन कुछ प्रसिद्ध गणराज्य थे: वैशाली, पवा, मिथिला आदि। परिषद् विधानसभा का काम करती थी। उनके निर्णयों का क्रियान्वयन करने के लिए विविध प्रकार की न्यायपालिकाएँ तथा कार्यपालिकाएँ भी होती थीं। केवल एक प्रमुख चुना जाता था जो परिषद्/राज्य की अध्यक्षता करता था। उसे 'राजा' पदनाम दिया गया था।

यह कहा जाता है कि प्राचीन भारत में लोग लोकतांत्रिक तरीके से रहते थे, यद्यपि राजनैतिक लोकतंत्र अपने पूर्व स्वरूप में विद्यमान् नहीं था। राजतंत्र भी लोकप्रिय था।

छठी शताब्दी के बाद लोकतांत्रिक संगठनों का पतन शुरू हो गया। राजा और सम्राट लोग युद्धों में व्यस्त रहने लगे। देश की एकता और अखण्डता को बनाए रखने के लिए क्योंकि कोई शक्तिशाली राजा नहीं था, परिणामत: समूचे देश में बड़ी संख्या में राज्यों का उदय हो गया। आठवीं शताब्दी में आगे मुसलमानों ने आक्रमण शुरू कर दिए; अंततः बारहवीं शताब्दी में उन्होंने अपना शासन स्थापित कर ही लिया। मुस्लिम शासक निरंकुश (autocratic) थे।

ब्रिटिश शासन लोकतंत्र के विरुद्ध था। भारत सरकार के अधिनियम, 1935 ने भारत में लोकतंत्र शासन की नींव रखी। कांग्रेस 1935 से 1937 तक दो वर्ष के लिए ही सत्ता में रही। 1940 से 1945 तक ब्रिटिश सरकार द्वितीय विश्वयुद्ध में ही फँसी रही। 1946 से भारत को स्वतंत्रता प्रदान करने के प्रयास प्रारंभ हुए और 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्र भारत के संविधान में लोकतंत्र को ही देश में शासन का आधार बनाया गया।

आधुनिक भारत में लोकतंत्र (Democracy in Modern India)

आधुनिक भारत में लोकतंत्र कुछ सिद्धांत पर आधारित है: (1) कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सामर्थ्य, योग्यता और प्रतिष्ठा होती है, (2) कि प्रत्येक व्यक्ति में दूसरों के साथ अपने जीवन को चलाने और सीखने की क्षमता है, (3) कि हर व्यक्ति को बहुसंख्यकों के निर्णय को मानना चाहिए, (4) कि प्रत्येक व्यक्ति का निर्णय-निर्धारण में हिस्सा होना चाहिए, (5) कि लोकतांत्रिक कार्यवाही का नियंत्रण और निर्देशन स्थिति में निहित है, न कि इसके बाहर, (6) कि जीवन की प्रक्रिया अंतर्क्रियात्मक (interactive) है और सभी व्यक्ति सामान्य रूप से मान्यता प्राप्त उद्देश्यों के लिए कार्य करते हैं, (7) कि प्रजातंत्र व्यक्तिगत अवसरों और व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों पर टिका होता है।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत ने लोकतंत्रीय राजनैतिक व्यवस्था अपनाने का निश्चय किया। इस व्यवस्था की तीन विशेषताएँ हैं: प्रथम-इसमें उच्च कोटि की स्वायत्तता होती है; द्वितीय-आर्थिक कार्यकर्ता और धार्मिक संगठन राजनैतिक हस्तक्षेप से मुक्त रहते हैं; तृतीय-विभिन्न व्यवस्थाओं की प्रतिस्पर्धा अखण्डता के लिए खतरा नहीं होती बल्कि सहायक होता है। कुछ लोग मानते हैं कि इंदिरा गांधी का शासनकाल-जनवरी 1966 और अक्टूबर 1984-(मोरारजी देसाई और चरणसिंह के तीन साल छोड़कर) लोकतांत्रिक नहीं था बल्कि अधिकारिक शासनकाल रहा, जिसकी तीन विशेषताएँ थीं: (1) इसमें प्रमुख सत्ताधीशों के प्रति आज्ञाकारी होना आवश्यक था, (2) इसमें सार्वजनिक आलोचना और संगठित विरोध को दबाया जाता था (दो वर्ष के लिए आपातकाल की घोषणा से, (3) स्वायत्तशासी संगठनों पर इसकी अधिक पकड़ थी।

1.7 राजनैतिक अभिजनः भर्ती और सामाजिक परिवर्तन में उनकी भूमिका (Political Elite: Recruitment and Role in Social Change)

नोट

अभिजन (अथवा संभ्रांतजन अथवा एलीट) कौन हैं? अभिजन समाज में सर्वाधिक प्रभावशाली और प्रतिष्ठावान स्तर (stratum) है। 'अभिजन' में वे लोग आते हैं जो किसी क्षेत्र में श्रेष्ठ नेता माने जाते हैं। इस प्रकार, राजनैतिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, व्यापारिक, कला आदि क्षेत्रों में अभिजन होते हैं। अनेक समाजशास्त्रियों (Pareto, Mosca, C. Wright Mills, Lasswell, Mannheim, Bottomore) ने इनकी अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। पेरी गेरियन्ट (pary Gariant, Political Elite, George Allen and Unwin, London, 1969) ने अभिजन की परिभाषा इस प्रकार दी है: "कुछ अल्पसंख्यक जो विशिष्ट क्षेत्रों में समाज के मामलों में अद्वितीय प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं।" बैंक (Bank, Elite in the Welfare State, 1966) ने अभिजन को "निर्णय करने वाले व्यक्ति जिनकी शक्ति समाज की अन्य किसी भी संख्या के नियंत्रण से परे है" कहा है। नैडेल (Nadel, International Social Science Bulletin, 1956) का मानना है कि अभिजन वे लोग हैं "जिनका उनकी श्रेष्ठता के कारण समाज के भाग्य पर प्रभाव रहता है।" अभिजन समाज के मूल्यों एवं अभिवृत्तियों को बनाने में महत्त्वपूर्ण प्रभाव रखते हैं। सी. राइट मिलस (C. Wright Mills, Power Elite, 1956) ने उनका वर्णन करते हुए कहा है। "वे लोग जो प्रमुख परिणामों वाले निर्णय करते हैं, जो अपनी इच्छाओं को साकार करने में समर्थ हैं, और जिनके पास वह सब कुछ है जो रखने योग्य है–धन, शक्ति और प्रतिष्ठा।"

मैं अभिजन को "एक प्रभुता संपन्न (dominant) समूह कहता हूँ जिसके पास वैशिष्टय (distinctiveness) और अनन्यता व अलगपन (exclusiveness) होती है" (Ahuja, "Political Elite: Recruitment and Role in Modernisation" in Sachidananda, "Elite and Development", Concept Publishing Co. New Delhi, 1981: 124)। दूसरे, यह शब्द किसी एक व्यक्ति पर लागू नहीं होता बल्कि 'अनेक व्यक्तियों के समूह' पर लागू होता है, भले ही वह कितना भी छोटा हो। तीसरे, इस पहचान योग्य सामूहिकता के कुछ गुण और कुशलताएँ होती हैं जो इनको न केवल श्रेष्ठता प्रदान करती हैं बल्कि निर्णय करने की शक्ति तथा दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति भी देती हैं। अंततः अभिजन एक सापेक्ष (relative) शब्द है। एक समूह को अभिजन समूह के रूप में एक विशेष क्षेत्र में चिन्हित किया जाता है जिसमें वह 'प्रभावशाली' हो या 'शक्ति दर्शाने वाला' हो या 'श्रेष्ठता' पर प्रभुत्व रखता हो। लेकिन अन्य समूहों में ये अभिजन 'सामान्य' सदस्य माने जा सकते हैं।

इस आधार पर 'राजनैतिक अभिजन' शब्द की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है: "राजनैतिक संस्कृति या ठोस राजनैतिक संरचना में निर्णय करने वालों के ऊपरी सतह का एक समूह जिनका राजनैतिक शक्ति पर एकाधिकार हो, जो प्रमुख राजनैतिक नीतियों को प्रभावित करता हो, और राजनैतिक सत्ता के सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर अधिकार रखता हो।" यदि हम इस शब्द का विश्लेषण करें तो कहा जा सकता है कि राजनैतिक अभिजन में वे सभी व्यक्ति सम्मिलित हैं (*a*) जो केंद्रीय या राज्य विधान सभाओं में चुने/नामांकित किए गए हों, (*b*) जो राष्ट्रीय राज्य स्तरीय राजनैतिक दलों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हों, और (*c*) जो न तो सरकार और न ही राजनैतिक दलों में कोई औपचारिक पद रखते हों, लेकिन फिर भी राजनीति में महान प्रतिष्ठा या शक्ति वाले व्यक्ति समझे जाते हों क्योंकि वे सत्ताधारियों (power-exercisers) पर नियंत्रण रखते हैं, जैसे गांधीजी, जयप्रकाश नारायन।

सी.राइट मिल्स (1956) ने राजनीतिक अभिजन (Power Elite) शब्द का प्रयोग किया है, जो सत्ता पर एकाधिकार रखते हों और देश पर शासन करते हों। परेटो (Pareto, 1935) ने उन्हें 'शासक अभिजन' (Governing Elite) कहा है: मार्क्स (देखें, Bottomore, Elite and Society, 1964) ने उन्हें 'शासक वर्ग' (Ruling Class) कहा है; रीजमैन (Riesman) ने उन्हें 'वीटो समूह' (Veto Group) कहा है; और हन्टर (Floyd Hunter) ने उन्हें 'शीर्षस्थ नेता' (Top Leaders) कहा है। मैंने बिहार में राजनैतिक अभिजन पर अपने अध्ययन में उन्हें "अल्पतंत्रीय अभिजन" (Oligarchic Elite) कहा है। मैंने यह शब्द उन लोगों के लिए प्रयोग किया है जो संरचना के भीतर कार्यकारी (Functional) समूहों को नियंत्रित करते हैं और इसमें 'आधीन अभिजन' (Subacent Elite) की राय कम से कम लेते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में अभिजन का प्रवेश और उनका बदलता स्वरूप
(Recruitment and Changing Character of Elite in Post-Independence India)

नोट

'राजनैतिक अभिजन' की उपरोक्त परिभाषाओं के साथ अब हम स्वतंत्रता के बाद भारत में राजनैतिक क्षेत्र में कार्यरत अभिजन का प्रवेश और बदलते स्वरूप (nature) का परीक्षण करेंगे। राजनैतिक अभिजन का पाँच प्रावस्थाओं (phases) में वर्गीकरण करके इस परिवर्तन का विश्लेषण किया जा सकता है:

(*i*) स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद की प्रावस्था (अर्थात् 1947 से अप्रैल 1952 तक)–जिसमें सरकार और जनता के बीच कोई संघर्ष था ही नहीं और जिसमें यद्यपि जनता और सत्ताधारियों के हित एक जैसे और अविभाज्य (indivisible) थे (अर्थात् समाज का पुनर्निर्माण) परंतु सत्ताधारी संभ्रांत व्यक्ति देश विभाजन के बाद, शरणार्थी पुनर्वास, साम्प्रदायिक शांति को बनाए रखना और विभिन्न राज्यों के बीच सीमा क्षेत्रों के पुनर्वितरण पर विवादों के कारण उपजे कानून व्यवस्था की समस्याओं के समाधान में अधिक लगे हुए थे।

(*ii*) एकीकरण प्रावस्था (consolidation phase) (अर्थात् अप्रैल 1952 से मार्च 1962 तक या अप्रैल 1952 और अप्रैल 1957 के चुनावों में सांसद, विधायक और पार्टी के पदाधिकारी गणों के चुनाव तक)–जिसमें राजनैतिक अभिजन ने पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से आर्थिक उत्थान और सामाजिक विकास के लिए कार्य किया।

(*iii*) अस्त-व्यस्त प्रावस्था (Chaotic phase) (अर्थात् अप्रैल 1962 से मार्च 1971 या अप्रैल 1962 और मार्च 1967 के विधान मण्डलों के चुनावों में चुने गए व्यक्ति)–जिसमें अनेक राज्यों में गैर-कांग्रेसी और संयुक्त सरकारों के सत्ता में आने से अंतर्राज्यीय व केंद्र-प्रदेश संबंधों पर प्रभाव पड़ा।

(*iv*) प्राधिकारवादी प्रावस्था (authoritarianism phase) (अर्थात् मार्च 1971 से नवम्बर 1989 तक या मार्च 1971, मार्च 1977, जनवरी 1980, दिसम्बर 1984, नवम्बर 1989 के चुनावों में चुने हुए व्यक्ति)–जिसमें एक ही व्यक्ति को सर्वोच्च राष्ट्रीय नेतृत्व का स्थान दिया गया था–पहले इंदिरा गांधी को 16 वर्षों तक (मार्च 1977 से जनवरी, 1980 तक की अवधि को छोड़कर) और फिर राजीव गांधी को 5 वर्षों के लिए। सत्ताधारी नेता व्यक्तित्व पूजा में विश्वास करने लगे और व्यक्ति पूजा में ही समाज के परिवर्तन और विकास की सभी योजनाएं केंद्रित होकर रह गईं।

(*v*) बहु-दलीय प्रावस्था (multiple-party phase) (अर्थात् दिसम्बर 1989 से वर्तमान 2000 तक) जिसमें से 5 वर्ष के नरसिंह राव के समय को छोड़कर शेष समय में अनेक राजनैतिक दलों ने न्यूनतम सामान्य कार्यक्रम के आधार पर देश पर शासन करने के लिए हाथ मिला लिए। इस प्रावस्था में जो पार्टियाँ और मंत्रिमण्डल शासन में रहे वे इस प्रकार थे: वी.पी. सिंह मंत्रिमण्डल 11 माह के लिए–दिसम्बर 1989 से नवम्बर 1990 तक, चन्द्रशेखर मंत्रिमण्डल साढ़े सात माह के लिए–नवम्बर 1990 से जून 1991 तक, पी.वी. नरसिंह राव मंत्रिमण्डल 5 वर्ष के लिए–जून 1991 से मार्च 1996 तक, अटल बिहारी वाजपेयी मंत्रिमण्डल 13 दिन के लिए–मई 1996 से मई 1996 तक संयुक्त मोर्चा सरकारें देवगौड़ा की सरकार 11 माह के लिए–जून 1996 से अप्रैल 1997 तक, इन्द्र कुमार गुजराल सरकार एक वर्ष के लिए–अप्रैल 1997 से मार्च तक, अटल बिहारी वाजपेयी की भाजपा नेतृत्व वाली सरकार 13 माह के लिए–मार्च 1998 से अप्रैल 1999 तक, और वर्तमान अटल बिहारी वाजपेयी की भाजपा–नेतृत्व वाली राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) सरकार–अक्टूबर 1999 से वर्तमान तक।

प्रथम प्रावस्था में अभिजन कौन थे? ये वे लोग थे जिनकी आर्थिक पृष्ठभूमि सुदृढ़ थी (यद्यपि राजनीति उनकी रोजी रोटी का धंधा नहीं), जो उच्च शिक्षा प्राप्त थे, अधिकार उच्च जाति वाले थे, और सामाजिक हितों के लिए प्रतिबद्ध थे। उनकी सामाजिक-राजनैतिक विचारधारा राष्ट्रवाद, उदारवाद एवं धार्मिक-सांस्कृतिक सुधारों पर आधारित थी। स्वतंत्र भारत में सत्ताधारियों की इस प्रथम पीढ़ी ने अपने साहस, दृष्टि, और काम से नाम कमाया था और राजनैतिक सत्ता के उत्तराधिकारी के रूप में पद ग्रहण करने से चमत्कार (charisma) अर्जित किया और पद

नोट

पर बने रहकर इसे और अधिक चमत्कारी बनाया। दूसरी प्रावस्था में (सुदृढ़ीकरण) विशेष रूप से जो लोग 1952 के चुनाव में चुने गए, राजनीति में केवल अंशकालिक रुचि रखते थे। वे लोग आज़ादी के संघर्ष में भाग लेने के कारण कुछ राजनैतिक पद के रूप में अपना पुरस्कार चाहते थे। शुरू में इस अभिजन ने अपने दलीय ढाँचे में असन्तुलन पैदा किया, लेकिन राजनीति में सक्रिय सहभागिता के लिए उनका दबाव इतना मंद गति का था कि वे जल्दी ही अपने दल की व्यवस्था में समाहित हो गए।

तत्पश्चात् 1957 का चुनाव आया जब तथाकथित राजनैतिक पीड़ितों (sufferers) का लम्बा प्रतिस्थापित प्रभुत्व (long-established dominance) टूट गया और राजनैतिक शक्ति अभिजन की नयी पीढ़ी के हाथों में आ गयी। ये संभ्रांत व्यक्ति (एलीट) या तो थोड़ी बहुत भूमि के स्वामी थे या व्यापारी-व्यावसायिक व्यक्ति, छोटे उद्योगपति या सामाजिक कार्यकर्ता थे। ये इतने अधिक राजनीतिकृत नहीं हुए थे जितने कि इनके पुराने प्रतिमूर्ति थे। वे सोचते थे कि क्योंकि वे पुराने पेशेवर राजनीतिज्ञों की निष्ठा पर विश्वास कर सकते थे, इसलिए उन्हें प्रत्यक्ष रूप से राजनीति से संबंध रखने की आवश्यकता नहीं थी। 1962 के बाद उन नए संभ्रांत व्यक्तियों (elite people) ने राजनैतिक निर्णय करने की प्रक्रिया में प्रवेश किया जो सामाजिक पैमाने में नीचे के स्वर के थे, तथा जो मध्यम वर्गीय व्यावसायिकों, छोटे किसानों, औद्योगिक श्रमिकों और यहाँ तक कि गुमनाम धार्मिक और सामाजिक पंथों के प्रतिनिधि थे। यद्यपि ये नए संभ्रांत व्यक्ति नीति निर्धारण में अधिक भूमिका निर्वाह करना चाहते थे, परंतु पुराने अभिजनों ने अपने प्रभाव को जारी रखा। इस प्रकार नव अभिजन सहिष्णु (tolerant) रहे एवं पुराने अभिजन उनके साथ समायोजन करने में ही लगे रहे। नए और पुराने दोनों अभिजनों ने स्थितियों में समायोजन के लिए तथा नए संबंध स्थापित करने के लिए अपने-अपने मूल्यों का संशोधन किया। नए और पुराने अभिजनों के इस प्रकार की अंतर्क्रिया अभिजनों के शुद्ध प्रभाव सिद्धांत के क्षीणत्व व मंदन (dilution) का संकेत देती है या यों कहा जाए कि पुराने अभिजन एक प्रकार की सौदेबाजी पर निर्भर हो गए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 1967 तक अभिजन के ढाँचे में परिवर्तन 'शान्तपूर्ण' और मंद गति से हुआ तथा मार्क्स के शब्दों में कोई 'संघर्ष' नहीं हुआ।

1967, 1971, 1972, 1980, 1984, 1991, 1996, 1998 और अक्टूबर 1999 के चुनावों में ऐसे अभिजन का उदय हुआ जिनमें से बहुत से लोगों के लिए राजनीति रोजी-रोटी का साधन था। वे सत्ता के गलियारों (corridors of power) में नातेदारी, जाति और भाषा के बंधनों का प्रयोग करके अपना रास्ता सरल करने में विश्वास करते थे (फरवरी 2000 के बिहार विधान सभा चुनाव में आठ ऐसे अपराधी जेल में रहते हुए भी विधायक चुने गए जिन पर हत्या आदि के गंभीर अपराधों के लिए मुकदमे चल रहे थे)। वे योजना के व्यावहारिक पक्ष से अनभिज्ञ थे और झूठे वायदे करके तथा आकर्षक नारे (slogans) गढ़ कर जनता का सहयोग लेना चाहते थे। वे लोकतांत्रिक होने का दंभ भरते थे, यहाँ तक कि उनके नारे भी लोकतांत्रिक होते थे। किंतु उनकी करनी और कथनी में अंतर था। लोकतंत्र जीवनशैली के रूप में उनका स्वभाव उनके लिए विदेशी था।

वैचारिक दृष्टि से 1967-1971, 1971-1989 और 1989-2000 की प्रावस्थाओं में चार प्रकार के अभिजन कार्य कर रहे थे: परम्परावादी तर्कबुद्धिवादी (rationalists), अनुदारवादी और संश्लेषात्मक व समन्वयक (synthetics)। दूसरे और तीसरे प्रकार में उपश्रेणी भी थी: (*a*) वे जो धर्म निरपेक्ष (secular) किंतु स्वार्थी राष्ट्रीय विचारधारा प्रदर्शित करते थे और (*b*) वे जो नव-धर्म-निरपेक्ष और स्वार्थी संकीर्ण (parochial) विचारधारा प्रदर्शित करते थे। क्योंकि विभिन्न विचारधाराओं वाले ये अभिजन पार्टी में ही काम करते थे उनकी वैचारिक भिन्नता ने पार्टी में विखण्डन पैदा किया जिसने पार्टी और अभिजन दोनों को ही विभिन्न स्तरों पर प्रभावित किया।

नए राजनैतिक अभिजन, जो दिसम्बर 1989, मई 1996, मार्च 1998 और अक्टूबर 1999 के चुनावों में सत्ता में लाए गए, को जनता के वोट इसलिए मिले क्योंकि जनता लगभग चार दशकों से शासन कर रही एक राजनैतिक दल की सरकार को उखाड़ फेंकना चाहती थी और उन कमजोर संयुक्त मोर्चे की सरकारों को भी जो घटकों पर आधारित थीं, न कि इसलिए कि उनके विचार तर्कसंगत और उदार थे, या क्योंकि उनका आमूल-परिवर्तनवाद (radicalism) काफी गहराई तक समाया हुआ लगता था। इसी कारण से भाजपा संचालित अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार भी पहले मार्च 1998 में और फिर अक्टूबर 1999 में सत्ता में आई। मार्च 1998 की सरकार अस्थिर

नोट

सिद्ध हुई क्योंकि इसके ही 3 दल निरंतर धमकी दिए चले जा रहे थे। अक्टूबर 1999 की सरकार भी जनवरी 2000 में गुजरात सरकार द्वारा सरकारी कर्मचारियों को राष्ट्रीय स्वयं सेवक दल की सदस्यता स्वीकार करने की अनुमति देने तथा फरवरी 2000 की केन्द्रीय बजट में सब्सिडी कम करने तथा सितम्बर 2000 में बंगाल में धारा 356 लागूकर राज्य सरकार को गिराने संबंधी मामलों को लेकर अपने कुछ घटकों के दबाव का सामना कर चुकी है।

नए अभिजनों की पुराने अभिजनों से तुलना करते हुए राजनैतिक अभिजनों की वर्तमान संरचना को चिन्हित करने के लिए हम कह सकते हैं कि प्रथम प्रावस्था के 'तर्कबुद्धिमान प्रतिबद्ध राजनीतिज्ञों' के स्थान पर आगे की प्रावस्थाओं में 'मध्यकोटिक (mediocre), प्रतिबद्धताहीन व पक्षपाती' अभिजन आ गए। गत एक दशाब्दी के राजनैतिक अभिजनों में न केवल संरचनात्मक पृष्ठभूमि की विविधता है, बल्कि वैचारिक स्तर पर भी वे विविध रूप दर्शाते हैं। उनके राजनैतिक संबंध (affiliation) उनकी वैयक्तिक प्रतिबद्धता की अपेक्षा विशिष्टापरक वफादारी (particularistic) से अधिक निर्देशित होती है। पुराने अभिजन अपनी शक्ति का प्रयोग स्वतंत्रता से अथवा बुद्धिमान होने के नाते करते थे जबकि आज के अभिजन स्वतंत्र राजनैतिक शक्ति का प्रयोग करने में असमर्थ हैं। कुछ संभ्रांत व्यक्तियों (एलीट) को छोड़कर वर्तमान संभ्रांत व्यक्ति अधिकार यथास्थिति (status quo) के विरुद्ध आवज उठाने में विश्वास नहीं करते हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक अभियंत्रण (social engineering) का कार्य कतिपय क्रांतिकारी अभिजनों के लिए अधिक कठिन हो जाता है जो वास्तव में आधुनिकीकरण के लिए प्रतिबद्ध हैं और आर्थिक परिवर्तनवाद, राजनैतिक लोकतंत्रवाद और सामाजिक विकास में विश्वास करते हैं।

भारत में बदलते अभिजन के संदर्भ में योगेन्द्र सिंह ने कहा है: राजनैतिक अभिजनों में आजादी से पहले उच्च कोटि की सांस्कृतिक और स्थितीय समरसता (status homogeneity) विद्यमान थी। वे सभी उच्च जातियों के थे और उनकी अंग्रेजी शिक्षा की नगरीय व मध्यम वर्गीय पृष्ठभूमि थी। शिखरस्थ (top) समूह विदेशी संस्कृति में रंगे हुए थे और विदेशों में ही शिक्षित हुए थे; इसलिए उनकी आत्मछवि वांछित भूमिकाओं (expected roles)के अर्थों में विशेषता (specialist) की अपेक्षा सामान्यज्ञ (generalist) ही थी। स्वतंत्रता के दो दशकों के बाद अभिजन संरचना का स्वरूप काफी बदला गया है।

वर्तमान राजनीतिक नेतृत्व में परिवर्तन के स्वरूप के संदर्भ में योगेन्द्र सिंह ("Modernization of Indian Tradition, 1973 : 137") ने कहा है: (*i*) ग्रामीण आधार के राजनैतिक नेताओं का प्रभाव बढ़ रहा है (*ii*) विभिन्न व्यवसायों से आये नेताओं के प्रभाव में थोड़ी कमी हो रही है (*iii*) मध्यमवर्ग से संबद्ध व्यक्तियों की संख्या में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हो रही है (*iv*) राजनैतिक सामाजिक विचारधाराओं में क्षेत्रीय और स्वार्थपरक लक्ष्यों की अभिव्यक्ति अधिक हो रही है (*v*) उच्च जातियों के अभिजन के वर्चस्व में थोड़ी कमी आई है। योगेन्द्र सिंह ने 27 वर्ष पूर्व जो कुछ कहा था वह आज भी सत्य है।

1.8 राजनैतिक व्यवस्था: अवधारणा और स्वरूप (Political System: Concept and Types)

'व्यवस्था' विविध भागों का समन्वित समग्र रूप (integrated whole) है। 'सामाजिक व्यवस्था' समन्वित कार्यकारी इकाइयों का एक समुच्चय (सेट) है। जिसमें प्रत्येक इकाई समनुदेशित (assigned) भूमिका निभाती है। 'राजनैतिक व्यवस्था' राजनैतिक संस्थाओं (जैसे सरकार), संघों (राजनैतिक दल) और संगठनों का एकत्रीकरण (collectivity) है जो पूर्व निर्धारित उद्देश्यों और और प्रतिमानों के आधार पर अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं (जैसे, आन्तरिक व्यवस्था बनाए रखना, विदेशी संबंधों को संचालित करना और बाहरी ताकतों से सुरक्षा प्रदान करना)। इसे राजनैतिक संस्थाओं व संघों का एकत्रीकरण भी कहा गया है जो समाज को सत्ता से शासित करते हैं, विद्यमान सत्ता व्यवस्था के अनुरूप कार्य करने को बाध्य करते हैं और जो कपितय सिद्धांतों और कार्यविधियों के के आधार पर कार्य करते हैं। आलमण्ड और कोलमन (Aldmond and Coleman, Politics of Developing Areas, 1959 : 5) ने इसको "एक व्यवस्था जो समाज में राजनैतिक कार्य करती है" कहकर परिभाषित किया है। मैक्स वेबर ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है: "ऐसा संगठन जो प्रदत्त सीमा अर्थात् राज्य के भीतर शक्ति के

वैधानिक प्रयोग के एकाधिकार पर सफलतापूर्वक दावा करता है"। (देखें, Gerth and Mills "From Weber": 78) आइजेन्टाड (Eisenstadt) ने इसकी परिभाषा इस प्रकार है–"भूभागीय समाज का ऐसा संगठन जो समाज में शक्ति के अधिकारिक प्रयोग का तथा उसे नियमित करने का विधिमान्य एकाधिकार (legitimate monopoly) रखता हो।"

नोट

राजनैतिक व्यवस्था के चार तत्त्व हैं: (1) वैधानिक बल प्रयोग (2) व्यापकता (comprehensiveness) (3) परस्पर निर्भरता और (4) सीमाओं (boundaries) की विद्यमानता। डैविड ईस्टन (David Easton, the Political System, 1953) ने इसके तीन घटक (components) बताए हैं: (1) यह नीतियों के माध्यम से मूल्यों का आवंटन (allocation) करता है (2) इसका आवंटन अधिकारिक (authoritative) होता है (3) इसके अधिकारिक आवंटन पूरे समाज पर बाध्य होते हैं। आलमण्ड और कोलमन (op. cit., 11) ने राजनैतिक व्यवस्था की चार सामान्य विशेषताएँ बताई हैं: (1) सभी राजनैतिक व्यवस्थाओं में राजनैतिक संरचनाएँ होती हैं (जैसे, प्रतिरूपेण (patterned) सामाजिक संबंध, प्रतिमान और अधिकार व कर्तव्य (2) सभी राजनैतिक व्यवस्थाओं में कुछ प्रकार्य निभाये जाते हैं, यद्यपि उनकी शैली व बारम्बारता (frequencies) भिन्न होती है। (3) सभी राजनैतिक व्यवस्थाएँ बहुकार्यात्मक होती हैं (जैसे, नीतियों/भूमिकाओं (सरकार की) का मूल्यांकन, लोगों में जागृति पैदा करना, जनता/समूहों/व्यवस्थाओं का नियंत्रण करना)। (4) सभी राजनैतिक व्यवस्थाएँ सांस्कृतिक अर्थों में मिश्रित व्यवस्थाएँ होती हैं (अर्थात् न तो कोई "पूर्ण आधुनिक" संस्कृति होती है और कोई "पूर्व आदि संस्कृति"।

राजनैतिक व्यवस्था के प्रकार्यों के विषय में आलमण्ड और कोलमन ने तीन प्रकार्यों का वर्णन किया है: (1) प्रतिमानों को निर्धारण करके समाज को एकजुट बनाए रखना, उन्हें सर्वत्र व्यवहारिक बनाना, उनका क्रियान्वयन कराना, और उनका उल्लंघन करने के लिए दण्ड देना (2) सामूहिक (राजनैतिक) उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु आवश्यक सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन लाना व अनुकूल बनाना (3) बाहरी खतरों से राजनैतिक व्यवस्था की दृढ़ता से सुरक्षा करना। आलमण्ड और कोलमन ने इन कार्यों की दूसरे तरीके से भी व्याख्या की है। उन्होंने इनको 'बाह्य कार्य' (output functions) और 'अंत:कार्य' (input functions) में वर्गीकृत किया है। 'बाह्य कार्य' है कानून बनाना, उनको लागू करना, और उनका अधिनिर्णयन करना। अंत: कार्य है: राजनैतिक सामाजीकरण रुचि जागरण (interest articulation), रुचि संग्रहण (interest aggreagation) और राजनैतिक संवाद। आइजेन्टाड (Eisentadt) ने राजनैतिक व्यवस्था के राजनैतिक क्रियाकलापों को विधायी (legislative) (अर्थात् समाज में विद्यमान व्यवस्था का बनाना) निर्णायक (decision-making) (अर्थात् समाज के प्राथमिक उद्देश्यों का निर्धारण करना) और प्रशासनात्मक (administrative) (अर्थात् विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों में प्रारंभिक नियमों के क्रियान्वयन की व्यवस्था करना और समाज के विविध समूहों को विविध सेवाएँ उपलब्ध कराना।) शिल्स (Shills) द्वारा राजनैतिक व्यवस्थाओं का प्रमुख रूप से वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है: (*i*) लोकतांत्रिक व्यवस्था अर्थात् नागरिकों के द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के माध्यम से शासितों की इच्छानुसार शासन। यद्यपि लोकतंत्र बहुसंख्यकों के शासन पर आधारित है तथापि अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करना भी लोकतांत्रिक व्यवस्था का आवश्यक पक्ष माना गया है। राजनैतिक लोकतंत्र में कानून की दृष्टि में समानता, बोलने की, प्रेस की एवं एकत्र होने की स्वतंत्रता और मानमानी गिरफ़्तारी से बचाव भी महत्त्वपूर्ण है। (*ii*) सर्वाधिकारी व्यवस्था (totalitarian) अर्थात् ऐसी व्यवस्था जिसमें राज्य की शक्ति को स्थिर करने और स्वच्छन्दतापूर्वक कार्यक्रमों को चलाने के लिए आवश्यक समझे जाने वाले जीवन के सभी पक्षों को राज्य संचालित व नियमित करता है। समाज के भीतर ही व्यक्ति या उप-समूहों की स्वायत्तता पर केंद्रीयकृत सत्ता पर बल दिया जाता है। व्यवहार में, राज्य का प्रतिनिधित्व राजनैतिक दृष्टि से शक्तिशाली शासक वर्ग या अभिजात द्वारा किया जाता है जो अन्य सभी हित समूहों (interest groups) पर आधिपत्य जमाए रखता है। (*iii*) अल्पतंत्रीय व्यवस्था (oligarchic) अर्थात् ऐसी व्यवस्था जिसमें एक छोटा समूह शासन करता है और बृहद् समाज के ऊपर सर्वोच्च शक्ति रखते हुए शासन करता है।

आइजेन्टाड ने राजनैतिक व्यवस्था को बहुवादी (pluralistic), प्रभुतावादी (authoritarian), सर्वाधिकारी (totalitarian) और पैतृक अधिकारवादी (patrimonial) श्रेणियों में रखा है। बहुवादी व्यवस्थाओं/राज्य की विशेषता है कि उनमें शक्तिशाली केंद्र होता है, राजनैतिक स्वतंत्रता को विस्तृत अवसर मिलता है और उसमें स्थाई विकास करने की क्षमता होती है। पैतृक अधिकारवादी राज्यों का द्वितीय महायुद्ध के बाद उदय हुआ। यह एक निजी शासन (personal rulership) होता है जिसमें शासक के अनुयायी उसके व्यक्तिगत गुणों में नहीं बल्कि उसके द्वारा दिए गए भौतिक पुरस्कारों और प्रोत्साहनों में विश्वास करते हैं।

नोट

1.9 राज्य और समाज (State and Society)

समाज का कोई अध्ययन राज्य और इसकी संस्थाओं के अध्ययन के बिना अधूरा है, क्योंकि सरकार जीवन से लेकर मृत्यु तक हमारे जीवन में एक महत्त्वपूर्ण कारक है। जैसे ही एक शिशु जन्म लेता है, इसका जन्म सरकार के पास दर्ज हो जाता है। जब यह बच्चे के रूप में विकसित हो जाता है, सरकार प्रायः इसकी शिक्षा पर ध्यान देती है। एक नागरिक को प्रायः बहुत सारे सामाजिक सुरक्षा के उपायों द्वारा सरकार का संरक्षण मिलता है। इस प्रकार एक व्यक्ति अपने पूरे जीवन भर सरकार के घनिष्ठ संपर्क में रहता है। जब वह मरता भी है तो उसकी मृत्यु सरकार के पास दर्ज हो जाती है।

मनुष्य के जीवन में महत्व की दृष्टि से हम राज्य का अध्ययन तीन शीर्षकों के अंतर्गत करते हैं: (क) कार्यक्षेत्र (ख) उसका समाज के बड़े भाग से संबंध जिसका वह हिस्सा है (ग) अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के साथ उसका संबंध।

राज्य के कार्यक्षेत्र

राज्य के उद्देश्य के विषय में विभिन्न समय में विभिन्न सवाल पूछे गए हैं। प्रायः सभी देशों में ये सवाल पूछे गए हैं कि राज्य क्यों अस्तित्व में आता है? यह अपने आप में साध्य है या फिर साधन मात्र है? क्या हम राज्य के बिना काम नहीं चला सकते? स्वभावतः इन सवालों के जवाब अलग-अलग हैं। उदाहरण के लिए अराजकतावादियों ने राज्य को खत्म करने की बात कही। दूसरी तरफ यूनानी लोगों ने राज्य को जीवन के लिए उच्चतम पोषक तत्व माना और अपने आपमें इसे साध्य कहा। आदर्शवादी स्कूल के दार्शनिकों द्वारा इसी विचार को पुर्नजीवित किया गया। फिक्टे, हीगल और डा. बोसांके के नाम राज्य के बारे में इस दृष्टिकोण के साथ जुड़े हैं। दूसरी ओर कुछ लेखक राज्य को उतना महत्त्व नहीं देते हैं। इसके बजाय वे व्यक्ति की स्वातंत्र्य को महत्त्व देते हें। वे राज्य को इसे प्राप्त करने का सिर्फ साधन या व्यवस्था मानते हैं। इस प्रकार की चिंतन धारा का सबसे प्रचलित उदाहरण व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है।

आज आम धारणा यह है कि अगर हम साध्य को साधन से अलग मानते हैं या साधन को साध्य से अलग मानते हैं तो इन सवालों से जुड़े इस शब्द की प्रकृति के विषय में गलतफहमी के शिकार हो जाएंगे। वास्तविकता तो यह है कि राज्य साध्य और साधन दोनों है। अगर हम राज्य को सिर्फ एक व्यक्ति की दृष्टि से देखते हैं तो यह एक साधन या माध्यम मात्र है जिससे मनुष्य का उच्चतम विकास होता है। अगर हम इसे एक संस्था मानते हैं जो उन लोगों से भिन्न और अलग है जिनसे इसका निर्माण है तो यह अपने आप में साध्य है। इस लिहाज से राज्य समुदाय के सामूहिक कल्याण का द्योतक है।

राज्य के उद्देश्य से ही राज्य के कार्यक्षेत्र का सवाल भी जुड़ा हुआ है। इन सवालों ने यूनानियों को चिंतित नहीं किया क्योंकि वे व्यक्ति की भलाई को राज्य की भलाई के साथ जोड़कर देखते थे। उनके अनुसार राज्य उन तमाम बातों से जुड़ा है जो जीवन और मनुष्य के उच्चतम विकास से सरोकार रखता है।

पर 17वीं शताब्दी में राज्य के सीमित कार्यक्षेत्र के पक्ष में एक नया आंदोलन उठ खड़ा हुआ। क्रमशः यह आंदोलन मजबूत होता गया और इसकी विचारधारा ने उन्नीसवीं शताब्दी की उन्मुक्त व्यापार प्रणाली की अवधारणा की पृष्ठभूमि तैयार की। इस दर्शन का मार्गदर्शक सिद्धांत था व्यक्ति की ज्यादा से ज्यादा स्वतंत्रता और राज्य की कम से कम कार्यवाही। इस चिंतन-संप्रदाय के अनुसार राज्य का कानूनी काम बाहरी और भीतरी दुश्मनों से लोगों की रक्षा करना है और उन समझौतों को लागू करना है जिनकी बुनियाद कानूनी होती है। निष्कर्षस्वरूप "व्यक्ति बनाम राज्य" का मुहावरा उन लोगों की दिमागी प्रवृत्ति को उजागर करता है जिन्होंने पुराने समय में इस सिद्धांत की वकालत की होगी। चूँकि आधुनिक समय में व्यक्ति के विकास के लिए समूह को आवश्यक माना जाता है आजकल इस सिद्धांत के व्याख्याकार समूह स्वायत्तता पर जोर देते हैं। उनकी विचारधारा "समूह बनाम राज्य" के मुहावरे के रूप में ज्यादा सटीक लगती है।

स्वतंत्र उद्यम की खामियों और अक्षमताओं के प्रतिक्रियास्वरूप एक चिंतन-धारा का जन्म हुआ जो समाजवाद के नाम से ज्यादा मशहूर हुआ। समाजवादी चिंतन-सम्प्रदाय के विभिन्न रूप हैं। कुछ लोग उत्पादन के साधनों पर राज्य के स्वामित्व की वकालत करते हैं, कुछ समान वितरण और कुछ निष्पक्ष वितरण की बात करते हैं। समाजवाद के प्रणेता भी समाजवाद की प्राप्ति के लिए अपनाई गई पद्धति के विषय में अलग-अलग विचार रखते

हैं। कुछ हिंसा से पूँजीपति वर्ग के उन्मूलन और समाजवाद की स्थापना की बात करते हैं। दूसरी तरफ कुछ लोग मानते हैं कि समाजवाद बिना हिंसा का सहारा लिए विकासवादी प्रक्रिया के जरिए स्थापित किया जा सकता है।

सच्चाई यद्यपि इन दोनों चिंतन धाराओं के बीच संतुलन कायम करने में निहित है। व्यक्तिवादी इस मामले में सही हैं कि राज्य की ओर से बहुत ज्यादा हस्तक्षेप व्यक्तिगत नेतृत्व और स्वत: स्फूर्तता को समाप्त कर देगा। लेकिन वे लोग इस दृष्टि से गलत हैं कि वे व्यक्ति को समाज से अलग समझते हैं। समाजवादी मनुष्य की सामाजिक प्रकृति पर जोर देने के मामले में सही है। परंतु व्यक्ति के निजी व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण उपेक्षा भाव बरतने के कारण वे गलत हैं। इसीलिए डेलिस्ले बर्न्स (Delisle Burns) ने सही कहा है–"अगर हम व्यक्तिवादी और समाजवादी आदर्श के मिलेजुले रूप की कोई कल्पना करते, तो इस प्रकार के आदर्श तमाम चिंतनशील लोगों के लिए प्रभावशाली आदर्श होते।"

नोट

इसलिए इस व्यापक प्रश्न के ऊपर ठोस चिंतन करना ज्यादा मददगार सिद्ध होगा कि साधारणत: सरकार के काम क्या हैं। प्रोफेसर डब्लू.डब्लू.रोस्तो (W.W. Rostow) के अनुसार–"सरकार को अपनी शक्तियों का इस्तेमाल तीन प्रमुख दिशाओं में अवश्य ही करना चाहिए: (*i*) समाज के प्रादेशिक एकता की सुरक्षा (*ii*) जन सामान्य का कल्याण (*iii*) संवैधानिक नियमों-कायदों की सुरक्षा अर्थात् कानून-व्यवस्था बनाए रखना, कानून सम्मत परिवर्तन करना और कार्य करने की व्यक्तिगत स्वतंत्रता और विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बीच उचित संतुलन कायम कर कानून सम्मत उत्तराधिकार को लागू करना।"

प्रोफेसर रोस्तो ने जोर देकर कहा है कि प्राचीन समय से समकालीन दुनिया तक, साधारण आदिवासी जीवन से व्यापक औद्योगिक समाज तक और उच्च जनतंत्रों से निरंकुश तानाशाही तक राजनीति और राजनीतिक बहसों का साररूप इन तमाम सरगर्भित सवालों में निहित है। प्रत्येक समाज इन कार्यों के बीच "उस समाज के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विरासत, उसके नागरिकों की शिक्षा की स्थिति और समस्याओं की उस प्रकृति के अनुसार जिनका वह घरेलू मामलों में और विश्व परिदृश्य पर सामना करता है, संतुलन स्थापित करता है।"

1.10 राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र (Political Science and Sociology)

राज्य और सरकार तथा इनसे संबंधित मुद्दे जैसे-सत्ता और शक्ति की प्रकृति, राज्य के लक्ष्य, सरकार के स्वरूप, राजनैतिक दायित्वों के आधार आदि राजनीति विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र की परिधि में शामिल हैं। स्पष्टत: राजनीति विज्ञान स्वयं को मनुष्यों के राजनैतिक प्रयोजनों और क्रियाकलापों तक सीमित रखता है। दूसरी ओर समाजशास्त्र की परिसीमा अधिक व्यापक है और मनुष्य का संपूर्ण जीवन इसके अध्ययन का विषय है। राजनीति विज्ञान ने राजनैतिक संरचना के स्वरूपात्मक पक्ष पर स्वयं को केंद्रित रखकर अपने अध्ययन का विशिष्ट क्षेत्र निर्धारित किया। राज्य के अध्ययन का अभिप्राय संविधानों के अनुच्छेदों, सरकारों द्वारा पारित विधेयकों और उन संस्थाओं का विश्लेषण था जिनके लिए विधान बनाए जाते हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद राजनीति विज्ञान के अध्ययन में क्रांतिकारी बदलाव आया। इस तरह की प्रवृत्ति की सार्थकता और उपयोगिता के बारे में शंकाएं व्यक्त की गईं और कहा गया कि इसके तहत उस संदर्भ पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है जिसमें संस्थाएँ और संविधान अपने दायित्वों का निर्वाह करते हैं। यह तर्क दिया गया कि राजनैतिक संस्थाएँ कुछ अधिक व्यापक मुद्दों की ओर संकेत करती हैं, जैसे--विविध क्षेत्रों में (सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक) मनुष्यों के आचार-व्यवहार की संरचना। अत: राजनैतिक संस्थाएँ आचार-व्यवहार की संरचना में होने वाले परिवर्तनों द्वारा प्रभावित होती प्रतीत होती हैं। यह कहा जाता है कि राजनीति शास्त्र के उन छात्रों के लिए जो संस्थाओं या संविधानों को केंद्र में रखकर अध्ययन करते हैं, एक बड़ा जोखिम यह है कि जहाँ लोगों की व्यवहार-संरचना में बदलाव के कारण राजनैतिक सस्थाएँ प्रचलित नहीं रह पाती हैं या जहाँ सामाजिक या राजनैतिक दृष्टि से समाज की परिवेशगत क्रियाओं-प्रक्रियाओं की उपेक्षा करते हुए राजनैतिक संस्थाएं स्थापित की जाती हैं, वहाँ उन्हें राजनीति के जीवंत पक्षों के बजाय इसकी परछाईं से ही दो-चार होना पड़ सकता है।

राजनीति विज्ञान में व्यवहारवादी नजरिए का विकास बहुत हद तक समाजशास्त्रीय प्रभाव का ही नतीजा रहा है। पिछले दो दशकों में राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में शोध के विषयों मुख्यत: समाजशास्त्रीय की प्रकृति रही है, जैसे--राजनैतिक दल और दबाव-समूह, राजनैतिक गतिविधियों में बुद्धिजीवियों और संभ्रांतों की भूमिका, नौकरशाही,

वर्ग, जाति और राजनीति के बीच संबंध आदि वस्तुत: राजनीतिक विज्ञान और राजनैतिक समाजशास्त्र के बीच भेद करना प्राय: बहुत कठिन है। अर्थशास्त्र के परस्पर एक-दूसरे के बिल्कुल नजदीक आने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। फिर भी राजनीति विज्ञान की विषय-वस्तु अपने चरित्र में अनिवार्यत: राजनैतिक और समाजशास्त्र का विषय-वस्तु सामाजिक होता है।

नोट

राजनीतिशास्त्र की रुचि, प्रमुखत: सत्ता (Power) के अध्ययन में है। इस शास्त्र के द्वारा राज्य राजकीय प्रशासन के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाता है। राजनीतिशास्त्र संगठित मानव संबंधों (राजनीतिक संबंधों) का अध्ययन करता है और ये संबंध सामाजिक संबंधों का ही एक अंग है। **गार्नर** ने लिखा है कि राजनीतिशास्त्र केवल एक ही प्रकार के मानव संबंध, राज्य से संबंधित है जबकि समाजशास्त्र सब प्रकार के सामाजिक संबंधों से। व्यक्ति का राजनीतिक जीवन और सामाजिक जीवन एक-दूसरे से इतना घुला-मिला है कि न तो राजनीतिशास्त्र के द्वारा और न ही समाजशास्त्र के द्वारा उसका पूर्णता से अध्ययन किया जा सकता है। दोनों शास्त्रों के लिए एक-दूसरे का सहयोग अत्यंत आवश्यक है। दोनों ही एक-दूसरे के ज्ञान का उपयोग अपने-अपने क्षेत्र में करते हैं। **गिडिंग्स** ने लिखा है कि प्रत्येक राजनीतिशास्त्री, समाजशास्त्री और प्रत्येक समाजशास्त्री राजनीतिशास्त्री होता है। आपके अनुसार समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धांतों से अपरिचित लोगों का राज्य के सिद्धांतों को पढ़ाना उसी प्रकार बेकार है जिस प्रकार ऐसे व्यक्तियों को ज्योतिष (Astronomy) पढ़ाना जिन्होंने न्यूटन के सिद्धांत (Law of Motion) को नहीं सीखा हो। कहने का तात्पर्य है कि राजनीतिशास्त्र के प्रारंभिक सिद्धांतों को समझने के लिए समाजशास्त्रीय ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। ये दोनों शास्त्र एक-दूसरे पर काफी निर्भर हैं। गिलक्राइस्ट ने बताया है कि राजनीतिशास्त्र में हमें मानव संबंधों के उन तथ्यों और सिद्धांतों को अवश्य ही ग्रहण करना होगा जिनका अध्ययन और प्रतिपादन करना सामाजशास्त्र का दायित्व है। समाजशास्त्र व्यक्ति को सामाजिक प्राणी और राजनीतिशास्त्र उसे अच्छा नागरिक बनाने का प्रयत्न करता है। वर्तमान में तो इन दोनों शास्त्रों का संबंध इतना बढ़ गया है कि परिणामस्वरूप समाजशास्त्र की एक नवीन शाखा 'राजनीतिक समाजशास्त्र' (Political Sociology) का विकास हुआ है। पिछले करीब पचास वर्षों में समाजशास्त्री राजनीतिक व्यवहार (Political Behaviour) संबंधी अनुसंधानों में विशेष रुचि लेने लगे हैं। अब राजनीति-वैज्ञानिक का ध्यान भी इस ओर गया है।

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में काफी आदान-प्रदान होता है। राजनीतिशास्त्र मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी मानता है, परंतु वह राजनीतिक प्राणी क्यों और कैसे बना, यह जानकारी समाजशास्त्र ही प्रदान करता है। बार्न्स ने इन दोनों शास्त्रों में आदान-प्रदान के संबंधों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समाजशास्त्र तथा आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत के संबंध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राजनीतिक सिद्धांत में पिछले तीस वर्षों में होने वाले अधिकांश परिवर्तन समाजशास्त्र द्वारा सुझाए गए और बताए गए मार्ग या ढंग के अनुसार हुए हैं। अब तो समाजशास्त्रीय सिद्धांतों एवं पद्धतियों का राजनीतिशास्त्र में काफी प्रयोग होने लगा है। वास्तव में राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए, उदाहरण के रूप में मतदान-प्रतिमान या मतदान-व्यवहार को जानने के लिए सामाजिक तथ्यों, विभिन्न सामाजिक संस्थाओं जैसे, जाति-प्रणाली, संयुक्त परिवार प्रणाली, कर्म-भेद, स्त्रियों की स्थिति आदि के संबंध में जानकारी आवश्यक है। प्रामाणिक आधार पर यह जानकारी हमें समाजशास्त्र से ही मिल सकती है। सामाजिक व्यवस्था और संगठन पर राज्य के कार्यों का काफी प्रभाव पड़ता है। राज्य के द्वारा पारित कानून, प्रथाओं, रूढ़ियों, संस्थाओं और मूल्यों को काफी प्रभावित करते हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 तथा अनेक अन्य अधिनियमों ने सामाजिक जीवन और लोगों के व्यवहार को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में हम कह सकते हैं कि दोनों विज्ञानों की यथार्थ सीमाओं को दृढ़ता के साथ परिभाषित नहीं किया जा सकता। वे कभी-कभी एक-दूसरे की सीमा में प्रवेश करते हैं, लेकिन (फिर भी दोनों में) उनमें स्पष्ट सामान्य भेद है।

अंतर (Difference)

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में निम्नलिखित अंतर पाये जाते हैं–

1. समाजशास्त्र समाज के सभी पक्षों का अध्ययन करता है जबकि राजनीतिशास्त्र अपने को प्रमुखत: औपचारिक संगठनों में व्याप्त (Power) के अध्ययन तक सीमित रखता है।
2. समाजशास्त्र विभिन्न संस्थाओं जिनमें सरकार (Government) भी शामिल है, के परस्पर-संबंध पर जोर देता है जबकि राजनीतिशास्त्र सरकार के भीतर चलने वाली प्रक्रियाओं पर।

नोट

3. समाजशास्त्र सभी प्रकार के समाजिक संबंधों का अध्ययन करता है जबकि राजनीतिशास्त्र संबंधों के एक भाग–संगठित संबंधों, विशेषत: राजनीतिक संबंधों का अध्ययन करता है।
4. समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जबकि राजनीतिशास्त्र एक विशेष विज्ञान है।
5. समाजशास्त्र सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक सभी प्रकार के साधनों के अध्ययन में जबकि राजनीतिशास्त्र उन औपचारिक साधनों के अध्ययन में जिन्हें राज्य की अभिमति प्राप्त है, जैसे कानून में रुचि रखता है।
6. समाजशास्त्र वर्तमान स्थिति का यथार्थ चित्रण करता है, न कि क्या होना चाहिए का। राजनीतिशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान (Normative Science) के रूप में क्या होना चाहिए पर जोर देता है। यह शास्त्र बताता है कि भविष्य में राज्य की नीतियाँ क्या होनी चाहिए सरकार का रूप कैसा होना चाहिए आदि।
7. इन दोनों विज्ञानों के बीच पाए जाने वाले अंतर को स्पष्ट करने की दृष्टि से गिलक्राइस्ट ने लिखा है कि समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है, राजनीतिशास्त्र राज्य या राजनीतिक समाज का। समाजशास्त्र मनुष्य का एक सामाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करता है और क्योंकि राजनीतिक संगठन सामाजिक संगठन का एक विशेष प्रकार है, इसलिए राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र की बजाए अधिक विशिष्ट विज्ञान है।
8. समाजशास्त्र एक व्यवहारात्मक विज्ञान (Behvioural Science) है, परंतु राजनीतिशास्त्र व्यवहारात्मक विज्ञान की श्रेणी में नहीं आता, परंतु अब राजनीतिशास्त्र में व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करने की प्रवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।
9. दोनों शास्त्रों की अध्ययन-पद्धतियों में भी काफी अंतर पाया जाता है। समाजशास्त्र में सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति, वैयक्तिक जीवन अध्ययन पद्धति, अवलोकन और साक्षात्कार पद्धति, समाजमिति आदि का प्रयोग किया जाता है जबकि राजनीतिशास्त्र में आगमन और निगमन पद्धतियों (Inductive and Deductive Metheds) का। अब राजनीतिशास्त्र भी समाजशास्त्र में प्रयुक्त पद्धतियों को काम में लेने लगा है।
10. समाज का विकास राज्य के पहले हुआ और इस दृष्टि से समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र की तुलना में अधिक प्राचीन है। इतना अवश्य है कि समाजशास्त्र का एक विज्ञान के रूप में विधिवत् अध्ययन राजनीतिशास्त्र के बाद में शुरू हुआ।

छात्र क्रियाकलाप

1. 'प्रशासन-तंत्र की मार्क्सवादी अवधारणा' की व्याख्या करें।

2. समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में प्रमुख अंतर स्पष्ट करें।

नोट

1.11 सारांश (Summary)

- राज्य ही अंतिम सत्ता है जो कानूनी रूप से सारी शक्तियों का इस्तेमाल करता है।
- राजनीतिक समाजशास्त्र सिर्फ राजनीतिक व्यवस्थाओं को सबल करने वाली सामाजिक शर्तों का ही अध्ययन नहीं करता है बल्कि राजनैतिक संस्थायें, गैर-राजनीतिक सामाजिक संरचना को कैसे प्रभावित करती हैं इस पर भी गौर करता है।
- वे संस्थागत व्यवस्थायें जिन्होंने अमेरिका में प्रजातंत्र की सफलता के लिए काम किया दूसरे समाजों में काम नहीं कर पाईं क्योंकि वहाँ लोगों में प्रजातंत्र के काम करने के लिए आवश्यक तथा उचित गुण विद्यमान नहीं होते हैं।
- आज के सभी समाज सांगठनिक समाज हैं क्योंकि सांगठनिक परिदृश्यों में ही हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अगर हम भारत के किसी छोटे या बड़े शहरी क्षेत्र को देखें तो पाते हैं कि उपरोक्त कथन कितना सही है।
- नियंत्रण का एक रूप प्रशासन-व्यवस्था भी है। यह संस्तरण पर आधारित संगठन का द्योतक है जिनमें उच्च व अधीनस्थ पदों पर आसीन लोगों के दायित्व तथा शक्तियां स्पष्टतः निर्धारित होती हैं।
- आज्ञाकारिता बनाए गए कानूनों से पैदा नहीं होती बल्कि उस व्यक्ति से होती है जो परंपरा के अनुसार एक अधिकारयुक्त स्थान रखता है।
- लोकतंत्र न केवल राजनैतिक अवधारणा दर्शाता है बल्कि समाज की एक जीवन शैली भी दर्शाता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को समाज की संरचनाओं और संस्थाओं में उसकी स्वतंत्र भागीदारी के संदर्भ में समानता का अधिकार होता है।
- समाज का कोई अध्ययन राज्य और इसकी संस्थाओं के अध्ययन के बिना अधूरा है क्योंकि सरकार जीवन से लेकर मृत्यु तक हमारे जीवन में एक महत्त्वपूर्ण कारक है।
- समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में काफी आदान-प्रदान होता है। राजनीतिशास्त्र मनुष्य को एक राजनीतिक प्राणी मानता है, परंतु वह राजनीतिक प्राणी क्यों और कैसे बना, यह जानकारी समाजशास्त्र ही प्रदान करता है।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. संगठन और प्रशासन-तंत्र के लिए वेबर के दृष्टिकोण को समझाइऐ।
2. जनतांत्रिक संगठन और अल्पतंत्र के लौह कानून से आप क्या समझते हैं?
3. प्राचीन और आधुनिक समाज की राजनीतिक संस्थाओं से क्या तात्पर्य है?
4. लोकतंत्र का क्या अर्थ है? आधुनिक और प्राचीन भारत के लोकतंत्र के सिद्धांत बताइए।

5. राजनैतिक अभिजन से क्या तात्पर्य है? भर्ती एवं सामाजिक परिवर्तन में इनकी क्या भूमिका है?
6. राजनैतिक व्यवस्था इसकी अवधारणा एवं स्वरूप की चर्चा करें।

संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

1. Politics in India —Kothari, Rajni — Orient Longman Ltd. Delhi, 1972
2. Politics Sociology — Nagla, B.K. — Rawat, Jaipur, 1999
3. India as a Secular State — Smith, D.E. — Princeton University Press, London, 1963
4. India: Another Millennium — Thapar, Romila — (ed) Viking, Delhi, 2000

नोट

नोट

इकाई–2
Unit–II

राजनीतिक प्रक्रियाएँ, अभिजन एवं शक्ति का विकेन्द्रीकरण
(Political Processes, Elites and Decentralization of Power)

संरचना (Structure)

2.1 उद्देश्य (Objectives)

2.2 प्रस्तावना (Introduction)

2.3 राजनीतिक प्रक्रियाएँ यानी राजनीतिक समाजशास्त्र
(Political Processes means Political Sociology)

2.4 परंपरागत समाज में प्रजातंत्र (Democracy in a Traditional Society)

2.5 प्रजातंत्र: परंपरागत समाज की चुनौतियाँ
(Democracy: Challenges of Traditional Society)

2.6 राजनीतिक दल और उनके सामाजिक आधार (Political Parties and their Social Base)

2.7 राजनीतिक अभिजन की सामाजिक संरचनात्मक उत्पत्ति और उनकी स्थिति
(*Social Structural Origin of Political Elites and their Position*)

2.8 राजनीतिक अभिजन: अर्थ और परिभाषा (Political Elite: Meaning and Definition)

2.9 भारत में राजनीतिक अभिजन की उत्पत्ति (Origin of Political Elite in India)

2.10 आँचलिकता (Regionalism)

2.11 अनेकत्ववाद एवं राष्ट्रीय एकता (Pluralism and National Unity)

2.12 शक्ति का विकेन्द्रीकरण: पंचायती राज (Decentralization of Power: Panchayati Raj)

2.13 73वाँ संविधान संशोधन (73rd Constitutional Amendment)

2.14 74वाँ संविधान संशोधन: नगरपालिका की संरचना
(74th Constitutional Amendment: Structure of Municipality)

2.15 निकायों की संरचना (Structure of Municipality)

2.16 सारांश (Summary)

- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

2.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीतिक प्रक्रियाओं अर्थात् राजनीतिक समाजशास्त्र को समझने में;
- परंपरागत समाज में प्रजातंत्र की भूमिका जानने में;
- राजनीतिक अभिजन के शक्ति स्रोत एवं उत्पत्ति की व्याख्या करने में;
- अनेकत्ववाद और राष्ट्रीय एकता को समझने में;
- शक्ति के विकेंद्रीकरण का उल्लेख करने में।

2.2 प्रस्तावना (Introduction)

इस देश के किसी भी कस्बे या शहर के पान के गल्ले पर थोड़ा रुकिए और आपको स्थानीय राजनीति से लेकर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का संपूर्ण जायजा कम से कम समय में मिल जाएगा। इस देश में और कुछ हो या न हो, राजनीति के क्षेत्र में लोग बात करते कभी नहीं थकते। यहाँ एक और रुचिकर दिलचस्पी समाजशास्त्र में दिखायी देती है। हाल में एक नया समाजशास्त्र जो विदेशों में बहुत विकसित है, पैदा हो गया है। यह पोप सोशियोलॉजी (अर्थात पोपुलर समाजशास्त्र) तेजी से विकसित हो रहा है। इस समाजशास्त्र में दो किस्म के लोग स्थानीय अखबारों में लिखते हैं, राजनीतिक चर्चा करते हैं। ऐसे लेखकों का एक समुदाय अखबारनविसों का है जो राजनीति में समाजशास्त्र घुसेड़ते हैं। कहते हैं फलां पार्टी ने जाट के खिलाफ जाट खड़ कर दिया या आदिवासी के खिलाफ आदिवासी खड़ा कर दिया। यह हुई न राजनीति। ऐसे लेखक पेशे से समाजशास्त्री नहीं हैं लेकिन समाजशास्त्र पर लिखते हैं। दूसरी ओर लेखकों का एक समुदाय उन समाजशास्त्रियों का है जो पेशे से समाजशास्त्री हैं। वे राजनीति पर लिखकर शास्त्रीय समाजशास्त्र को गली के पाठक तक पहुँचाते हैं। इस तरह का पोप समाजशास्त्र राजनीति में ज्यादा चलता है और इसलिए कि यहाँ के सामान्य आदमी को चाहे दो जून रोटी न मिले, राजनीतिक चर्चा रास आती है।

2.3 राजनीतिक प्रक्रियाएँ यानी राजनीतिक समाजशास्त्र (Political Processes means Political Sociology)

जब हम राजनीतिक प्रक्रियाओं की चर्चा करते हैं तो निश्चित रूप से इससे हमारा तात्पर्य राजनीतिक समाजशास्त्र से है। राजनीतिक समाजशास्त्र, समाजशास्त्र की एक विधा है। इसमें यह देखा जाता है कि शक्ति (Power) के बँटवारे के कौन-से कारण हैं और इस बँटवारे के परिणाम क्या होते हैं? बहुत थोड़े में राजनीतिक समाजशास्त्र राजनीतिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है। ये प्रक्रियाएँ राजनीतिक संघर्ष से अछूती नहीं है। यह इसलिए कि जब शक्ति का बँटवारा होता है। तो यह बँटवारा बिना किसी संघर्ष के नहीं हो सकता। मैक्स वेबर ने प्रभुत्व (Domination) का आदर्श प्रारूप बनाया है। वे कहते हैं कि प्रभुत्व की किसी भी स्थिति में शक्ति अवश्य होती है। इस शक्ति के लिए वैधता (Legitimacy) का होना आवश्यक है और जब शक्ति में वैधता होती है तब इसके लिए संघर्ष भी होता है। सिद्धांत बहुत स्पष्ट है: शक्ति का बँटवारा कभी भी समान (Equal) नहीं होता और इस असमान बँटवारे के लिए संघर्ष अवश्य होता है अत: राजनीतिक प्रक्रियाओं में हम संघर्ष से जुड़ी हुई प्रक्रियाओं का अवश्य विश्लेषण करते हैं।

आज राजनीतिक समाजशास्त्र अपने नए अवतार में है। राजनीतिक विज्ञान और मनोविज्ञान के गठबंधन ने राजनीतिक समाजशास्त्र को विकसित किया है। होता यह है कि समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को राजनीतिक विज्ञान और मनोविज्ञान की तथ्य सामग्री के विश्लेषण में लागू किया जाता है। यह सही है कि विदेशों में राजनीतिक विज्ञान

समाजशास्त्र की एक ताकतवर विद्या है। हमारे यहाँ यह नया है। यहाँ तो मजेदार बात देखने को मिलती है। समाजशास्त्री राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक दलों, दबाव समूह, गुटबाजी आदि का विश्लेषण करते हैं और कहीं भी राजनीतिशास्त्र की बात नहीं करते। उनकी अनुक्रमणिका में राजनीतिक का पद ही अनुपस्थित होता है। यह सब इसलिए है कि यहाँ राजनीतिक समाजशास्त्र अपनी छोटी अवस्था में राजनीतिक समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में संदर्श (Perspective) का अंतर है। बेण्डिक्स और लिपसेट (Bendix and Lipset) ने इस अंतर को स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि राजनीतिशास्त्र अपना अध्ययन राज्य (State) से प्रारंभ करते हैं। जबकि राजनीतिक समाजशास्त्र अपना अध्ययन समाज से करते हैं और इस तथ्य की पड़ताल करते हैं कि समाज राज्य को कैसे प्रभावित करता है। इस तरह का अंतर सतही रूप से तो स्पष्ट दिखाई देता है। लेकिन जब आनुभविक स्थिति को देखते हैं तो यह अंतर करना कठिन हो जाता है।

राजनीतिक समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान के अंतर को थोड़े और खुलासे से देखना चाहिए। व्यावहारिक रूप से राजनीतिक समाजशास्त्र का उद्देश्य राज्य का विवरण देना और उसकी गतिविधियों का विश्लेषण करना होता है। इधर दूसरी ओर राजनीतिशास्त्र अधिकारीतंत्र, जनमत, राजनीतिक व्यवहार और दबाव समूहों का अध्ययन करता है। इस अंतर के विवाद में न पड़ें तो यह कहना अधिक उचित और सरल होगा कि राजनीतिक समाजशास्त्र राजनीतिक, सामाजिक संरचना, वैचारिकी और संस्कृति के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण करता है। वह यह देखता है कि सामाजिक संरचना के अंग जैसे कि परिवार, जाति, धर्म और समुदाय किस प्रकार राज्य को प्रभावित करते हैं और राज्य की रीतियाँ, कार्यक्रम और अधिकारी तंत्र किस भाँति समाज को प्रभावित करते हैं।

जब हम राजनीतिक प्रक्रियाओं को देखते हैं तो इन्हें कतिपय अवधारणाओं के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। ऐसा करने से प्रक्रियाओं के संबंध में हमारी समझ स्पष्ट हो जाएगी। राजनीतिक व्यवस्था एक ऐसा प्रतिमान (Pattern) है जिसमें मानव संबंध हैं और ये मानव संबंध शक्ति, नियम, उपनियम और प्रधिकार के इर्द-गिर्द पाए जाते हैं। सामाजिक प्रक्रियाओं के विश्लेषण में राजनीतिक व्यवस्था के अतिरिक्त एक दूसरी अवधारणा **राजनीतिक संस्कृति** (Political Culture) की है। किसी भी समाज में प्रक्रियाओं के माध्यम से विज्ञापन और अखबारबाज़ी से राजनीतिक जनमत और छवियाँ (Images) बनायी जाती हैं। इन प्रक्रियाओं में राजनीतिक समाजीकरण (Political Socialization) की अवधारणा भी महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक समाजीकरण परिवार, शिक्षण संस्थाओं और काम करने के स्थानों के अनुभव से प्रारंभ होता है।

राजनीतिक प्रक्रियाओं के विश्लेषण के लिए वे सभी सामान्य विधियां (Methods), जो समाजशास्त्र में काम आती हैं, काम में ली जाती हैं। इन प्रक्रियाओं के विश्लेषण में अभिवृत्ति अनुसंधान किसी एक राजनीतिक दल या संगठन का वैयक्तिक अध्ययन और अंतर्वस्तु विश्लेषण की विधियों को काम में लिया जाता है। राजनीतिक प्रक्रियाएँ अभिजात वर्ग, सामुदायिक शक्ति आदि से जुड़ी हुई हैं और इन सबका अध्ययन राजनीतिक समाजशास्त्र के अंतर्गत आता है।

2.4 परंपरागत समाज में प्रजातंत्र (Democracy in a Traditional Society)

तीसरी दुनियाँ के लगभग सभी देश अपनी ऐतिहासिक धरोहर में प्रजातान्त्रिक नहीं रहे हैं। ये सब देश आज स्वतंत्र राष्ट्र हैं और इनकी हुकूमत में अलग-अलग प्रतिमान देखने को मिलते हैं। भारत एक प्रजातान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष (Democratic and Secular) राष्ट्र बनने का प्रयास कर रहा है। कुछ ऐसे राष्ट्र हैं जो भारत के पड़ौसी हैं या जिनका भारत के साथ घनिष्ठ सरोकार रहा है, हुकूमत के अलग-अलग प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं। पाकिस्तान जिसका विभाजन हुआ था अपने आपको एक इस्लामिक गणतंत्र (Islamic Republic) घोषित करता है। इसने अपने 1956 के संविधान में यह घोषित किया कि इसका राष्ट्रपति मुस्लिम नागरिक होगा। म्यांमार जो पहले बर्मा कहलाता था और जो ब्रिटिश भारत के अंतर्गत था, उसने घोषित किया कि वह बौद्ध धर्म को अपने प्रजातंत्र का आधार बनाएगा

नोट

और तब इस प्रजातंत्र ने यह कहा कि वह बौद्ध धर्म को **राज्य धर्म** का दर्जा देगा। ये सब राष्ट्र जिनमें बांग्लादेश व श्रीलंका भी सम्मिलित हैं, परंपरागत समाज रहे हैं। इन समाजों में प्रजातंत्र तो हैं, चुनाव होते हैं, राजनीतिक दल हैं फिर भी इनका प्रतिमान भिन्न है। यह इसी संदर्भ में है कि हम जानना चाहते हैं कि भारत में–उसकी सभ्यता के स्वरूप में–प्रजातंत्र था या नहीं। आज भारत एक प्रजातान्त्रिक और धर्मनिपेक्ष राष्ट्र है तब स्वतंत्रता से पहले इसमें किस तरह से राजनीतिक तंत्र को चलाया जाता था।

हमारे देश में वर्षों से लिखने की एक खास परंपरा चली आ रही है। यह सही है कि हमारी परंपरा मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यताओं की है और ये सभ्यताएँ आज से कोई 5000 वर्ष पुरानी हैं। यह सभ्यता और धरोहर हमारे गौरव हैं। और इसलिए शायद आधुनिक भारत की किसी भी संस्था के बारे में हमें लिखना हो तो बिना कुछ देर लगाए लिख देते हैं कि इस व्यवस्था का प्रारंभ वैदिकाल से है। उदाहरण के लिए जब आधुनिक प्रजातंत्र की बात चलती है तब फट से हम कहते हैं कि हमारे यहाँ वैदिक काल में भी गणराज्य थे यानी गणतंत्र और प्रजातंत्र थे। हमारे देश जैसी सभ्यता के लिए ये सब कथन किसी प्रमाण के मोहताज नहीं होते। लेकिन जब प्रमाणों की खोज करते हैं तो ज्ञात होता है कि इस तरह के कथन केवल मिथक मात्र हैं।

आगे कुछ लिखे इससे पहले यह बहुत ईमानदारी से कहना चाहिए कि जब वेदों के समय की चर्चा करते हैं या प्राचीन भारत की बात करते हैं तब इसके प्रमाण रूप में हमारे पास केवल दो स्पष्ट परंपराएँ हैं। राजेश कोछर (Rajesh Kochhar) ने अपनी पुस्तक द वैदिक पीपल (The Vedic People Orient Longman, 1997) में वैदिक युग के प्रमाणों की चर्चा की है। वे कहते हैं कि हमारा एक पुख्ता प्रमाण तो पुरातत्त्व काल का है और दूसरे प्रमाण संस्कृत, पाली और प्राकृत के साहित्य हैं। इन दोनों प्रमाणों की कोछर ने पड़ताल की है और वे इस निष्कर्ष पर आते हैं कि वैदिककाल में गणतंत्र जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। वे ईसा पूर्व 1500 वर्ष पहले बने थे। ये लिखे नहीं गए थे। कुछ चयनित पुरोहित परिवार ही इन्हें कंठस्थ करते थे और इस तरह मौखिक रूप से वेद पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहे। चार वेदों का निर्माण हुए कोई 500 वर्ष हो गए और इस अवधि में कहीं भी गणतंत्र या प्रजातंत्र की चर्चा नहीं है।

रामायण और महाभारत बड़े ही आदरणीय ग्रंथ हैं। रामायण का काल ई.पू. 1500 वर्ष का है और महाभारत का कोई 900 वर्ष ई० पू० का। यह सभी जानते हैं कि रामायण और महाभारत में राजा थे। और उनके पास ईश्वरीय शक्ति (Divine Power) थी और इसके बाद जो राज्य व्यवस्था आयी वह विशुद्ध रूप से राजाओं और महाराजाओं की थी और वंश की उत्पत्ति तो शूद्रों से थी। मौर्यवंश के राजा भी वैश्य थे जिनकी उत्पत्ति शूद्र स्त्री से हुई थी। अत: यह एक फिक्शन (Fiction) मात्र ही है कि आधुनिक भारत में जो प्रजातान्त्रिक व्यवस्था है इसका उद्गम वैदिक काल से है। यहाँ हमें आरनॉल्ड टोयनबी (Arnold Toynbee) का उल्लेख भी करना चाहिए। वे सभ्यताओं के मूर्धन्य इतिहासकार थे। वे कहते हैं कि भारतीय सभ्यता की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यह विशेषकर के धार्मिक दृष्टिकोण की है और यहाँ राजा ईश्वरीय (Divine) था। परमात्मा ने उसे भारत पर राज्य करने के लिए पैदा किया था। इस ईश्वरीय भावना को वैधता देने का काम संस्कृत ग्रंथ और संस्कृत लेखक थे। जिन्हें हम पुराण कहते हैं। (ये 18 थे)। वे अपने मूल में अन्य वस्तुओं के साथ शाही परिवार की वंशावली को बताते हैं। यह वंशावली इस बात का प्रयास करती है कि राजा ईश्वर का अवतार है। इन सब प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में आज जो प्रजातांत्रिक व्यवस्था है इसका कोई उल्लेख न तो पुरातत्त्व अवशेषों में है और न संस्कृत ग्रंथों में है। यह वस्तुत: अऐतिहासिक शासन पद्धति है।

दक्षिण एशिया के सभी देश परंपरागत देश हैं। इन सभी में प्रजातंत्र आ गया है। प्रजातंत्र एक विश्वस्तरीय राजनीतिक व्यवस्था है। यह व्यवस्था जब किसी देश में लागू की जाती है तो वह देश इसे अपनी परंपरा के अनुसार अपना प्रत्युत्तर देता है। प्रजातंत्र का एक प्रतिमान होते हुए भी इसके प्रत्युत्तर या इसकी कार्यप्रणाली बदल जाती है। उदाहरण के लिए यही प्रजातंत्र जब पाकिस्तान में पहुँचा तब वहाँ यह मुस्लिम प्रजातंत्र बन गया। प्रजातंत्र का जो स्वरूप ब्रिटेन में है या इस अर्थ में फ्रांस या अमेरिका में है, स्थानीयता के आधार पर इसमें अंतर आ जाता है। भारत के प्रजातंत्र का सामाजिक आधार (Social Base) अपनी विशिष्टता रखता है। यहाँ की सभ्यता बहुत पुरानी है। पीपल

नोट

ऑफ इंडिया (POI) प्रोजेक्ट के अनुसार हमारे इस देश में 4000 से अधिक जातियाँ हैं। यहाँ 18 भाषाएँ हैं जो संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त हैं। इन भाषाओं के अतिरिक्त कोई 1500 बोलियाँ हैं। उत्तर-पूर्व के राज्यों में तो ऐसे गाँव हैं जिनकी अपनी अलग भाषा है। पीपल ऑफ इंडिया बताता है कि हमारे यहाँ 91 सांस्कृतिक क्षेत्र हैं और प्रत्येक संस्कृति के कई उपक्षेत्र हैं। प्रोजेक्ट ने दिलचस्प बात यह बतायी है कि अब प्रत्येक सांस्कृतिक क्षेत्र अपने आपको शक्ति का केंद्र मानकर चलता है। अपनी जातीय पहचान के लिए जोर देता है। इस देश में जहाँ पितृ सत्तात्मक व्यवस्था है वहीं मातृ सत्तात्मक व्यवस्था भी है। संयुक्त परिवार की तुलना में दक्षिण के मातृ सत्तात्मक परिवारों में थारवाड़ संयुक्त परिवार है। धर्म के क्षेत्र में बड़ी विविधता है। यद्यपि हिंदू धर्म इस देश के बहुसंख्यक लोगों का धर्म है। फिर भी कुछ धर्म अल्पसंख्यकों के हैं।

भारत की यह एथनिक विविधता प्रजातंत्र के वैश्विक रूप को एक ऐसा प्रतिमान दे देता है जो इस देश की विशेषता बन जाता है। हमने पिछले पृष्ठों में कहा है कि हमारे देश के लिए प्रजातान्त्रिक व्यवस्था एक नया अनुभव है। यह अवश्य है कि हमारे गाँवों में ब्रिटिशकाल तक स्वायत्तता थी। हेनरी मेन और मेटकॉफ ने तो यहाँ तक कहा है कि भारत का प्रत्येक गाँव एक गणतंत्र है। विदेशी मानवशास्त्रियों का यह कथन पूर्णरूप से तो सही नहीं है। यह इसलिए कि केंद्रीय शासन गाँवों को सुरक्षा देता था, उनसे राजस्व लेता था। लेकिन यह सही है कि गाँवों के आंतरिक मामलों में राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम था। इस संपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जिस प्रजातांत्रिक संविधान की स्थापना हमने सन् 1950 में की है वह हमारा पहला अनुभव है। यहाँ का प्रजातंत्र, यहाँ की सामाजिक संरचना, एथनिसिटी, जातीय सोपान, धार्मिक व्यवस्था, क्षेत्रीयता आदि स्थानीय इतिहास से जुड़ी हुई हैं। ये सब प्रजातंत्र के सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक आधार हैं और इन्हीं के संदर्भ में हम आज देश की जो प्रजातांत्रिक व्यवस्था है, उसका उल्लेख करेंगे।

भारतीय प्रजातंत्र की प्रकृति (Nature of Indian Democracy)

हमारे देश का संविधान इस देश की प्रजातान्त्रिक प्रणाली का बहुत बड़ा दस्तावेज़ है। इस संविधान के आधार पर ही कानून बनाया जाता है। संसद या धारा सभी किसी भी ऐसे कानून को नहीं पारित कर सकती जो संविधान की अवहेलना करे। यह अवश्य है कि संसद संविधान में संशोधन अवश्य कर सकती है और चाहे तो इसे रद्द भी कर सकती है। लेकिन जब तक संविधान लागू है, देश उसी के नियंत्रण में चलता है। न्यायपालिका भी इसमें कोई दखल नहीं कर सकती। दूसरा, यदि सरकार कुछ नीति-निर्धारण करती है तब यह भी संविधान की धाराओं के अंतर्गत ही होता है। इस भाँति संविधान देश के लिये महत्त्वपूर्ण दस्तावेज इसलिये है कि सरकार का कानून, उसकी नीतियाँ और उसके कामकाज सब संविधान के क्षेत्र में आते हैं। संविधान ने प्रत्येक नागरिक को मौलिक अधिकार (Fundamental Rights) दिए हैं। ये अधिकार बोलने की, लिखने की, उपासना करने की स्वतंत्रता से जुड़े हैं। इनके अतिरिक्त राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व हैं। ये निर्देशक तत्त्व इस बात का वादा करते हैं कि राज्य अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों को विशेष सुधार देगा।

यह संविधान ही है जिसने इन अनुसूचित समूहों को आरक्षण दिया है। संविधान ने ही विकास और सुरक्षा के संवैधानिक अधिकार दिए हैं। संविधान की धाराएँ इस बात का प्रयास करती हैं कि एक देश राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक दृष्टि से एक संघ की तरह काम करेगा। इसी कारण यहाँ की केंद्र और राज्य की सरकारें संघात्मक व्यवस्था के नाम से जानी जाती हैं। वस्तुतः भारत एक संघ है जिसमें राज्य है और केंद्रीय शासन है। राज्य और केंद्र के काम करने को क्षेत्रों को भी संविधान ने विभाजित कर दिया है।

ऊपर हमने जो विवरण दिया है उसका सरोकार मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों से है। हमारे यहाँ अमेरिका की तरह दोहरी (Dual) नागरिकता नहीं है। किसी एक राज्य का नागरिक संविधान के अनुसार संपूर्ण देश का नागरिक समझा जाता है। हम संविधान की और प्रजातांत्रिक व्यवस्था की किसी भी विस्तार के साथ यहाँ चर्चा करना उचित नहीं समझते। हम तो केवल यह बताना चाहते हैं कि जो प्रजातान्त्रिक व्यवस्था हमारे यहाँ काम कर रही है, वह संविधान के अंतर्गत इस देश को एक राष्ट्र के रूप में बाँध कर रखती है। आज भारत एक प्रजातान्त्रिक, धर्म निरपेक्ष (Secular) और समाजवादी राष्ट्र है। संविधान और इसके अंतर्गत पिछले 50 वर्षों में

जो नीतियाँ अपनायी गई हैं वे हमारे राष्ट्र की प्रकृति को बताती हैं। यहाँ हम ऐसी कुछ विशेषताओं का वर्णन करेंगे, जो हमारी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की विशेषताएँ हैं–

(1) भारत एक प्रजातान्त्रिक राष्ट्र है (India is a Democratic Nation)–हमने संविधान के सिलसिले में यह कहा है कि भारत एक प्रजातान्त्रिक राष्ट्र है। यहाँ के प्रत्येक नागरिक को लिखने, बोलने और काम करने की स्वतंत्रता है। वह अपने अधिकारों के लिए अदालत में जा सकता है। राज्य और कानून सभी समान हैं। इसी कारण संविधान के अनुसार राज्य व्यक्तियों में लिंग, धर्म और जाति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करता। कानून के आगे सब समान हैं।

(2) यह एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है (It is a Secular Nation)–भारत में जो प्रजातान्त्रिक, समाजवादी और धर्म निरपेक्ष राजनीति है उसके संबंध में के.एम. पणिक्कर बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं:

भारत के प्रजातान्त्रिक, समाजवादी और धर्मनिरपेक्ष राज्य की जड़ें पश्चिम में हैं, हिंदू राज्य में नहीं।

डी.ई. स्मिथ ने भारतीय प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को धर्म निरपेक्ष स्वरूप का विस्तार से विवेचन अपनी पुस्तक इंडिया एज ए सिक्यूलर स्टेट (India as a Secular State, 1963) में किया है। वे कहते हैं कि भारत के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है कि अपने पड़ोसी देशों की तुलना में इसने अपने आपको एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया है। भारत की धर्म-निरपेक्षता पश्चिमी देशों की उदार प्रजातान्त्रिक परपंरा से ली गई है। इस राज्य में व्यक्ति को धर्म की पूरी स्वतंत्रता है। अगर हम भारत की सभ्यता और इसकी परंपरागत संस्थाओं को देखें तो ज्ञात होगा कि यहाँ अतीत में राज्य और धर्म का निकट का संबंध था। यह भी कहा जा सकता है कि यहाँ राज्य और राजा की उत्पत्ति भी धर्म से थी। पुरोहित या ब्राह्मण राजा को राज्य करने की वैधता देते थे। राज्य ही मंदिर और दान के ट्रस्ट बनाता था। मंदिर के साथ में सैकड़ों एकड़ ज़मीन व्यवस्था को बनाए रखने के लिए दी जाती थी। मुसलमान शासकों ने मस्जिदें बनाईं। भारतीय इतिहास के किसी भी काल को हम ले लें तो ज्ञात होगा कि राज्य का संबंध धर्म के साथ था। ऐसे समाज में जब भारतीय संविधान इस राष्ट्र को धर्मनिरपेक्ष घोषित करता है तो यह एक बहुत बड़ी बात है। भारत में जो धर्म निरपेक्षवाद है वह मार्क्सवाद के धर्म निरपेक्षवाद से भिन्न है। मार्क्स धर्म को अपना विरोधी समझते हैं जबकि भारत का धर्म निरपेक्षवाद जो सब धर्मों के साथ समान और आदर भाव रखता है। यहाँ संविधान और राज्य केवल व्यक्ति को नागरिक समझते हैं और वह नागरिक जिसका जाति, धर्म और क्षेत्र से कोई संबंध नहीं हैं। इस तरह भारतीय संविधान में धर्म और राज्य दोनों को अलग-अलग माना है; और इसी तरह राज्य और जाति भी अलग-अलग है। दूसरे शब्दों में, राज्य का धर्म और जाति से कोई संबंध नहीं है।

भारत जैसे पारंपरिक समाज में प्रजातंत्र का इस तरह धर्म और जाति से संबंध-विच्छेद करना, कोई सामान्य बात नहीं है। अब भी यह समाज जाति व्यवस्था में जीवित है, शादी-ब्याह जाति में ही होते हैं। नातेदारी भी जाति में ही है। और यहाँ के तिथि-त्यौहार, मेले-ठेले, व्रत-उत्सव सभी धर्म से बँधे हुए हैं। ऐसी स्थिति में राज्य का धर्म निरपेक्ष होना भी एक बहुत बड़ी विशेषता है।

(3) समाजवादी समाज (Socialistic Society)–संविधान तो आज भी कहता है कि हम भारत में एक समाजवादी समाज की स्थापना करेंगे। लेकिन संविधान की यह धारा, लगता है आदर्शात्मक ही है। इसके पीछे कुछ ऐतिहासिक कारक हैं। सोवियत रूस के पतन के बाद ऐसा लगता है कि दुनियाँ भर में अब पूँजीवाद का कोई विकल्प शेष नहीं है। ऐसी अवस्था में भारत में समाजवादी समाज की स्थाना करना केवल संविधान तक ही सीमित रहेगा। आज के विश्वव्यापीकरण और उदारीकरण के दौर में समाजवादी समाज की कल्पना और भी धुँधली हो गई है।

(4) मानववाद और वैज्ञानिक आचार (Human and Scientific Ethics)–यद्यपि संविधान ने ऐसा कुछ नहीं कहा है कि सरकार की नीतियों को मानववादी चेहरा दिया जाएगा या यहाँ का सरकारी कामकाज वैज्ञानिक आचार यानी युक्तिमूलक (Rational) होगा, फिर भी जो कुछ गतिविधियाँ सरकार कर रही है उनके पीछे मानवीय दृष्टिकोण अवश्य रहता है। नेहरू जी अपने व्यक्तिगत जीवन में पूर्णरूप से धर्म निरपेक्ष थे। उन्होंने अपने व्याख्यानों में बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया है कि हम देश में मानववाद को अपनी नीति का आधार बनायेंगे। गाँधीजी ने भी यह आग्रहपूर्वक कहा है कि सरकार का कामकाज करने का तरीका विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक होना चाहिए। आज

नोट

बार-बार यह कहा जाता है कि सरकार से सूचना लेने का अधिकार (Right to information) नागरिकों को है। यह भी कहा जाता है कि सरकार को अपनी गतिविधियों में पारदर्शिता (Transparency) रखनी चाहिए। इस पारदर्शिता का अर्थ ही है युक्तिमूलक होना।

(5) विकास: राष्ट्र का मुहावरा (Development: The Nation Idiom)—राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्व सरकार द्वारा घोषित और लागू की गई नीतियाँ यह स्पष्ट रूप से बताती है कि हम संपूर्ण देश में आर्थिक विकास करना चाहते हैं। ऐसा लगता है कि यह विकास समाज में एकीकरण ले आएगा। हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ और अन्य कार्यक्रम विकास की लक्ष्य प्राप्त में सहायक होंगे। पिछले कई वर्षों से यह बराबर दोहराया जा रहा है कि हम इस देश में आधुनिकीकरण लाना चाहते हैं। यह आधुनिकीकरण नए मूल्यों का सूत्रपात करेगा।

2.5 प्रजातंत्र: परंपरागत समाज की चुनौतियाँ (Democracy : Challenges of Traditional Society)

प्रजातंत्र को जिस भाँति हमारे देश में स्थापित किया है, निश्चित रूप से वह एक नया अनुभव है। यहाँ लंबे समय से जाति-व्यवस्था रही है और अब ये जातियाँ 4000 से ऊपर तक हो गई हैं। भाषा की भी कुछ यही स्थिति है। हमारे यहाँ तीन भाषा परिवार हैं और इनको संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त 18 भाषाएँ हैं। धर्म की हालत भी कुछ ऐसी ही है। यद्यपि हिंदू बहुसंख्यक हैं फिर भी अल्पसंख्यक धर्मावलंबी संविधान की दृष्टि से सुरक्षित हैं। इन सब सामाजिक आधारों पर हमें राष्ट्र निर्माण करना है। राष्ट्र निर्माण की समस्या कोई हमारी ही हो, ऐसा नहीं है। यह एक प्रक्रिया है जिससे अमेरिका और यूरोप के अनेक राष्ट्र गुजर रहे हैं। सन् 1971 में नाथन **ग्लेज़र** और **डेनियल मोनिहान** की पुस्तक बीयोण्ड दि मेल्टिंग पोट (Beyond the Melting Pot, 1971) प्रकाशित हुई। इन लेखकों ने इस पुस्तक के दूसरे संस्मरण में अपनी पहले संस्करण की भूमिका को बदल दिया। पहले संस्करण में उनका कहना था कि अमेरिका एक ऐसा राष्ट्र है जिसमें कई राष्ट्रीयता (Nationalities) के लोग आते हैं और यहाँ आकर उनका सात्मीकरण हो जाता है। वे अपनी राष्ट्रीयता की पहचान भूल जाते हैं। जैसे उबलते घड़े में सिक्के पिघल जाते है। लेकिन न्यूयार्क शहर के उनके अध्ययन ने इस संपूर्ण थीसिस को बदल दिया। द्वितीय संस्करण में उन्होंने लिखा कि विभिन्न राष्ट्रीयताओं वाले लोग चुनाव में अपना-अपना जोड़ लगाते हैं और वे अनुमान के हिसाब से धड़े बनाकर मतदान करते हैं। मतलब हुआ सात्मीकरण अधूरा है।

हमारे देश में एकाधिक (Plural) संस्कृतियाँ हैं। इन संस्कृतियों ने एकीकरण के सामने समस्याएँ पैदा की हैं। किसी भी राष्ट्र का निर्माण करना एक बहुत बड़ा अनुभव है और इसमें प्रक्रियाओं में से होकर गुजरना पड़ता है। प्रजातंत्र का जो स्वरूप हमारे देश में है वह इस देश की सभ्यता की, इतिहास की और सामाजिक संरचना की प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप है। पाकिस्तान में ये प्रक्रियाएँ जुदा हैं, वहाँ मुसलमानों में ही गला काटने वाला स्तरीकरण है, मुस्लिम संप्रदाय के लोग मुस्लिम संप्रदाय के खिलाफ ही लड़-झगड़ रहे हैं। वहाँ का प्रजातंत्र एक नये दौर से गुजर रहा है। श्रीलंका और म्यांमार की समस्याएँ भी वहाँ की परंपराओं की उपज है। यहाँ प्रजातंत्र को हमारे परंपरागत समाज ने जिन चुनौतियों को रखा है और जो राष्ट्र निर्माण में बाधक हो रही हैं उनका हम निम्न बिंदुओं में उल्लेख करेंगे:

(1) धर्म निरपेक्षता (Secularism)—डी.ई. स्मिथ ने भारत की समस्या का एक विस्तृत सर्वेक्षण किया है और वे कहते हैं कि भारत के लिए अपने आपको एक धर्मनिरपेक्ष राज्य कहना बहुत बड़ी बात है। हमारे इस राज्य में (1) धर्म का संबंध व्यक्ति से है। इसका अर्थ हुआ व्यक्ति को धर्म की स्वतंत्रता है; (2) राज्य का व्यक्ति से संबंध है—यहाँ व्यक्ति एक नागरिक मात्र है; और (3) राज्य के साथ धर्म का संबंध है। इस संबंध में धर्म राज्य से पृथक् अस्तित्व रखता है। राज्य के साथ जो भी संबंध हैं चाहे वे नागरिक के हों, जेंडर के हों, जाति के हों, व्यवसाय के हों, धर्म इसमें कहीं नहीं आता। यह संवैधानिक स्थिति बहुत स्पष्ट है।

जब हम प्रजातंत्र को इस एकाधिक धर्मों की पृष्ठभूमि में काम करते देखते हैं। तो राष्ट्र निर्माण का कार्य

नोट

ढीला पड़ जाता है। सामान्यतया बहुसंख्यक हिंदू धर्मावलंबी अपने हितों के लिए शक्ति के बँटवारे में दखल देते हैं। धर्म चुनावों में निर्णायक नहीं तो महत्त्वपूर्ण भूमिका अवश्य अदा करता है। ऐसे राजनीतिक दल हैं जो एक निश्चित धर्मावलंबियों को राजनीतिक हितों के लिए एक करने का प्रयास करते हैं। कई बार यह नारा भी दिया जाता है कि यह एक हिंदू राष्ट्र है। आजकल एक नई प्रवृत्ति देखने को मिलती है। कुछ धर्मावलंबी ऐसे हैं जो राजनीतिक लाभ के लिए अपने आपको अल्पसंख्यक घोषित करने का प्रयास करते हैं। धर्म द्वारा प्रस्तुत कुछ ऐसी चुनौतियाँ हैं जो राष्ट्र निर्माण में बराबर व्यवधान पैदा करती हैं। बाबरी मस्जिद और राम जन्म मंदिर का मसला और इसी तरह कश्मीर का विवाद अपने मूल में सांप्रदायिक विवाद हैं। हिंदुओं और ईसाईयों के संबंध, हिंदुओं और सिखों के संबंध ऐसे मुद्दे हैं जो धर्म निरपेक्ष राष्ट्र के निर्माण में आड़े आते हैं। सीधा मतलब हुआ कि प्रजातंत्र इस परंपरागत समाज में आकर धर्म से आहत हो गया। यूरोप और अमेरिका में ईसाई धर्म हमारे यहाँ हिंदू धर्म की तरह बहुसंख्यक नागरिकों का धर्म है। लेकिन वहाँ कम से कम आज के इस ऐतिहासिक मोड़ पर धर्म और राज्य एकदम जुदा-जुदा हैं।

(2) **भाषा** (Language)–**सेलिग हेरिसन** ने सन् 1960 में यह कहा था कि भारत में प्रजातंत्र को सबसे बड़ा खतरा भाषा से होगा। नेहरू जी हेरिसन से बहुत प्रभावित थे। यह सही है कि आज देश में भाषाई दंगे नहीं हुए हैं। लेकिन दबी जबान से बराबर यह कहा जा रहा है कि हिंदी को राष्ट्रभाषा का दर्जा नहीं दिया जाना चाहिए। द्रविड़ भाषा परिवार के लोग हिंदी का घोर विरोध करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हम शिक्षा के माध्यम के लिए किसी एक भाषा को स्वीकार नहीं कर पाये हैं। भाषा के आफिसियल एक्ट के अनुसार, सरकारी काम-काज में हिंदी के साथ हमें अंग्रेजी का अनुवाद देना आवश्यक है। भाषा की इस विविधता ने राष्ट्र को अंत:क्रिया के क्षेत्र में पीछे धकेल दिया है।

(3) **जाति** (Caste)–संविधान ने नागरिकों में जातिगत भेदभाव रखने को स्वीकृति नहीं दी है। व्यावहारिक जीवन में स्थिति कुछ दूसरी है। आज भारतीय जीवन में जाति का बहुत बड़ा महत्त्व है। बड़ी विचित्र स्थिति है–आम आदमी जाति की जीवन शैली में जीवित रहता है। उसका, खाना, पहनावा, तिथि-त्यौहार, व्रत-उत्सव, शादी-ब्याह सभी जाति के दायरे में निर्धारित होते हैं। ऐसा आदमी जब अपने कार्यालय में सरकारी काम करने के लिए जाता है तो अपनी जाति पद्धति को किसी पुराने कोट की तरह घर की खूँटी पर लटकाकर नहीं जाता अर्थात् यह नहीं होता कि कार्यालय में तो उसकी कोई जाति व धर्म नहीं है, कोई सांस्कृतिक क्षेत्र नहीं है और वह पूर्ण रूप से नागरिक है और घर आकर वह इस लबादे को ओढ़ लेता हो। वास्तविकता यह है कि जाति का प्रभाव राजनीतिक प्रक्रियाओं, चुनाव के लिए उम्मीदवारों के चयन, मंत्रिमंडल बनाने की प्रक्रिया में, नियुक्ति व स्थानांतरण में, कहीं भी जाति का प्रभाव कम नहीं होता। **रुडोल्फ और रुडोल्फ** (Lioyd Rudolph and Susanne Rudolph) ने 1960 में भारत के राष्ट्रीय एकीकरण पर यह कहा था किस देश में चाहे कितने ही राजनीतिक दल चुनाव में उतरे, सबसे ताकतवर दल तो जातियों का दल है। बहुत स्पष्ट है भारत की राजनीति में जाति-व्यवस्था की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है। सेलिग हेरिसन ने आंध्र प्रदेश की चुनाव प्रक्रिया का अध्ययन किया था। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस प्रदेश में कम्युनिस्ट पार्टी की बहुत बड़ी ताकत जातियाँ हैं। जितना महत्त्व जातियों का है उतना महत्त्व शायद किसी विचारधारा या चुनावों का नहीं है। आंध्रप्रदेश में ही देखिए वहाँ कम्मा (Kamma) बड़े भू-पति और चुनावों में उनकी भूमिका उल्लेखनीय है। दूसरी ओर रेड्डी भी बड़े भू-पति हैं, आंध्र की राजनीति के मुख्य प्रणेता हैं। कुल मिलाकर हम यह कहना चाहते हैं कि संविधान की दृष्टि में आज जातियों का कोई अस्तित्व नहीं है लेकिन राष्ट्र की जीवनधारा में जाति सब कुछ है। ऐसी अवस्था में राष्ट्र निर्माण का कार्य कौन-सी दिशा लेगा।

(4) **संस्कृति** (Culture)–भारत के राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में सबसे बड़ी समस्या संस्कृति की है। इस राष्ट्र का एक गौरवपूर्ण अतीत है। इसके खाते में कोई 500 वर्ष पहले की महान सभ्यताएँ हैं–मोहनजोदड़ो और हड़प्पा। राज्य का इस तरह की संस्कृति के प्रति क्या दृष्टिकोण होना चाहिए, यह एक बहस का मुद्दा है। एक विचारधारा भारतीय संस्कृति को हिंदू संस्कृति मानता है और इस संस्कृति में जो गैर-हिंदू तत्त्व आए हैं वे प्रदूषण फैलाने वाले प्रभाव ही हैं। इस विचारधारा के समर्थक कुछ राजनीतिक दल हैं। यह भी कहा जाता है कि जो गैर-हिंदू समुदाय इस देश में हैं उन्हें हिंदू संस्कृति को अपनाना पड़ेगा। वास्तव में हिंदू और मुस्लिम साप्रंदायिकता की समस्या इस देश में एक ऐतिहासिक समस्या है। इस समस्या के निराकरण के लिए कुछ विचारकों ने भारत के लिए एक

नोट

मिश्रित अर्थात् कंपोज़िट (Composite) संस्कृति की बात कही है। इस तरह की मिश्रित संस्कृति ऐसी होगी जो विभिन्न संस्कृतियों के मुख्य तत्त्वों को ग्रहण करेगी। नेहरू जी ने अपनी पुस्तक **द डिस्कवरी ऑफ इंडिया** (The Discovery of India, 1946) में अपने विचार कंपोज़िट कल्चर के बारे में स्पष्ट किए हैं वे कहते हैं कि भारतीय संस्कृति को हिंदू कहना भ्रमपूर्ण है। एक बौद्ध को लें या एक जैन को, इन दोनों की जड़ें, इनकी विचारधारा और संस्कृति पूर्णतया भारतीय है। यह होते हुए भी न तो बौद्ध या न जैन ही हिंदू हैं। नेहरू जी यह स्वीकार करते हैं कि प्रारंभ में हिंदू जीवन पद्धति और दर्शन वास्तव में भारतीय संस्कृति ही थे लेकिन बाद में इस देश में मुसलमान आए, अंग्रेज आए और इन सबने यहां की हिंदू संस्कृति को प्रभावित किया। ऐसी स्थिति में आज के संदर्भ में भारतीय संस्कृति तो एक कंपोज़िट कल्चर ही हो सकती है।

संस्कृति के क्षेत्र में जो विवाद है वह आज दोराहे पर खड़ा है: एक विचारधारा के अनुसार भारतीय संस्कृति हिंदू संस्कृति है; और दूसरी विचारधारा के अनुसार भारतीय संस्कृति मिश्रित यानी मिली-जुली संस्कृति है। ऐसा लगता है कि इस देश के लिए मिश्रित संस्कृति को ही विकसित करना उचित है। भारतीय संस्कृति को हिंदू संस्कृति कहना तथ्यों के आधार पर गलत है। लेकिन यहाँ हमें तुरंत कहना चाहिए कि हिंदू संस्कृति आज भी एक शक्तिशाली और व्यापक संस्कृति है। इसी संस्कृति ने जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, को विकसित किया है।

भारत सरकार ने संस्कृति के इस मसले को सुलझाने का प्रयास किया है। सरकार देश भर के सांस्कृतिक संगठनों और साहित्यिक संस्थानों को आर्थिक मदद देती है ताकि ये सब संस्कृतियाँ विकसित हो सकें। सरकार विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों के दिग्गज नेताओं, साहित्यकारों और कलाकारों को भी आर्थिक सहायता देती है। भारत सरकार सांस्कृतिक मंत्रालय कुछ अकादमियों को भी आर्थिक सहायता देता है। उदाहरण के लिए संगीत नाटक अकादमी, कला के माध्यम से संपूर्ण राष्ट्र में एकता लाने का प्रयास करती है। यह अकादमी राज्य की अकादमियों के साथ अपने आपको जोड़ती है और सांस्कृतिक तथा साहित्यिक आयोजनों का प्रयास करती है। साहित्य अकादमी विभिन्न भाषाओं में एकता स्थापित करने का काम करती है। इसी तरह ललित कला अकादमी, चित्रकला, शिल्पकला और वास्तुकला को विकसित करने का काम करती है।

संस्कृति का मंत्रालय विदेशों के साथ भी सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने का प्रयास करता है। वे लोग जो संस्कृति के प्रसार और प्रचार के लिए प्रवास पर जाते हैं और उन्हें आर्थिक सहायता भी दी जाती है। सामान्यतया सांस्कृतिक मामलों का यह मंत्रालय भारतीय संस्कृति के उन पहलुओं को भी विकसित करता है जो धर्मनिरपेक्ष हैं। उदाहरण के लिए भारत नाट्यम दक्षिण भारत का शास्त्रीय नृत्य है। देखा जाए तो इसका विकास दक्षिण के मंदिरों में हुआ है और इसलिए इसकी प्रकृति धार्मिक है। यह नाट्यम हिंदुओं की पूजा का एक अंग है। लेकिन आज इसे धर्म का एक अंग न मानकर कला के रूप में समझा जाता है। सरकार इसके विकास के लिए धन देती है। कोलकाता में रामकृष्ण मिशन हिंदू होते हुए भी भारतीय संस्कृति का एक अंग समझा जाता है और इस कारण इसे भी बहुत बड़ी आर्थिक सहायता दी जाती है। अगर हम विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखें तो भारतीय संस्कृति का सरकार का जो बोध (Perception) है वह एक **कंपोज़िट कल्चर** का है।

भारत में जो प्रजातान्त्रिक व्यवस्था है वह भारतीय संस्कृति, परंपरा भाषा और कला का ही एक स्वरूप है। हम जब इस तरह की परंपरागत सामाजिक व्यवस्था में राष्ट्र निर्माण करना चाहते हैं तब चुनौतियाँ आना स्वाभाविक है; इसका मूल कारण यह है कि प्रजातंत्र की अवधारणा, उसकी धर्म निरपेक्षता, अपने मूल में यूरोप की है; इसकी जड़ें वहाँ है। यहाँ जब हम इसे अमली जामा पहनाते हैं तो हमारी सामाजिक व्यवस्था इसे प्रभावित अवश्य करती है। हमारी सामाजिक संस्थाएँ जैसे जाति, गाँव, पंचायतें, स्त्रियों की स्थिति, उपनिवेशवादी-सामंतवादी मनोवृत्तियाँ इसे प्रभावित अवश्य करती हैं। हम किसी भी धर्म निरपेक्ष योजना को लागू करते हैं तब सामाजिक और सांस्कृतिक चुनौतियाँ मुँह बाये खड़ी हो जाती हैं। यूरोप और अमेरिका में प्रजातंत्र के सामने प्रजातिवाद का मसला आ जाता है। इन कठिनाइयों और चुनौतियों के होते हुए भी हमने इस देश में प्रजातंत्र को विकसित होने के लिए अच्छे अवसर दिए हैं। पाकिस्तान में ऐसा नहीं हुआ है। वहाँ प्रजातंत्र को फौजी हुकूमत ने कई बार ललकारा है। श्रीलंका में भी स्थिति निरापद नहीं है। लेकिन किसी भी राष्ट्र के निर्माण में इस तरह की चुनौतियाँ आना कोई नई बात नहीं है।

अध्याय के इस भाग में हम कहना चाहते हैं कि इस देश में सभी वस्तुएँ राजनीतिक इसलिए है कि यहाँ प्रजातंत्र की मौजूदगी है। वर्षों तक राजनीतिक प्रताड़ना से पीड़ित यह समाज अपनी दबी हुई अपेक्षाओं को पूरा करना चाहता है। भारतीय समाज वस्तुत: एक कृषक समाज है। इसने अपना संपूर्ण जीवन गरीबी में काटा है। इसे सामाजिक रूप से दबाया गया है और अब इसलिए यह अपनी राजनीतिक पहचान बनाना चाहता है और यह इसी कारण है कि परंपरागत संस्थाएँ–संयुक्त परिवार, जाति, नातेदारी, गाँव इत्यादि प्रजातंत्र की लड़ाई पूरी ताकत से लड़ना चाहती है। यहाँ अल्पसंख्यकों की समस्याएँ अनेक हैं। दलितों की त्रासदी जुदा है और ये सब चाहते हैं कि उन्हें मुक्ति मिले।

2.6 राजनीतिक दल और उनके सामाजिक आधार (Political Parties and their Social Base)

हमारे यहाँ दलीय राजनीतिक व्यवस्था है। ये राजनीतिक दल देश की विभिन्न सामाजिक और आर्थिक उद्देश्यों को पूरा करने में सहायक हैं। राजनीति के क्षेत्र में ये दल यह प्रयास करते हैं कि देश एकाधिक सांस्कृतिक और आर्थिक समूहों की अपेक्षाओं की पूर्ति करें। इस पूर्ति का कानूनी दस्तावेज़ हमारा संविधान है। यह राजनीतिक दलों के माध्यम से है कि देश के बारे में नीति और सामाजिक विधान बनाने के लिए हम उम्मीदवारों की भर्ती करते हैं। सरकार के विभिन्न विभागों पर दलों के नुमाइंदे अपना प्रभुत्व स्थापित करते हैं और इस तरह विकास के लिए एक नेतृत्व तैयार करते हैं। प्रजातंत्र के विभिन्न स्वरूप हैं। किसी प्रजातंत्र में बहु राजनीतिक दल व्यवस्था (Multi Party System) होती है और ऐसे भी प्रजातंत्र हैं जहां केवल एक ही राजनीतिक दल होता है।

जहाँ बहु राजनीतिक दल होते हैं, वह प्रजातंत्र उदार होता है। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन का प्रजातंत्र। यहाँ तीन राजनीतिक दल हैं: कंजरवेटिव, लिबरल और लेबर। ये राजनीतिक दल प्रति पाँच वर्ष चुनाव लड़ते हैं। ब्रिटेन के प्रजातंत्र की तरह अमेरिका फ्रांस और जर्मनी में भी प्रजातंत्र है। प्रजातंत्र का दूसरा प्रकार एकल राजनीतिक दल (Single Political Party) होता है। ऐसे प्रजातंत्र का दृष्टांत अफ्रीका के देश हैं जैसे कि केनिया और जिम्बाब्वे। वास्तव में किसी भी देश में राजनीतिक दलों की संख्या इस बात पर निर्भर करती है कि उस देश में विकास कितना है। इन प्रजातान्त्रिक देशों के संदर्भ में हम भारत की राजनीतिक दलीय स्थिति और उसके सामाजिक आधारों (Social Bases) का यहाँ उल्लेख करेंगे। सामाजिक आधार का तात्पर्य यह है कि प्रजातंत्र शून्य में नहीं चलता। इसे चलाने वाले पंच, विधायक और सांसद किसी न किसी जाति, धर्म, संस्कृति और एथनिसिटी का प्रतिनिधित्व करने वाले होते हैं। ऐसी स्थिति में इन प्रतिनिधियों की जो सामाजिक पृष्ठभूमि होती है, वही प्रजातंत्र की रचना करती है। उदाहरण के लिए यदि किसी विधानसभा में उच्च जातियों के सदस्य अधिक होते हैं, तो निश्चित रूप से इनके निर्णय उच्च जातियों के हित में होंगे और दलितों की त्रासदी चलती रहेगी। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक हो जाता है कि हम देखें की राजनीतिक दलों का मेनीफेस्टो यह चुनाव किस सामाजिक वर्ग का हितकारक है। राजनीतिशास्त्र के विद्वान सामाजिक आधारों को राजनीतिक बुनियाद (Infrastructure) कहते हैं।

समाजशास्त्री राजनीतिक दलों का अध्ययन किस प्रकार करता है? (How do Sociologists Study Political Parties?)

राजनीतिक समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र से कई अर्थों में भिन्न है। इसकी बहुत बड़ी भिन्नता यह है कि यह राजनीतिक दलों के संगठनों और इसके गतिशीलता (Dynamics) का अध्ययन करता है। राजनीतिक समाजशास्त्र यह भी देखता है कि हमारे राजनीतिक नेताओं की सामाजिक पृष्ठभूमि कैसी है? यह सामाजिक पृष्ठभूमि ही विधानसभा और संसद में इसके व्यवहार को निर्धारित करती है। समाजशास्त्री देखता है कि राजनीतिक दलों की विचारधारा कैसी है? यह भी राजनीतिक समाजशास्त्र का क्षेत्र है कि शक्ति का बँटवारा किस तरह केंद्र से लेकर पंचायत तक होता है। अगर हम राजनीतिक दलों के सैद्धांतिक अध्ययनों का उल्लेख करें तो यह कहना पड़ेगा कि जर्मन समाजशास्त्री रोबर्ट मिचेल्स (Michels) इस क्षेत्र में अग्रणी हैं। वे कहते हैं कि राजनीतिक दलों का नेतृत्व सामान्यतया कुलीनतंत्र (Oligarchy) के हाथ में होता है। इन रईसज़ादों की प्रवृत्ति अधिकारीतंत्र की परंपरा में होती है। इस तरह का नेतृत्व अपने वर्ग और स्वयं के उद्देश्यों की पूर्ति में रुचि रखता है। आमूलचूल परिवर्तन (Radical Change) इसका कभी मिजाज़ नहीं होता। सामान्यतया राजनीतिक दलों का नेतृत्व रूढ़िवादी होता और कभी

नोट

क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए तैयार नहीं होता। राजनीतिक दलों का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के विद्वान भी करते हैं लेकिन वे इन दलों के सामाजिक आधार पर अपेक्षित रूप से कम ज़ोर देते हैं।

यदि हम प्रजातान्त्रिक देशों के कामकाज को देखें तो तुरंत ज्ञात होगा कि यह नेतृत्व उदारवादी होता है और प्रतिनिधिमूलक प्रजातंत्र पर ज़ोर देते हैं। प्रजातान्त्रिक देशों के परिवेश को देखने से ज्ञात होता है कि इस व्यवस्था में शक्ति का केंद्रीकरण प्राय: उन हाथों में होता है जो आर्थिक रूप से शक्तिशाली हैं। कुछ समय पहले सी. राइट मिल्स (C.Wright Mills) ने अमेरिका शासन व्यवस्था पर एक सवाल जड़ा था। सवाल था–अमेरिका पर कौन शासन करता है? इस अध्ययन के निष्कर्ष में वे कहते हैं कि अमेरिका पर राजनीतिज्ञों यानी **व्हाइट हाउस** (White House) के लोगों की शक्ति चलती है। इन लोगों की अतिरिक्त फौज़ और पूँजीपति अमेरिका की राजनीति को चलाते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहना पड़ेगा कि अमेरिका की राजनीति की दौड़ व्हाइट हाऊस, फौज़ और पूँजीपतियों के हाथों में होती है। भारत के संदर्भ में भी अगर हम निश्चित हो जाएँ कि राजनीतिक दलों की कैसी विचारधारा है? तब हमें राजनीति कैसी है?, इसका ज्ञान हो जाएगा।

भारतीय राजनीतिक दलों के सामाजिक आधारों को समझने के लिए हमें यह स्पष्ट रूप में कहना चाहिए कि समाज या सामाजिक समूहों की जैसी सामाजिक संरचना होती है, उसी के अनुसार राजनीतिक दलों के सामाजिक आधार बन जाते हैं। हमने पिछले पृष्ठों में **पीपल ऑफ इंडिया** प्रोजेक्ट का उल्लेख करते हुए कहा है कि अब देश में स्थानीय समूह या क्षेत्र निश्चयपूर्वक या बलपूर्वक अपनी माँगों को प्रस्तुत करते हैं। और यह इसी का परिणाम है कि क्षेत्रीय दलों का निर्माण पिछले एक दशक में तेजी से हुआ है। बिहार में सारा समाज दो भागों में बँटा हुआ है। एक भाग पिछड़ी जातियों का है और दूसरा अगड़ी जातियों का। पिछली जातियों का संघर्ष प्रारंभ में ब्राह्मणवाद के खिलाफ था। बाद में यह खिलाफत बिहार के सामंतों और जमींदारों की प्रतिनिधि जातियों और मुख्य रूप से राजपूत, ब्राह्मण, भूमिहार और कायस्थों के खिलाफ गया। बाद में चलकर यादव भी दलितों के साथ हो गए। वास्तव में यादव दलितों और उच्च जातियों के बीच में हैं। अगर हम सन् 1931 की जनगणना से प्राप्त आँकड़ों को देखें (आज जातियों के कोई आँकड़े एकत्र नहीं किए जाते) तो ज्ञात होगा कि समूचे बिहार की अबादी का 13 प्रतिशत हिस्सा अगड़ी जातियों का था जिसमें 4.7 प्रतिशत ब्राह्मण, 2.9 प्रतिशत भूमिहार, 4.2 प्रतिशत राजपूत और 1.2 प्रतिशत कायस्थ थे। दूसरी ओर पिछड़ों की कुल आबादी 51 प्रतिशत थी जिसमें अति पिछड़ों की आबादी 32 प्रतिशत और पिछड़े वर्ग में संपन्न जातियों की आबादी 19.3 प्रतिशत थी। इसके अलावा मुसलमान 12.5 प्रतिशत, दलित, 14.4 प्रतिशत और आदिवासी 9.1 प्रतिशत थे। इन आँकड़ों से जाहिर है कि 13 प्रतिशित अगड़ी जातियाँ बाकी 87 प्रतिशत आबादी पर दबदबा बनाए हुई थी। 13 प्रतिशत अगड़ी जातियाँ वे थीं जिनका जमीन पर मालिकाना हक तो था वे खुद खेती के काम में नहीं लगी थीं जबकि दूसरी तरफ 87 प्रतिशत आबादी खेती, दस्तकारी, मजदूरी आदि काम में लगी थीं।

सन् 1931 में बिहार का क्षेत्रीय समाज जो कुछ था उसके आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वहाँ के समाज में बहुत बड़ी विषमता है। बिहार में आज अनेक राजनीतिक दल हैं। इन राजनीतिक दलों में क्षेत्रीय और राष्ट्रीय दोनों दल सम्मिलित हैं। इसी कारण वहाँ जो सरकार बनती है वह गठबंधन (Coalition) की सरकार बनती है। राजनीतिक दलों के सामाजिक आधार पर जो हम थीसिस रख रहे हैं वह यह है कि **जैसा क्षेत्रीय समाज होगा वैसा ही राजनीतिक दल होगा। यदि क्षेत्रीय समाज में चौंकाने वाली विषमता होगी तो उस क्षेत्र में अधिक क्षेत्रीय दल होंगे।**

राष्ट्र की राजनीतिक स्थिति को समझने के लिए हमें राज्य स्तर की राजनीति को भी समझना आवश्यक है। रजनी कोठारी ने पोलिटिक्स इन इंडिया (Politics in India, 1970) में राजनीतिक दलों के सामाजिक आधारों का एक उद्विकासीय वृतांत प्रस्तुत किया है। स्वतंत्रता से पहले हमारे यहाँ एक ही दल था और वह सभी गतिविधियों का केंद्र था। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी एक देशव्यापी राजनीतिक दल था और इसका संगठनात्मक ढाँचा संपूर्ण देश में फैला हुआ था। इस दल में अभिजनों (Elites) का आकार छोटा था। ये अभिजन सजातीय (Homogeneous) थे। इन अभिजनों की सामाजिक पृष्ठभूमि एक समान थी और ये प्राय: उच्च जाति के तथा अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग थे। इनका वर्ग भी एक ही था।

कांग्रेस पार्टी में जो विरोधी दल था वह वास्तव में उन लोगों का था जो या तो समाजवादी थे या जिनका कांग्रेस के साथ विचारों का मतभेद था। विरोधी दल अपनी सामाजिक पृष्ठभूमि में भी कांग्रेस से भिन्न नहीं थे। दूसरी

नोट

ओर कांग्रेस पार्टी के जो सामान्य लोग थे वे निम्न वर्गों, आदिवासियों और विभिन्न धर्मावलम्बियों के थे। इस संबंध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कांग्रेस पार्टी का सामाजिक आधार आम जनता का था।

संविधान लागू होने के बाद जब चुनाव हुए तब हमारे यहाँ कुछ और राजनीतिक दल बने। ये दल विचारों की दृष्टि से तो राष्ट्र का विकास करने वाले थे लेकिन इनका सामाजिक आधार जुदा-जुदा था। उदाहरण के लिए स्वतंत्र पार्टी राजा-महाराजा, ठाकुर और धनिक लोगों की थी। सन् 1951 के चुनाव के बाद राजनीतिक दलों की संख्या में सामान्यतया वृद्धि होती गई। पिछले वर्षों में जो भी राजनीतिक दल उभर कर आए हैं उन्हें हम सामान्यतया दो श्रेणियों में रख सकते हैं–(1) राष्ट्रीय दल, और (2) क्षेत्रीय दल। राष्ट्रीय दल वे हैं जिनका विस्तार और व्यापकता संपूर्ण देश में होती है। किसी भी दल को राष्ट्रीय दल घोषित करने के लिए चुनाव आयोग ने कुछ कसौटियाँ निर्धारित की हैं। राष्ट्रीय दलों में कांग्रेस, कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय जनता पार्टी, जनता दल और बहुजन समाज पार्टी सम्मिलित हैं। दूसरी श्रेणी में वे राजनीतिक दल हैं जिन्हें क्षेत्रीय दल कहा जाता है। ये दल किसी राज्य विशेष या क्षेत्र में पाए जाते हैं। ऐसे दलों में समता पार्टी, समाजवादी पार्टी, शिरोमणी अकाली दल, तेलगु देशम, द्रविड़ मुणेत्र कड़गम (DMK), असम गणपरिषद्, अन्ना द्रविड़ मुणेत्र कड़गम, हरियाणा विकास पार्टी आदि सम्मिलित हैं। इन राजनीतिक दलों के सामाजिक आधार हैं, चुनाव कार्यक्रम हैं, मेनीफेस्टो है। यह सब होते हुए भी कई राजनीतिक दल एक दल से निकलकर, नेतृत्त्व की प्रतियोगिता के कारण नए दल संगठित हो जाते हैं। ऐसे दलों का न तो कोई निश्चित सामाजिक आधार होता है और न कोई निश्चित मेनीफेस्टो। विचारधारा की दृष्टि से तो यह सब राजनीतिक दल एक समान दिखायी देते हैं। इस कमजोरी के होते हुए भी हम कुछ दलों के सामाजिक आधारों को देखेंगे।

कांग्रेस पार्टी (Congress Party)–इस दल की स्थापना स्वतंत्रतापूर्वक, सन् 1885 में हुई थी। तब इस दल का आधार विशाल भारतीय समाज था। इसका कार्यक्रम भी बहुत निश्चित था। और निश्चित कार्यक्रम यह कि उपनिवेशवादी शासन को हराकर देश को स्वतंत्र करना। इसका नेतृत्व शिक्षित लोगों का था। ये लोग उच्च वर्ग और जातियों के थे। महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, अबुल कलाम आज़ाद, राजेंद्र प्रसाद आदि कांग्रेस के राष्ट्रीय नेता थे। कांग्रेस की नीति एक ऐसी अर्थनीति की स्थापना करना था जो मिश्रित हो। इसका उद्देश्य आधुनिकीकरण का रहा है। मजदूर, किसान, दस्तकार, विद्यार्थी और उच्च जातियाँ इसका सामाजिक आधार रहे हैं।

भारतीय जनता पार्टी (Bhartiya Janta Party)–भारतीय जनता पार्टी में हिंदू महासभा के रूप (1937) में बनी और वीर सावरकार इसके अध्यक्ष थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद यह संस्था जनसंघ के रूप में सामने आयी। जनसंघ ने कांग्रेस को एक राष्ट्रीय पार्टी के रूप में पहली बार चुनौती दी। आज इस पार्टी ने अपनी व्यापकता देशव्यापी कर ली है। यह समझा जाता है कि इस पार्टी का जनाधार या सामाजिक आधार व्यापारियों और मध्यम वर्गों का है। यद्यपि यह पार्टी मुसलमानों और आदिवासियों को भी अपना सदस्य बना रही है। फिर भी ऐसा समझा जाता है कि ब्राह्मण, बनिए और क्षत्रिय इसके समर्थक हैं।

साम्यवादी दल (Communist Party)–यह बहुत पुराना राजनीतिक दल है। इस दल में विचारधारा को लेकर कई परिवर्तन आए हैं। सन् 1961 में यह दो भागों में विभाजित हो गई–(1) **कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया** (मार्क्सवादी) और (2) **कम्यूनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया**। यह पार्टी सामान्यतया मजदूरों को अपना सामाजिक आधार मानती है लेकिन जब से इसकी स्थापना हुई है किसानों के सहयोग को भी इसने प्राप्त कर लिया है। आज तो यह स्थिति हो गई है कि पश्चिमी बंगाल में इस पार्टी ने किसानों को उनके स्वायत पट्टे दे दिए हैं और इसके परिणामस्वरूप इस राज्य के खाद्यान्न उत्पादन में भी वृद्धि हुई है।

राष्ट्रीय दलों के अतिरिक्त हमारे यहाँ कुछ स्थानीय या क्षेत्रीय दल भी हैं। ऐसे दलों में डी.एम.के., ए.डी.के., अकाली दल, हरियाणा विकास दल आदि हैं। दक्षिण भारत के क्षेत्रीय दल वास्तव में उच्च जातियों के विरोधी हैं। यह होते हुए भी सारे देश के क्षेत्रीय दल अपनी स्थानीय समस्याओं को लेकर बने हैं। उनकी कुछ समस्याएँ तो केवल राजनीतिक हैं और जनता या क्षेत्र की समस्याओं से उनका कोई सरोकार नहीं है। व्यवहार में ये राजनीतिक दल कुछ भी करें लेकिन प्रकट रूप से इन सब राजनीतिक दलों का सामाजिक आधार निम्न वर्ग और निम्न जातियाँ हैं।

नोट

2.7 राजनीतिक अभिजन की सामाजिक संरचनात्मक उत्पत्ति और उनकी स्थिति (Social Structural Origin of Political Elites and their Position)

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभिजन होते हैं। अगर हम किसी भी समाज के विभिन्न क्षेत्रों में देखें तो प्रत्येक में एक या अधिक अभिजन मिलते हैं। सामान्य भाषा में अभिजन का मतलब होता है बड़ा आदमी। कोई बड़ा व्यापारी होता है, कोई वकील, कोई चिकित्सक या कोई प्रोफेसर। गाँव में भी इसी तरह बड़े किसान होते हैं, गाँव का साहूकार होता है, गाँव का छोटा-मोटा नेता होता है और दफ्तर में तो हम जानते हैं बड़ा बाबू होता है, और बड़े अफसर होते हैं। ये सब व्यक्ति अभिजन होते हैं। समाज पर उनका प्रभाव होता है और आम आदमी उन्हें आदर या सम्मान देता है। और फिर एक बात होती है कि हमारी जातीय गैर-बराबरी में, प्रत्येक जाति में एक या बड़े अभिजन होते हैं और जाति के लोग उनके प्रभाव को मानते हैं। धर्म में भी कुछ ऐसा ही होता है। शंकराचार्य का स्थान हिंदू धर्म में अभिजन का स्थान है; वे धार्मिक गुरु हैं। जैन धर्म महाराज अभिजन होते हैं और जीवन का इस तरह कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है जिसमें अभिजन न हो।

समाजशास्त्र में अभिजन का ताल्लुक सामाजिक स्तरीकरण से है और इसलिए हम जिसे अभिजन कहते हैं उसका निश्चित संबंध समाज से है। अभिजन सापेक्षिक है और उसे बड़ा समाज के संदर्भ में समझा जाता है। समाज के कई क्षेत्र हैं—कला, साहित्य, अर्थव्यवस्था, राजनीति, व्यवसाय इत्यादि। इन सभी क्षेत्रों में अभिजन अर्थात् विशिष्ट व्यक्ति होते हैं; और कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो इन विभिन्न क्षेत्रों को छलांग मारकर राष्ट्रीय अभिजन बन जाते हैं। औद्योगिक क्षेत्र में बिड़ला, डालमिया, सिंघानिया, टाटा आदि अभिजन है। समाजशास्त्र में देखें तो इसमें भी अभिजन हैं। कई विशिष्ट व्यक्तियों के नाम इस तालिका में जोड़े जा सकते हैं। बॉलीवुड के अभिजन अलग हैं और ऐसे अलग अभिजन है जिनका प्रभाव संपूर्ण भारतीय समाज पर है। ऐसे अभिजनों को हम कभी-कभी महान् व्यक्ति भी कहते हैं। अभी तक हमने कई दृष्टांतों को देकर यह बताने का प्रयास किया है कि अभिजन विशिष्ट होता है। अपने एक निश्चित क्षेत्र में वह आदरणीय होता है और दूसरा, उसकी अभिजन स्थिति उसके समाज की सापेक्षिक होती है।

समाजशास्त्र में अभिजन की अवधारणा (Concept of Elite in Sociology)

समाजशास्त्र का साहित्य अभिजन के क्षेत्र में समृद्ध है। व्यवस्थित रूप से अभिजन की चर्चा पेरेटो ने अपनी पुस्तक **'माइण्ड एंड सोसाइटी'** में की थी। उन्होंने इस सिद्धांत को स्थापित किया कि समाज पर हमेशा अभिजन का प्रभाव होता है तथा वे ही प्रशासक होते हैं। उन्होंने दो प्रकार के अभिजन का वर्गीकरण किया है। पहले विभाजन वे हैं जो हुकूमत करते हैं। इन्हें पेरेटो ने हुकूमत करने वाले अभिजन (Ruling Elite) कहा है। ये अभिजन बराबर बदलते रहते हैं। इसलिए पेरेटो का सिद्धांत **अभिजनों का परिभ्रमण** (Circulation of Elites) कहलाता है। वास्तव में देखा जाए तो पेरेटो ने **पॉवर अभिजन** (Power Elite) की बात पहली बार सिद्धांत के रूप में रखी है। आधुनिक समाजशास्त्र में पावर अभिजन की बात व्यवस्थित रूप से रखने का श्रेय सी. राइट मिल्स (C. Wright Mills) को है। उनकी पुस्तक का नाम ही पॉवर इलिट (Power Elite 1956) है। मिल्स ने बताया कि अमेरिका पर शासन करने वाले जो समूह हैं वे मुख्य रूप से तीन हैं—(1) उद्योगपति, (2) अधिकारीतंत्र, (3) सेना के नेता। ये तीनों अभिजन पॉवर अभिजन हैं। इन तीनों में एक अद्भुत गठबंधन है और ये मिलजुल कर अमेरिका पर अपना शासन करते हैं इस तरह हम जिसे पॉवर अभिजन (Power Elite) कहते हैं, उस अवधारणा के जनक **सी.राइट मिल्स** हैं।

शक्ति अभिजन पर मिल्स के अतिरिक्त कई अन्य समाजशास्त्रियों ने भी काम किया है। इनमें लास्वेल (Lasswell), मेनहाइम (Mannheim), मार्क्स (Marx), बोटोमार (Bottomore), रैसमेन (Reisman) और फ्लोइड हंटर (Floyd Hunter) सम्मिलित हैं। इन समाजशास्त्रियों ने सामान्य अभिजन की चर्चा की है। लेकिन कुछ ऐसे समाजशास्त्री हैं जिन्होंने केवल शक्ति अभिजन की ही व्याख्या की है। उदाहरण के लिए पेरेटो शक्ति अभिजन को हुकूमत का अभिजन कहते हैं। रैसमेन ऐसे अभिजन को वीटो ग्रुप (veto Group) कहते हैं। कार्ल मार्क्स पावर अभिजन को सत्ता वर्ग (Ruling Class) कहते हैं और हंटर उन्हें चोटी के नेता (Top Leaders) की तरह परिभाषित करते हैं।

भारत में पॉवर अभिजन पर अधिक काम नहीं है। इस अभाव के होते हुए भी बोटोमोर ने अपने लेख मॉडर्न इलिट्स इन इंडिया (Modern Elites in India) में राष्ट्रीय स्तर पर पाए जाने वाले अभिजनों की चर्चा की है। इस

क्षेत्र में आंद्रे बेतई ने फिलिप मेशन (Philip Mason) द्वारा संपादित पुस्तक **इंडिया एंड सिलोन : यूनिटी एंड डाइवरसिटी** (India and Ceylon : Unity and Diversity, 1967) में राजनीतिक अभिजनों का बड़ी-बड़ी संरचनाओं में जैसे कि मंत्रिमंडल, राजनीतिक दल, विधानसभा आदि में विश्लेषण किया है। आई.पी.देसाई भारतीय समाज के जाने-माने विचारक हैं। अपने निबंध **'द न्यू इलिट (The New Elite)'** में भारत में राष्ट्रीय स्तर पर उभरते हुए राजनीतिक या पावर अभिजन का विश्लेषण किया है। कुछ इसी तरह के विश्लेषणात्मक अनुसंधान मोरिस जोन्स (Morris-Jones), श्रीनिवास और बी.बी मिश्रा ने भी भारतीय समाज में विकसित होते राजनीति अभिजनों का विश्लेषण किया है। इस सिलसिले में हमें एडवर्ड शिल्स (Edward Shils) का उल्लेख अवश्य करना चाहिए। वे कहते हैं कि अखिल भारतीय स्तर पर जो राजनीतिक अभिजन हमें मिलते हैं वे आज परंपरा और आधुनिकता के मध्य में हैं। दूसरे शब्दों में, शिल्स के अनुसार भारत में राजनीतिक अभिजन की व्याख्या निरंतरता (Continuity) द्वारा की जा सकती है। परंपरागत राजनीतिक अभिजन धीरे-धीरे आधुनिक अभिजन बन जाते हैं।

राजनीतिक अभिजन दुनिया भर में सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। राजनीतिशास्त्र राजनीतिक अभिजन की व्याख्या से अछूता नहीं है। सिरसीकर (The Rural Elite in a Developing Society, 1970), ए.एच. सोमजी (Democracy and Political Change in India, 1971) ऑस्कर लेविस (Village Life in Northern India, 1958), मेरी कारस (The Dynamics of India Political Factions, 1972) और एंथोनी कारहर (Elite Politics in Rural India) ने राजनीतिक अभिजन के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। ऐसा लगता है कि राजनीतिक वैज्ञानिकों ने ग्रामीण राजनीतिक अभिजन पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। राजनीतिक अभिजन पर जो भी आनुभाविक और विश्लेषणात्मक अनुसंधान सामग्री हमें उपलब्ध है इसके आधार पर हम राजनीतिक अभिजन के कुछ प्रमुख लक्षणों को रख सकते हैं।

2.8 राजनीतिक अभिजन: अर्थ और परिभाषा (Political Elite: Meaning and Definition)

पेरी गेरियंट (Parry Geriant) ने राजनीतिक अभिजन की व्याख्या इन शब्दों में की है:

यह एक अल्पसंख्यक समूह है जो समाज के विशिष्ट क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

नडेल (Nadel) के अनुसार

राजनीतिक अभिजन वे हैं जिनका समाज के भविष्य पर प्रभाव पड़ता है और यह इसलिए है कि वे श्रेष्ठ हैं।

सी.राइट मिल्स (C.Wright Mills) के अनुसार

राजनीतिक अभिजन वे हैं जो इन फैसलों को करते हैं जिनका समाज पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। दूसरों के विरोध करने पर भी अभिजन अपने निर्णयों को लागू करने में सक्षम होते हैं। इन अभिजनों के पास धन होता है; प्रतिष्ठा होती है और शक्ति होती है।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर राजनीतिक अभिजन के निम्न लक्षण स्पष्ट होकर हमारे सामने आते हैं:

(1) यह समूह प्रभावशाली (Dominant) होता है और इसमें कुछ विशेष लक्षण होते हैं।

(2) राजनीतिक समूह सामान्यतया व्यक्तियों पर लागू न होकर समूह पर लागू होते हैं। लेकिन कुछ सामजशास्त्री इससे सहमत नहीं है। उनका कहना है कि किसी-किसी समाज में व्यक्ति भी प्रभावशाली होते हैं।

(3) अभिजन के पास कुछ पहचाने जाने वाले महत्त्वपूर्ण लक्षण और गुण होते हैं जो इनको श्रेष्ठ बनाते हैं और जो निर्णय करने की क्षमता देते हैं।

(4) अभिजन का संबंध समाज के साथ होता है। यदि हम एक आदिवासी को अभिजन कहते हैं तो इसका अर्थ हुआ अपने समाज में वह श्रेष्ठ है। लेकिन इससे आगे बढ़कर हम किसी आदिवासी को राष्ट्रीय अभिजन मानते हैं तब हमारा संबंध संपूर्ण भारतीय समाज से होता है। इसी कारण अभिजन की अवधारणा समाज की सापेक्षिक (Relative) है।

राजनीतिक अभिजन के शक्ति स्त्रोत (Power Sources of Political Elite)

जब हम राजनीतिक अभिजन की चर्चा करते हैं तो इसमें सबसे बड़ा मुद्दा यह है कि कोई भी व्यक्ति राजनीतिक अभिजन कैसे बन जाता है या दूसरे शब्दों में, उसके अभिजन बनने के कौन से स्त्रोत हैं। बेतई ने इस मुद्दे को उठाया है। वे राज्य या राष्ट्रीय स्तर के राजनीतिक अभिजन की व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि राष्ट्रीय अभिजन बनने के छः बहुत बड़े स्त्रोत हैं:

(1) **समूह या व्यक्ति की जोड़-तोड़ करने की क्षमता**–ऐसे समूह जो प्रजातांत्रिक व्यवस्था में सुचारू रूप से काम करने की क्षमता रखते हैं, सामान्य रूप से राजनीतिक अभिजन बन जाते हैं। इसके कई उदाहरण हैं। अभी हाल में अन्य पिछड़े वर्गों की श्रेणी में सम्मिलित होने के लिए कई जातियों ने आंदोलन किए। इनमें कृषक जाति जाट सफल हो गए। यह उनकी राजनीतिक जोड़-तोड़ करने की क्षमता थी। जैन धर्मावलंबियों ने भी कुछ राज्यों में अपने आपको अल्पसंख्यक समूह सम्मिलित होने के मुद्दे को सफलतापूर्वक सुलझा लिया।

(2) **सामाजिक आधार**–राजनीतिक अभिजन की हैसियत पाने के लिए व्यक्ति का सामाजिक आधार मजबूत होना चाहिए। जो उच्च जाति के हैं और यह जाति बहुसंख्यक है तो इस जाति के अभिजन के बनने की क्षमता अधिक है। सामाजिक स्थिति एक बहुत बड़ा आधार है।

(3) **ग्रामीण अभिजन**–के.एल. शर्मा ने ग्रामीण भारत में राजनीतिक अभिजन का बहुत बड़ा आधर प्रदत्त प्रतिष्ठा को भी स्वीकार किया है। गाँवों में जिनके पास अधिक कृषि भूमि होती है, संपत्ति होती है तथा जो भूतपूर्व जमींदार और जागीरदार रहे हैं उनके लिए ये सब कारक राजनीतिक अभिजन बनने के लिए बहुत बड़े स्त्रोत होते हैं।

(4) **प्रभुत्व जाति**–एम.एन. श्रीनिवास ने प्रभुत्व जाति के लिए कुछ आधारों को निश्चित किया है। इन आधारों में जाति का बहुसंख्यक होना, आर्थिक और राजनीतिक शक्ति होना, धर्मविधि में उच्च प्रतिष्ठा होना, पश्चिमी शिक्षा और आधुनिक व्यवसायों को अपनाना, राजनीतिक अभिजन का स्त्रोत है।

(5) **गाँव में जाति का प्रभावी होना**–एस.सी. दुबे ने मध्यप्रदेश के चार गाँवों का अध्ययन किया है। इन गाँवों में उन्होंने पाया कि एक जाति प्रभावी तब होती है जब गाँव को चलाने की, उससे संबंधित निर्णय लेने की क्षमता किसी एक जाति में आ जाती है। ऐसी स्थिति में कोई एक समूह या गाँव का एक बहुत बड़ा भाग प्रभावी बन जाता है।

(6) **शक्ति का केंद्रीकरण**–टी.के. ऊमन, श्रीनिवास और एस.सी. दुबे के अभिजन के सिद्धांत से सहमत नहीं है। वे कहते हैं कि अभिजन व्यक्ति भी हो सकते हैं और समूह भी। मुख्य बात यह है कि समुदाय की शक्ति किसके हाथों में है। प्रत्येक समुदाय में अपनी एक शक्ति होती है। इस शक्ति का केंद्रीकरण जिनके हाथों में होता है वे ही व्यक्ति, समूह या जातियाँ राजनीतिक अभिजन बन जाती हैं।

2.9 भारत में राजनीतिक अभिजन की उत्पत्ति (Origin of Political Elite in India)

प्राचीन भारत में अभिजन की जो संरचना थी, वह आज से बहुत भिन्न थी। पिछले दिनों में परंपरागत भारतीय समाज के कुछ रिवाज थे, काम करने के तौर तरीके थे। उन दिनों में जिस तरह के राजनीतिक अभिजन पाए जाते थे उनका आधार जाति-व्यवस्था थी। सामान्यतया परंपरागत हिंदू समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जिन्हें द्विज भी कहतें हैं, राजनीतिक अभिजन थे। लेकिन यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात थी। तीन प्रकार के इन अभिजनों में अंतर्संबंध नहीं थे। मतलब यह है कि ब्राह्मणों के अभिजन को ब्राह्मण ही स्वीकार करते थे। ब्राह्मणों के अभिजन के जो आधार थे वे वैश्यों के नहीं थे। अन्य शब्दों में, प्रत्येक जाति के अपने-अपने अभिजन थे। लेकिन निम्न जातियों के कोई अभिजन नहीं होते थे। के.एल शर्मा इन राजनीतिक अभिजनों पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक जाति समूह के पृथक्-पृथक् अभिजन होते हुए भी ब्राह्मण अभिजन को सभी स्वीकार करते थे। इन अभिजनों के जो ब्राह्मणों में से थे कुछ सामाजिक आधार थे। ब्राह्मणों में जो अभिजन थे उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे वेदों का अध्ययन करें। वे ब्राह्मण जो दो वेदों में पारंगत थे उन्हें द्विवेदी कहते हैं, तीन वेदों को त्रिवेदी कहते थे और चारों वेदों पर

नोट

आधिपत्य रखने वालों को चतुर्वेदी कहते थे। ब्राह्मण अभिजनों को परंपरागत हिंदू समाज ने दो भागों में बाँट रखा था–(1) दैविक ब्राह्मण अभिजन, और (2) लौकिक ब्राह्मण अभिजन। इस प्रकार का वर्गीकरण संस्कृत की विद्वता पर निर्भर था।

परंपरागत भारत में राजनीतिक अभिजन के अतिरिक्त **आर्थिक अभिजन** (Economic Elite) भी थे। देखा जाए तो इन आर्थिक अभिजनों को सेठ या साहूकार कहते थे। जब इनके सोपान को देखते हैं तो शीर्ष पर **जगत सेठ था**। यह सेठ संपूर्ण देश या कम से कम अपने क्षेत्र में सबसे अधिक पैसे वाला था। इससे नीचे था नगर सेठ और अंतिम छोर के सेठ जो गाँवों में मिलता था वह ग्राम सेठ था। परंपरागत भारतीय समाज में अभिजन की जो स्थिति थी, उसके मुख्य बिंदु निम्न प्रकार हैं:

(1) **अन्तर्संम्बंध का अभाव**–एक जाति के अभिजन का दूसरी जाति के अभिजन के साथ अंतर्संबंध नहीं था।

(2) एक जाति के राजनीतिक अभिजन की जो प्रतिष्ठा या उसका प्रभाव था वह सभी जातियों के अभिजनों में समान नहीं था।

(3) परंपरागत राजनीतिक अभिजन कभी भी संगठित नहीं थे। अगर किसी मसले पर निर्णय करना होता तब सभी जातियों के अभिजन मिलकर निर्णय नहीं करते थे। एक अभिजन का संबंध अपनी जाति के दायरे में नहीं था।

(4) परंपरागत अभिजन में जातियों की तरह सोपानिक व्यवस्था थी। इसी कारण ब्राह्मण अभिजन के प्रभाव को क्षत्रिय और वैश्य तीनों अभिजन समुदाय स्वीकार करते थे।

(5) परंपरागत भारतीय समाज में निम्न जातियों में कोई अभिजन नहीं होते थे। यह तो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही है कि अनुसूचित जातियों, जनजातियों और अन्य पिछड़े वर्गों में भी राजनीतिक अभिजन होने लगे हैं। इसका बहुत बड़ा कारण इन जातियों को दिया हुआ आरक्षण है। लेकिन इसके अतिरिक्त प्रजातांत्रिक व्यवस्था, शिक्षा और संचार साधन भी अभिजन बनाने के आधुनिक स्रोत हैं।

(6) सबसे आखिर में, लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता परंपरागत राजनीतिक अभिजन की यह है कि इसका महत्त्वपूर्ण स्रोत प्रदत्त (Ascription) स्थिति था। आज यह स्थिति प्रजातांत्रिक हो गई है, जो सबके लिए खुली है।

आधुनिक भारत में राजनीतिक अभिजन (Political Elite in Modern India)

आज के राजनीतिक अभिजन की काम करने की पद्धति और जीवन दर्शन में बहुत कुछ समानता है। राजनीतिक शक्ति का प्रयोग भी ये अभिजन समान रूप से करते हैं। उदाहरण के लिए लगभग सभी राजनीतिक अभिजन आर्थिक शक्ति को किसी न किसी तरह प्राप्त करना चाहते हैं। वे अभिजन जो संस्कृति के क्षेत्र में हैं, चाहे संगीतकार हो या साहित्यकार, उन्हें अर्थ प्राप्ति के विशेषाधिकार प्राप्त हैं। इधर व्यावसायिक अभिजन अपने क्षेत्र में तो प्रभवशाली होते हैं, उनकी राजनीतिक पकड़ भी अच्छी होती है। परंपरागत राजनीतिक अभिजन और आधुनिक अभिजन में बहुत बड़ा अंतर प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का है। भूतपूर्व राजनीतिक अभिजन जैसे कि राजा, महाराजा, जमींदार, जागीरदार, प्रदत्त आधार पर शक्ति प्राप्त करते थे। आज यह शक्ति उनके हाथ से निकल गई है। यदि वे अभिजन समझे जाते हैं तो केवल इस आधार पर कि पिछले दिनों में वे अभिजन थे। शायद यह भी उनके लिए संक्रमण काल है। आने वाली पीढ़ियाँ विगत के इन राजनीतिक अभिजनों को कोई महत्त्व नहीं देगी।

हम पिछले पृष्ठों में राष्ट्रीय और ग्रामीण अभिजनों का एक सतही उल्लेख किया था। इस संपूर्ण मसले को बोटोमोर, बेतई, देसाई, मोरिस-जोन्स आदि ने उठाया है। इन समाजशास्त्रियों ने कई अवधारणाएँ भी दी हैं। प्रभुत्व जाति की अवधारणा इनमें से एक है। इन समाजशास्त्रियों ने अपने निष्कर्षों में जो महत्त्वपूर्ण तथ्य दिए हैं, वे इस प्रकार हैं–

(1) **ऊर्ध्वगामी गतिशीलता** (Upward Mobility)–आधुनिक राजनीतिक अभिजन के बनने का बहुत बड़ा स्रोत प्रजातंत्र है। इसमें भी एक ओर संवैधानिक सुविधा ने अनुसूचित वर्गों को विशेष सुविधाएँ प्रदान की है। अब अनुसूचित जनजतियाँ और जातियाँ आरक्षण की हकदार हैं। अन्य पिछड़े वर्गों को भी कुछ विशेष सुविधाएँ हैं। दूसरी ओर शिक्षा, औद्योगीकरण, शहरीकरण और आधुनिकीकरण ने भी राजनीतिक अभिजन बनने की संभावनाओं को बढ़ा

दिया है। इन सब कारकों के कारण जैसा कि एस.एम. मिलर (Structured Social Inequality, 1969) कहते हैं कि पिछड़े वर्ग बराबर ऊर्ध्वगामी गतिशीलता को प्राप्त कर रहे हैं। यह इसी के कारण हैं कि पिछड़े और निम्न वर्ग के लोग सोपानिक व्यवस्था में आगे बढ़ रहे हैं। आई.पी. देसाई तो कहते हैं कि वे भूतपूर्व सामंत जिनके पास आज राजनीतिक शक्ति नहीं रही, राजनीतिक कारणों से अपनी प्रतिष्ठा बनाए हुए हैं। उन्होंने अपनी पूँजी को होटलों, व्यवसाय और उद्योग में लगा दिया है और इस कारण वे अपनी भूतपूर्व अभिजन स्थिति को ऊर्ध्वगामी बनाए रखने में सफल हुए हैं।

(2) *अधोमुखी गतिशीलता* *(Downward Mobility)*—के.एल. शर्मा कहते हैं कि समाज की कुछ उच्च जातियाँ समय के साथ अपने आपको नहीं बदल पायी और परिणामस्वरूप उनका दर्जा अभिजन से हटकर नीचा हो गया है। गाँवों और कस्बो में ब्राह्मणों की स्थिति अब अभिजन की नहीं रही। क्षत्रिय अभिजन तो किसी तरह अपने आपको बनाए रखे हुए हैं। पर इन जातियों में जो निम्न आर्थिक स्थिति के लोग हैं उन्हें दिहाड़ी करके जीवन यापन करना पड़ता है। आज क्षत्रियों में ब्राह्मणों की तरह ही अधिकांश लोग ऐसे हैं जिन्हें दिहाड़ी करनी पड़ती है।

राजनीतिक अभिजन का इतिहास प्राचीन भारत से लेकर आधुनिक भारत तक आ गया है। आज भारत में राजनीतिक अभिजन के निर्माण में कई नई प्रक्रियाएँ समाज में उपलब्ध हैं। अब प्रदत्त प्रस्थिति नहीं रही, प्रजातंत्र है और हाल में पारित संविधान के 73 वें संशोधन ने तो स्त्रियों को एक नई शक्ति दे दी है। अभिजनों की भर्ती में स्त्रियाँ नई राजनोतिक अभिजन हैं और यह कार्य इस संशोधन ने किया है। यहाँ हम आधुनिक अभिजन की कतिपय विशेषताओं का सार रूप में उल्लेख करेंगे:

(1) अब समूह की अपेक्षा व्यक्ति के अभिजन बनने की बहस ताकतवर हो गई है। प्रारंभ में श्रीनिवास ने अवधारणात्मक स्तर पर स्थापित किया था कि अभिजन समूह होता है, व्यक्ति नहीं। यही बात आंद्रे बेतई ने भी कही थी। तब दुबे ने पहली बार इसका विरोध किया था और कहा था कि व्यक्ति भी अभिजन हो सकते हैं। आज जो अभिजन देश में हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि व्यक्ति भी अभिजन हो सकता है।

(2) आधुनिक अभिजन में लक्षणों की सजातीयता नहीं है। किसी की प्रतिष्ठा और रैंक ऊँचा है और किसी को राजनीतिक शक्ति। इस कारण देश के अभिजन गैर बराबर हैं।

(3) आज के अभिजन में एकता ही नहीं है, उनमें सोपानिकता भी है।

(4) अब यह संभव है कि हम राजनीतिक अभिजन को सामान्य अभिजन से भिन्न कर सकें।

(5) साधारण रूप से राजनीतिक अभिजन आर्थिक प्रभुत्व से बड़ा होता है यद्यपि इस अभिजन के पास धन नहीं होता।

(6) राजनीतिक अभिजन की पहुँच आर्थिक अभिजन और शिक्षा अभिजन तक आराम से हो जाती है। एक सामान्य विधानसभा सदस्य कस्बे के बनिए और तहसीलदार से बिना कठिनाई के काम करवा सकता है। मतलब हुआ राजनीतिक अभिजन समाज के कई क्षेत्रों से जुड़ा होता है और अपने काम को आसानी से करवा लेता है।

2.10 आँचलिकता (Regionalism)

हमारे देश में जब हम एक-दूसरे को मिलते हैं, अजनबी से परिचय होता है तो बातचीत का सिलसिला कुछ इस तरह चलता है—यह गुजराती है और ये पर्यटन का बड़ा शौक रखते हैं; और ये बंगाली हैं: बाबू मोशाय, इनसे मिलिए; ये बिहारी बाबू हैं और हमारे पड़ोस में एक मद्रासी बंधु रहते हैं। इनका चावल खाना ही रसम है। देश की यह आँचलिकता है। जैसे ही हमारा परिचय होता है हम ढेर सारी बातें अपने दिमाग में ले आते हैं। क्षेत्र के साथ में हम खाना-पीना जोड़ देते हैं, वेश-भूषा समझ जाते हैं और सबसे बड़ी बात है हम क्षेत्र के साथ में भाषा और साहित्य को भी मिला लेते हैं। क्षेत्र के साथ में जुड़ी हुई जो छवि होती है उसका बोध भी अपने मस्तिष्क में ले आते हैं। ये व्यक्ति मारवाड़ी है और अपने बाप से भी ब्याज नहीं छोड़ेगा। और यह तो गुजराती है, गरबों में रस लेता

है और आगे यह व्यक्ति तो भांगड़ा का प्रेमी है। इन सब दृष्टांतों के माध्यम से हम इस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं कि आँचलिकता के साथ में कई चर जुड़े हुए होते हैं। एस.सी. दुबे (Understanding Change, 1992) कहते हैं कि भारत की आँचलिकता केवल एक भौगोलिक क्षेत्र ही नहीं है, इसके साथ भाषा, विचारधारा, गरीबी, साहित्य, कला और एक व्यापक चरित्र भी जुड़ा होता है। आँचलिकता के विद्वान इस बात को स्पष्ट रूप से जानते हैं कि एक अँचल कहाँ से शुरू होता है और कहाँ उसका अंत होता है। हिंदी साहित्य में तो ऐसे कथाकार व उपन्यासकार हैं, जिन्हें आँचलिक लेखक कहते हैं। फणीश्वरनाथ रेणु, बिहार के ऐसे ही आँचलिक उपन्यासकार रहे हैं। 'मैला आँचल' रेणु की लोकप्रिय रचना है।

समाजशास्त्र में ग्रामीण अध्ययन तो बहुत सारे हैं लेकिन आँचलिक अध्ययनों का अभाव है। सामाजिक मानवशास्त्री आँचलिकता को एथनिसिटी के संदर्भ में रखते हैं। उनके अनुसार आँचलिकता एक सांस्कृतिक विशेषता है। जब हम पंजाब या राजस्थान को एक क्षेत्र कहते हैं तो इसकी एक निश्चित भौगोलिक सीमा होती है। यह एक प्रशासनिक सीमा है। इसके आगे हम सोचते हैं कि यहाँ के निवासी मुख्यतया पंजाबी हैं। धार्मिक क्षेत्र में इनका मुख्य धर्म सिख है और अपने आर्थिक उद्यम में ये बड़े किसान हैं, कल-कारखाना चलाते हैं। यह तो सामाजिक मानवशास्त्रियों का दृष्टिकोण है। राजनीतिशास्त्र के विद्वान क्षेत्र को राजनीतिक दलों के बोध से देखते हैं। कहते हैं—इस क्षेत्र में समाजवादी पार्टी प्रभावी है, यह मार्क्सवादियों का इलाका है और इस प्रदेश में कांग्रेस प्रभावशाली है। स्पष्टत: क्षेत्र या आँचलिकता का एक पहलू राजनीतिक भी है।

हाल में अर्थशास्त्रियों ने क्षेत्र का अध्ययन आर्थिक विकास की दृष्टि से किया है। उनका तर्क है कि राजनीतिक दाँव-पेंच के कारण एवं अंचल पिछड़ जाता है और उसी राज्य में दूसरा अंचल आगे बढ़ जाता है। थोड़े में, अर्थशास्त्री क्षेत्र के पिछड़ने या तरक्की का विश्लेषण आर्थिक आधारों पर करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि राजनीति के कारण क्षेत्रों में असंतुलन हो गया है।

समाजशास्त्रियों का आँचलिकता को देखने का नज़रिया कुछ और ही होता है। वे भाषा और जाति के साथ में क्षेत्र की पहचान करते हैं। कान्यकुब्ज ब्राह्मण पूर्वी उत्तर प्रदेश में अपना दबदबा रखते हैं। गुजरात में सौराष्ट्र और काठियावाड़ में दरबार यानी क्षत्रियों का प्रभाव है। इस तरह के सारे दृष्टान्त इस तथ्य को बताते हैं कि आँचलिकता का संबंध जाति के साथ भी होता है। पीपल ऑफ इंडिया में के.एस. सिंह ने क्षेत्रीयता की समस्या की पड़ताल की है। वे कहते हैं कि प्रत्येक क्षेत्र की अपनी भाषा होती है और इसी के साथ जुड़ी हुई बोलियाँ होती हैं। इसी प्रोजेक्ट में यह भी स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक क्षेत्र की रीति-रिवाज की एक परंपरा होती है और इसी परंपरा के अनुरूप क्षेत्र के महान् व्यक्ति, साहित्यकार और कलाकार होते हैं। बंगाल के क्षेत्र में रविंद्रनाथ टैगोर का नाम सर्वोपरि है, महाराष्ट्र में ज्योतिबा फूले और शिवाजी महाराज महान व्यक्तियों की श्रेणी में आते हैं। राजस्थान का गौरव महाराणा प्रताप हैं। ये सब दृष्टांत इस बात को बताते हैं कि देश में जहाँ 91 आँचलिक क्षेत्र हैं वहीं प्रत्येक अँचल की पहचान उसकी भाषा, बोली, साहित्य, इतिहास, व्यवसाय, खान-पान और राजनीतिक चरित्र से होती है।

आँचलिकता की नई पहचान (New Identity of Regionalism)

प्राचीन और ब्रिटिश भारत में हमारे यहाँ निश्चित अँचल या क्षेत्र थे। इन क्षेत्रों की भी राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पहचान थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इन परंपरागत अँचलों ने अपनी पहचान बनानी प्रारंभ की और इस पहचान ने कई रूप लिए। आँचलिकता से उभरते हुए कुछ मुद्दों का हम यहाँ उल्लेख करेंगे:

1. **बढ़ती हुई राजनीतिक माँगें** (Increasing Political Demands)—प्रजातंत्र की बहुत बड़ी विशेषता जन चेतना है। राजनीतिक दलों की सफलता इसमें देखी जाती है कि उनका जनाधार (Mass Base) क्या है? विधान सभा और धारा सभा की सदस्यता का बहुत बड़ा आधार क्षेत्रीयता है और अब तो आँचलिकता के प्रभाव के कारण क्षेत्रीय राजनीतिक दल बनने लग गए हैं। डी.एम.के., अकाली दल, हरियाणा विकास कांग्रेस आदि राजनीतिक दल क्षेत्रीयता के बढ़ते हुए प्रभाव हैं।

2. **क्षेत्रीय आंदोलन** (Regional Movement)—पिछले पाँच दशकों में और विशेष करके राज्यों के पुनर्गठन के बाद क्षेत्रीयता ने आंदोलन का रूप ले लिया है। कहीं-कहीं तो ये आंदोलन हिंसात्मक भी हो गए हैं। उत्तर-पूर्व

में बोडो लैंड (Bodo Land) की माँग असम की शांति को बिगाड़ रही है। नागालैंड की माँग का आंदोलन लंबे समय बाद पूरा हुआ है। इधर हाल में जो नए राज्य बने हैं–छत्तीसगढ़, झारखण्ड, और उत्तराखंड–वे अपने अस्तित्व में आँचलिक आंदोलन के कारण ही अस्तित्व में आए हैं। इन राज्यों के गठन के पीछे जो आंदोलन हुए उनका तर्क था कि किसी भी क्षेत्र की अपनी एक भाषा होती है। क्षेत्र की शिक्षा-दीक्षा, राज्य का काम-काज, उनकी भाषा में ही होना चाहिए। आंदोलन का यह भी तर्क था कि अमुक क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों में धनाढ्य है और इसका अधिकांश लाभ क्षेत्र के खाते में ही जाना चाहिए। आंदोलन के पीछे यह भी तर्क रहा है कि एक विशेष क्षेत्र की अपनी आर्थिक पहचान रही है, यहाँ के लोग अधिक पिछड़े हैं और उन्हें वरीयता देने की आवश्यकता है। आँचलिक आंदोलन की बहुत बड़ी माँग स्वायत्तता (Autonomy) की है। क्षेत्र के लोग ऐसा समझते हैं कि उनके साथ राजनीतिक भेदभाव (Discrimination) होता है और इसलिए उन्हें उनकी स्वयं की व्यवस्था पर छोड़ देना चाहिए; यही स्वायत्त है। आज भी नए आँचलिक या प्रदेशिक राज्यों के बनने पर भी क्षेत्रीय आंदोलन समाप्त नहीं हुआ है।

3. **सांस्कृतिक और एथनिक विशेषताएँ** (Cultural and Ethnic Characteristics)–भारत अपनी योजनाओं व नीति के अनुसार एक राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान बना रहा है। हमारा देश एक धर्मनिपेक्ष राज्य है, हमारे यहाँ प्रजातंत्र है। यह सब किसी भी राष्ट्र के व्यापक लक्षण हैं। हाल में वैश्वीकरण और उदारीकरण की जो बहुत बड़ी अंतर्राष्ट्रीय प्रक्रियाएँ चली हैं, इसके परिणामस्वरूप कुछ चुनौतियाँ भी आई हैं। देश के विभिन्न आँचलों को यह भय लगने लगा है कि यदि राष्ट्र निर्माण की इस प्रक्रिया में उनकी भाषा, उनके नाच-गाने, तिथि-त्यौहार खो गए तो उनकी पहचान ही नष्ट हो जाएगी। वैश्वीकरण के दौर में कहीं भांगड़ा खो गया, कहीं भरतनाट्यम भुला दिया गया और कहीं महराष्ट्र के तमाशे या मध्यप्रदेश की पांडवी या करौली-धौलपुर (राजस्थान) का आल्हा-ऊदल लोक जीवन से उठ गया तो आँचलिकता कहीं की नहीं रहेगी। पहचान के इस संकट ने भी आँचलिकता को एक नया मोड़ दिया है।

4. **आँचलिक आर्थिक गैर-बराबरी** (Regional Economic Inequality)–अब यह सब समझने लगे हैं कि प्रजातंत्र में जिस अंचल की वाणी मुखर होती है, जिस वाणी में बुलंदी होती है, वह विकास कार्यक्रमों में अधिक लाभ उठा लेता है। इसका परिणाम आँचलिक गैर बराबरी होती है। केंद्र या राज्य के बजट का बड़ा भाग जो क्षेत्र उठा लेता है, वह आगे बढ़ जाता है और जो क्षेत्र इस हिस्सेदारी में पिछड़ जाता है, वह पिछड़ा रह जाता है। अर्थशास्त्री जिसे बीमारू (Bimaru) राज्य कहते हैं अर्थात जिसे वे बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान और उत्तरप्रदेश के रूप में जानते हैं, पिछड़ गए हैं। इस भाँति आज के इस विकास के दौर में आँचलिक मुद्दे राजनीतिज्ञों, समाजशास्त्रियों और प्रांतीय नेताओं के लिए महत्त्वपूर्ण बन गए हैं।

अध्याय के इस भाग में हम यह बात पूरी ताकत से कहना चाहते हैं कि अब आने वाले वर्ष आँचलिक या क्षेत्रीय संगठनों के हैं। अब देश के विभिन्न अँचल प्रजातांत्रिक व्यवस्था से परिचित हो गए हैं। विकास की हिस्सेदारी के लिए आँचलिक क्षेत्रों को संगठित होना पड़ेगा। राजनीति में यह संगठन क्षेत्रीय दलों के रूप में देखने को मिलता है। सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अब स्थानीय भाषा पर अधिक जोर दिया जाने लगा है। जब असम राज्य का विघटन हुआ और इसके परिणामस्वरूप उत्तर-पूर्व के सात राज्य संगठित हुए तब इसके पीछे कई कारणों में भाषा बहुत बड़ा कारण था। राजस्थान जैसे राज्य ने राजस्थानी को शिक्षा के उच्च स्तर तक अध्यापन का माध्यम बना दिया है। ऐसा लगता है कि आने वाले वर्षों में आँचलिकता का महत्त्व बहुत बढ़ जाएगा।

2.11 अनेकत्ववाद एवं राष्ट्रीय एकता (Pluralism and National Unity)

वर्तमान भारत में सांस्कृतिक अनेकत्व की समस्या महत्त्वपूर्ण हो गई है। बहस यह चल रही है कि जब हम भारत को एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं तो इसके लिए कोई एक ही संस्कृति होनी चाहिए या अनेक संस्कृतियों के अस्तित्व को मानते हुए कोई एक मिश्रित यानी कंपोज़िट कल्चर होनी चाहिए। इस बहस में एक विचारधारा का यह कहना है कि इस देश की संस्कृति वस्तुतः हिंदू संस्कृति है। इस संस्कृति का आधार हिंदुत्व है। दूसरी विचारधारा

नोट

धर्म निरपेक्षवाद (Secularism) की है। इसके अनुसार देश की विभिन्न संस्कृतियों के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए और उनके मिश्रण से एक धर्मनिरपेक्ष संस्कृति का निर्माण होना चाहिए। इसे अनेकत्ववाद (Pluralism) कहते हैं।

यूरोप में अनेकत्व का सिद्धांत 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में आया। अचीन वनैक (Achin Vanaik) ने भारत के संदर्भ में अनेकत्व की अवधारणा का अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि 20 वीं शताब्दी के प्रारंभ में यूरोप में केवल एक सिद्धांत प्रचलित था। यह सिद्धांत इस तथ्य पर जोर देता था कि राज्य की प्रभुसत्ता (State Sovereignty) सबसे ऊपर है। राज्य जिस संस्कृति को पोषण देता है, प्रोत्साहित करता है, वही निरपेक्ष संस्कृति है। इस सिद्धांत को यदि भारतीय समाज पर लागू करें तो यहाँ सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म को अपने साम्राज्य की एकमात्र संस्कृति स्वीकार किया। अहिंसा उसका मुहावरा था। देशी रियासतों में यदि राजा शैव मार्गी था तो उसने शिव मंदिर बनाए और शिव को अपना उपास्य दैव बनाया। शक्ति की उपासना करने वाले राजा ने पशु बलि को अपने राज्य की संस्कृति का एक अंग बनाया। इन राज्यों में स्थानीय भाषा ही दैनिक काम-काज की भाषा थी। इस भाँति, यूरोप व हमारे देश में अनेकत्व का सिद्धांत अनुपस्थित था। लेकिन जब संविधान बनने के बाद राष्ट्र निर्माण में देश जुट गया तब हमारे सामने अनेकत्व की समस्या आयी। वनैक ने कम्युनेलिज़्म कंन्टेस्टेड : रिलिजन, मोडर्निटी एंड सेक्यूलेराइजेशन (Communalism Contested: Religion, Modernity and Secularization, 1997) में यह तर्क दिया है कि भारतीय प्रजातंत्र में सार्वजनिक संस्कृति के क्षेत्र में लोगों को स्वायत्तता होनी चाहिए। इस दृष्टि से इस देश में जितनी भी संस्कृतियाँ हैं, भाषाएँ हैं, बोलियाँ हैं, आँचलिकताएँ हैं, धर्म हैं, सभी को अपनी पहचान बनाए रखने और अस्तित्व का अधिकार है। इस भाँति इस समाज में सांप्रदायिकता को कोई स्थान नहीं है। यहाँ सभी संस्कृतियाँ जीवित रहेंगी, उनका अनेकत्व बना रहेगा और साथ ही साथ प्रजातांत्रिक व्यवस्था भी बनी रहेगी।

वनैक ने अनेकत्व संस्कृति के निर्माण के लिए तर्क दिए हैं। वे कहते हैं कि जब अनेकत्व को स्वीकार नहीं किया जाता और यह कहा जाता है कि हिंदू समाज में सहिष्णुता (Tolerance) की भावना है तो यह कई विचारकों को स्वीकार नहीं है। सहिष्णुता की बात करना ही त्रुटिपूर्ण है। इस कथन पर टिप्पणी करते हुए सुदिप्त कविराज का कहना है कि यदि हम कहें कि भारत में पौधों का जीवन अनेकत्व का है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि बड़ा पौधा छोटे पौधे के प्रति सहानुभूति रखता है। सच्चाई यह है कि प्रत्येक पौधे का अपना निजि अस्तित्व है और कोई किसी की सहानुभूति पर जीवित नहीं है। यदि इस देश में मुस्लिम संस्कृति है, ईसाई संस्कृति या पारसी संस्कृति है तो यह हिंदू संस्कृति की सहानुभूति के कारण नहीं है। प्रत्येक संस्कृति को अपना अस्तित्व बनाए रखने का अधिकार है। हमारे देश में संस्कृतियों के निजी अस्तित्व का नैतिक आधार सभी जानते हैं। सूफी संतों में कबीर के भजन राम और रहीम दोनों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

अकादमिक भाषा में मानवशास्त्री अनेकत्व के सिद्धांत की अच्छी व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि दुनियाभर के समाजों में जहाँ समानता होती है वहाँ उनमें विभिन्नता भी। किसी एक संस्कृति की तुलना दूसरी संस्कृति से नहीं की जा सकती। अपने आप में प्रत्येक संस्कृति महान है क्योंकि उसका अपना अलग अस्तित्व है। इसी कारण मानव शास्त्री सांस्कृतिक सापेक्षता (Cultural Relativism) की व्याख्या करते हैं। मानवशास्त्रियों का सापेक्षता का यह सिद्धांत भारत की अनेकत्व संस्कृतियों पर भी लागू होता है।

अनेकत्व का निकट संबंध धर्मनिरपेक्षता (Secularism) से है। हमारे देश में जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है, राज्य की धर्म के बारे में संविधानात्मक स्थिति इस प्रकार है: (1) व्यक्ति का संबंध अपने धर्म के साथ है, वह अपनी इच्छानुसार जिस धर्म को चाहे अपना ले। यह उसका व्यक्तिगत मामला है। (2) राज्य के लिए व्यक्ति की मान्यता एक नागरिक की हैसियत में ही है। नागरिक क्या है, क्या करता है, किस वर्ग का है, इससे राज्य को कोई मतलब नहीं है। राज्य के लिए, व्यक्ति तो केवल नागरिक है। (3) राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य गैर धार्मिक है। बात यह है कि राज्य और धर्म के कार्य क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं। दोनों के लक्ष्य अलग-अलग हैं, दोनों की विधियाँ पृथक्-पृथक् हैं। यह राज्य का कार्य नहीं है कि वह धर्म को प्रोत्साहन दे, उसे नियमित करे, या उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप करे। प्रजातांत्रिक व्यवस्था में राज्य के पास जो भी शक्ति है वह

नोट

धर्म से प्राप्त नहीं है, अपने नागरिकों से प्राप्त है। ऐसी अवस्था में नागरिकों की जो संस्कृति है उसे संरक्षण देने में राज्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

संविधान इस देश में विजातीय संस्कृति (Heterogeneous Culture) का प्रणेता है। हमारे यहाँ कई अँचल हैं, भाषा की विविधता है और इस सबको सरकार मान्यता देती है और एक रुचिकर बात और भी है कि हमारे मीडिया ने संस्कृति के इस अनेकत्व के प्रति लोगों में जनचेतना पैदा की है। यह विविधता कहीं-कहीं तो बहुत बड़ी है। उदाहरण के लिए मुसलमान धर्म मूर्ति पूजा का विरोधी है। कुछ दूसरे अंदाज में आर्य समाज भी मूर्ति पूजा का विरोधी है। कई ऐसे धर्म हैं जो परस्पर विरोधी हैं। इन सबके अस्तित्व को, इन सबकी पहचान को संविधान स्वीकार करता है। देखा जाए तो अनेकत्व और विविधता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

देश में अनेकत्व संस्कृति की विचारधारा सर्वमान्य हो, ऐसा नहीं है। यहाँ कई अन्य विचारधाराएँ भी रखी जाती हैं। इन विचारधाराओं में गाँधीवादी विचारधारा या मार्क्सवादी विचारधारा ताकतवर समझी जाती है। एक और विचारधारा हिंदुत्व की है। इस विचारधारा के समर्थकों का कहना है कि इस देश में एक ही संस्कृति होनी चाहिए, एक ही भाषा होनी चाहिए और एक ही लोग होने चाहिए। उनका नारा है—हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तानी। मतलब हुआ इस देश की भाषा हिंदी है, इस देश के लोग हिंदू हैं और यह देश हिंदुस्तान है। इतिहास के संदर्भ में देखा जाए तो एक संस्कृति (Singular Culture) की अवधारणा को सबसे पहली बार सन् 1923 में वी.डी. सावरकर ने रखा था। इस वर्ष उन्होंने एक पेम्फलेट प्रकाशित किया था। इसमें उन्होंने यह परिभाषित किया था कि हिंदुत्व और हिंदू क्या हैं? सावरकर का तर्क था कि भारत में रस्म-रिवाज, धर्मविधि, विश्वास और जाति में जो अंतर दिखाई देता है वह महत्त्वपूर्ण नहीं है। महत्त्वपूर्ण यह है कि इन सबकी उत्पत्ति भारतवर्ष में हुई है। हिंदुत्व की विचारधारा स्पष्ट रूप से यह कहती है कि इस देश के अंदर केवल एक ही संस्कृति के अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है और यह संस्कृति हिंदू संस्कृति है।

जब हम संस्कृति के अनेकत्व लक्षणों की चर्चा करते हैं तब एक बहुत बड़ा बुनियादी प्रश्न खड़ा होता है: इस सांस्कृतिक अनेकत्व में हम देश की एकता को कैसे बनाए रखेंगे। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से हमें देश की एकता की समस्या की ओर खींच लाता है। दूसरा प्रश्न है: देश में 4000 से अधिक जातियाँ हैं और प्रत्येक जाति की अपनी एक एथनिक पहचान है। इन जातीय पहचानों के बीच में राष्ट्रीय एकता का क्या होगा? देश में कई भाषाएँ हैं—संविधान स्वीकृत 18 भाषाएँ तो मान्यता प्राप्त भाषाएँ हैं। इनके अतिरिक्त सैकड़ों बोलियां हैं। इन सबके बीच में सांस्कृतिक एकता का क्या होगा?

राष्ट्रीय एकता (National Unity)

विविधता में राष्ट्रीय एकता की चर्चा जब चलती है तब कई तर्क दिए जाते हैं। एस.सी.दुबे ने (Understanding Change, 1992) इस प्रश्न पर अपना थीसिस रखा है। वे कहते हैं कि एक ही धर्म, भाषा और एक ही धरोहर (Heritage) के कारण राष्ट्रीयता आ जाती है, यह एक भ्रमपूर्ण धारणा है। नाज़ी, जर्मनी, इजराइल और दक्षिण अफ्रीका की रंग भेद नीति इस बात को बताते हैं कि एक ही प्रजाति के लोग होकर भी उनमें झगड़ा करने की प्रवृत्ति होती है। धर्म को भी एकता का भरोसेमंद आधार नहीं माना जा सकता है। सऊदी अरब, पाकिस्तान और इंडोनेशिया में धर्म की समानता है। फिर भी ये देश एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहे हैं। लगभग संपूर्ण यूरोप में ईसाई धर्म सभी में समान रूप से पाया जाता है फिर भी इन देशों ने विध्वंसक लड़ाइयाँ लड़ी हैं। एक ही धर्म होने पर भी इस्लाम ने अपनी तलवार अपने धर्मावलम्बियों पर भी चलायी है। यह सही है कि धर्म का गठबंधन दृढ़ होता है लेकिन यह भी सही है कि एक ही धर्म को मानने वाले आपस में लड़ते भी हैं। संसार भर के ये आनुभविक और ऐतिहासिक तथ्य, दुबे बताते हैं कि राष्ट्रीय एकता और अनेकत्व भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। अनेकत्व के होते हुए भी राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सकती है।

योगेंद्रसिंह ने अपनी पुस्तक सोशल चेंज इन इंडिया: क्राइसिस एंड रेजिलियेंस (1993) में भारतीय समाज ने राष्ट्रीय एकीकरण के मुद्दे को उठाया है। वे कहते हैं कि एकीकरण के मसले का मूल पाठ मूल्यों के एकीकरण

नोट

का है। पिछले दिनों में हमारे मूल्य उपनिवेशवादी और सामंतवादी थे। अब मूल्यों में क्रांतिकारी परिवर्तन आया है। हमारे नये मूल्य प्रजातंत्र, धर्म-निरपेक्षता और विकास हैं। अब हम चाहते हैं कि हमारे यहाँ प्रजातांत्रिक-व्यवस्था को अमली जामा देना चाहिए। बात यह है कि यहाँ प्रत्येक अंचल की अपनी-अपनी विशिष्ट समस्याएँ हैं। उदाहरण के लिए आदिवासी लोग अपनी स्वायत्त संस्कृति में रहते आए हैं। अब उन्हें देश की मुख्यधारा में भागीदारी करनी है। साथ ही उन्हें अपनी पहचान भी बनाए रखनी है।

इधर राष्ट्रीय एकीकरण का दूसरा मसला धर्म और भाषा का है। लेकिन देश ने जिन विकास कार्यक्रमों को अपनाया है इनके परिणामस्वरूप देश में एक सावयवी (Organic) एकता आयी है; एक मिश्रित संस्कृति का विकास हुआ है। ऐसा लगता है कि राष्ट्रीय एकता के निर्माण में सबसे बड़ा मसला, सांप्रदायिकता का है। आए दिन सांप्रदायिकता से जुड़ी हुई समस्याएँ पैदा होती रहती हैं। बाबरी मस्जिद और अयोध्या मंदिर निर्माण का कार्य इन्हीं समस्याओं की एक कड़ी है। योगेंद्रसिंह का तो कहना है कि हमारी अधिकांश समस्याओं का मूल केवल मूल्यों का विरोधाभास नहीं है, हमारे आर्थिक और राजनीतिक हेतुओं में हैं। मूल्यों की यह विषमता यदि दूर कर दी जाए तो राष्ट्रीय एकता की समस्या सुलझ जाएगी।

2.12 शक्ति का विकेन्द्रीकरण: पंचायती राज (Decentralization of Power: Panchayati Raj)

मुंशी प्रेमचंद हिंदी साहित्य के प्रख्यात कथाकार रहे हैं। उनकी कतिपय कृतियों का विदेशी भाषा में अनुवाद भी हुआ है। उनकी एक कहानी है: पंच परमेश्वर। कहानी की कथा कुछ इस तरह है कि जुम्मन शेख और अलगु चौधरी दोनों विभिन्न संप्रदायों के हैं। दोनों घनिष्ठ मित्र हैं। पर किसी एक विवाद में अलगु चौधरी पंच की हैसियत से जुम्मन शेख के विवाद में फैसला देते हैं। उन्होंने दूध का दूध और पानी का पानी कर दिया। पंच जो थे। पर यह फैसला जुम्मन के हक में नहीं था। एक ऐसा वाकया गुजरा जिसमें जुम्मन शेख को अलगु चौधरी के विवाद में फ़ैसला देना पड़ा। यह फैसला अलगु चौधरी के पक्ष में गया। पंच का न कोई मित्र होता है और न कोई दुश्मन--सब बराबर। पंच के मुँह से जो फैसला होता है, परमेश्वर का दिया फैसला होता है। ऐसी ही कुछ मान्यताएँ ग्रामीण जीवन की हैं। आज भी बड़े-बड़े फैसले गाँवों की जातियाँ अदालत में जाए बिना कर लेती हैं।

भारत में प्रजातंत्र है। इस प्रजातंत्र में आम नागरिक की भागीदारी होती है। यह भागीदारी चुनावों के माध्यम से होती है। प्रजातंत्र में राज्य की हैसियत सबसे ऊँची होती है। राज्य के हाथ बहुत लंबे होते हैं। यह राज्य ही है जो अपने चुने हुए प्रतिनिधियों यानी धारा सभा और संसद द्वारा कर लगा सकती है। कानून के द्वारा राज्य किसी अपराधी को फाँसी के फंदे पर चढ़ा देता है। यह राज्य ही है जो शांति और सुरक्षा देता है। राज्य की इस शांति का विकेंद्रीकरण या हस्तांतरण आम नागरिक तक होता है। ग्राम पंचायत और कुछ न होकर केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा शक्ति का हस्तांतरण है। भारत की परंपरा गाँवों की रही है। गाँवों के प्रति हमारा अगाध प्यार है और इस परंपरागत और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हमें केंद्र और राज्य द्वारा गाँवों को दी गई शक्ति का हस्तान्तरण है।

गाँधीजी ने गाँव स्वराज पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनकी विचारधारा थी कि देश में ग्रामीण स्वराज आ जाना चाहिए। लेकिन वे गाँव को हेनरीमेन की तरह एक गणतंत्र नहीं बनाना चाहते थे। वे चाहते थे कि गाँव अपने पाँवों पर खड़ा हो जाए। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करे, आत्मनिर्भर हो जाए। लेकिन इस गाँव का सावयवी संबंध देश के विशाल भागों के साथ होना चाहिए। देश में कुछ होता है तो इसके परिणामस्वरूप गाँवों में भी कुछ होना चाहिए। और गाँवों में कुछ होता है तो इसका प्रभाव अन्य गाँवों, शहरों व देश के अन्य भागों पर भी पड़ना चाहिए। हेनरीमेन की तरह गाँव कोई टापू नहीं है। इसी सैद्धांतिक पृष्ठभूमि के अंतर्गत शक्ति का विकेंद्रीकरण हुआ है। जब संविधान निर्माण करने वाली कमेटी ने संविधान के मसविदे को गाँधीजी को दिया तब उनकी टिप्पणी यह थी कि यह संविधान उनके सपने को पूरा नहीं करता। गाँव में राज्य और केंद्र का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए। गाँव के मसले, गाँव के विवाद, गाँव के त्यौहार, गाँव की मुठभेड़ गाँव की अपनी होती है और इसलिए केंद्र और राज्य के पास में निर्णय करने की जो शक्ति होती है वह गाँव की चौपाल तक पहुँच जानी चाहिए।

पंचायती राज का अध्ययन क्यों? (Why Study Panchayati Raj?)

जब राजनीतिशास्त्र के विद्वान पंचायतीराज का अध्ययन करते हैं तब उनका केंद्र प्रमुख, प्रधान, पंच होते हैं। यह सब शक्ति के स्रोत हैं। लेकिन जब समाजशास्त्री पंचायती राज का अध्ययन करता है तो इसका संदर्श दूसरा होता है। समाजशास्त्र का बुनियादी संदर्श समाज की संरचना होती है। इस संरचना के घटक, जाति, वर्ग, धार्मिक संगठन और राजनीतिक अर्थनीति होती है। समाजशास्त्री पंचायत राज के प्रशासनात्मक पहलू पर जोर नहीं देता। वह यह भी नहीं देखता कि लोगों पर हुकूमत कैसे की जाती है। समाजशास्त्र तो यह देखता है कि पंचायती राज में गाँव के लोगों को राज्य और केंद्र सरकार के निर्णय करने की जो शक्ति दी है उसका प्रयोग गाँव के लोगों के लिए किस भाँति किया जाता है। दूसरे शब्दों में, गाँव के लोगों में शक्ति का जो विकेंद्रीकरण हुआ है या स्थानान्तरण (Devolution) हुआ है उसका गाँव के विकास में क्या महत्त्व है।

ए.आर. देसाई एक मार्क्सवादी समाजशास्त्री हैं। उनका तर्क गैर-मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों से भिन्न है। वे कहते हैं कि जब देश को एक राष्ट्र के दर्जे तक पहुँचाना है तब इसके लिए गाँव के जिन बड़े-बड़े मसलों का निर्णय होना है, उनमें गाँव के लोगों की भागीदारी होना बहुत आवश्यक है। भूमि सुधार सहकारी समितियाँ, सिंचाई सुविधाएँ और अनेकानेक ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों का सीधा संबंध गाँवों से है और गाँव जातियों, वर्गों और धार्मिक संप्रदायों में बँटा होता है। ये सब तत्त्व समाजशास्त्रीय हैं और इन पर हमारा ध्यान जाना चाहिए। संक्षेप में, समाजशास्त्रीय संदर्श के अनुसार गाँवों का अध्ययन–(1) पंचायती राज के शक्ति के विकेंद्रीकरण के संदर्भ में आवश्यक है और (2) यह भी देखना चाहिए कि शक्ति के इस विकेंद्रीकरण ने गाँव की जाति, वर्ग और अर्थव्यवस्था को किस भाँति प्रभावित किया है?

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Historical Background)

पंचायती राज की वर्तमान अवधारणा अपेक्षित रूप से नई है। पहले इसे ग्राम पंचायत या जिला बोर्ड कहते थे। इसका प्रयोग गाँवों के खुद के विकास के लिए होता था। वास्तव में देखा जाए तो ग्राम पंचायतें ग्रामीण प्रशासन को देखती थी। इस ग्रामीण प्रशासन का संबंध राज्य स्तरीय अधिकारी तंत्र से था।

हमारे देश में ग्राम पंचायतों की व्यवस्था बहुत पुरानी है। प्राचीन और मध्यकाल में इन संगठनों को ग्राम पंचायत कहते थे। मध्यकाल के अंत में पहुँचकर ग्राम पंचायतें कमजोर हो गईं। लेकिन ब्रिटिशकाल में इनका महत्त्व थोड़ा बढ़ गया। जब सन् 1919 में विभिन्न प्रांतों ने ग्राम पंचायत अधिनियम पारित किया। ब्रिटिश भारत की इन ग्राम पंचायतों में सदस्यता द्विज जातियों की थी। छोटी जातियों और आदिवासियों का इनमें कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। और दूसरी ओर इन पंचायतों के पास राजनीतिक शक्ति बहुत थोड़ी थी। इनका यही काम था कि ये कल्याणकारी कार्यक्रमों की देखभाल करें। देखा जाए तो ब्रिटिशकाल में पंचायतें केवल नाम की थीं और मजेदार बात यह है कि इन पंचायतों का जिला बोर्ड के साथ कोई सावयवी संबंध नहीं था।

संविधान में पंचायती राज (Panchayati Raj in Constitution)

गाँवों में पंचायती राज का विकास किसी नेतृत्व की अनुकंपा नहीं है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों में कहा गया है: "राज्य सरकार को ग्राम पंचायतों के संगठन के लिए कदम उठाने चाहिए। उन्हें ऐसा बनाना चाहिए कि वे स्वयं अपना प्रशासन कर सकें।" संविधान में पंचायती राज की स्थापना की जो सिफ़ारिश की है उनके दो मुख्य लक्ष्य थे–(1) शक्ति का विकेंद्रीकरण (Decentralization of Power) और (2) गाँवों का विकास। इन दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी कहा गया है कि विकास कार्यक्रमों में गाँव का सहयोग और उसकी भागीदारी होना आवश्यक है।

इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सन् 1952 में पंचायती राज संस्थाओं का सामुदायिक विकास कार्यक्रमों (Community Development Programme) को लागू करने का उत्तरदायित्व दिया गया। ग्रामीणों की भागीदारी के लिए श्रमदान को प्रोत्साहित किया गया। कार्यक्रम तो अच्छा था, लेकिन चल नहीं पाया। उसे ताकतवर बनाने के लिए सरकार ने बलवंतराय मेहता की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई। कमेटी को कहा गया कि वह ग्रामीण विकास को शीघ्रता से प्राप्त करने के लिए अपने सुझाव दे।

नोट

शक्ति का विकेंद्रीकरण (Decentralization of Power)

यह पहली बार था कि मेहता कमेटी ने शक्ति के विकेंद्रीकरण का सुझाव दिया। कमेटी का यह मानना था कि गाँवों को तब तक आत्मनिर्भर नहीं बनाया जा सकता, जब तक की ग्रामीण विकास में लोगों की सक्रिय भागीदारी न हो। मेहता की सिफ़ारिशों के निम्न तीन उद्देश्य थे:

(1) ग्रमीण समुदाय की उन माँगों को पूरा करना, जिन्हें वे स्वयं अनुभव करते हैं।

(2) गाँव के नेतृत्व को यानी गैर-सरकारी (Non-official) लोगों को शक्ति देना।

(3) ग्रामीण योजनाओं की क्रियान्विति का काम गाँव के लोगों के हाथों में ही दिया जाए।

यह पहली बार था कि सरकार ने कानून बनाकर गाँव के लोगों को उनकी विकास योजनाओं को बनाने और लागू करने में सक्रिय भागीदारी प्रदान की। यह रुचिकर बात है कि राजस्थान जैसा राज्य जो सदियों तक सामंती पीड़ा से पिछड़ा रहा, विकेंद्रीकरण की योजना को सबसे पहले अपनाया। इसके बाद पंचायतीराज को आंध्रप्रदेश और दूसरे राज्यों ने लागू किया। बलवंतराय मेहता ने पंचायती राज के तीन स्तर (Three-tier) प्रशासनात्मक ढाँचे को रखा। यह भी कहा गया कि इस ढाँचे में राज्य सरकारें अपनी आवश्यकताओं और परिस्थियों के अनुसार परिवर्तन भी कर सकती हैं। इस टायर का सबसे नीचे वाला भाग ग्राम सभा का था। ग्राम सभा की संरचना जनसंख्या के आधार पर निर्धारित की गई। सामान्यतया एक ग्राम सभा में दो से तीन गाँव थे। पंचायती राज का यह सबसे छोटा पायदान था। जिसका आधार गाँव के निवासी थे। सभी वयस्कों की इसमें भागीदारी थी। पंचायतीराज का दूसरा टायर या पायदान तहसील या तालुका था और इससे ऊपर जिला था।

मेहता कमेटी की सिफारिशों पर बना हुआ पंचायती राज कोई सफल कहानी नहीं बना सका और तब 1977 में सरकार ने अशोक मेहता कमेटी बनायी। अशोक मेहता एक विद्वान अर्थशास्त्री थे। उन्होंने पंचायती व्यवस्था में बुनियादी अंतर किए। उनका सुझाव था कि पंचायती राज संस्थाओं को राजनीतिक संस्था बना देना चाहिए। यदि सरकार इन सिफारिशों को मान लेती तो इसके लिए पहला काम संविधान में संशोधन करना था। सरकार ने 10 वर्ष बाद संसद में संविधान के 64 वे संशोधन के लिए बिल रखा लेकिन राज्य सभा ने इसे अस्वीकार कर दिया और तब सन् 1992 में 73वाँ संशोधन बिल रखा गया जो पारित हो गया। इस 73वें संविधान संशोधन ने पंचायती राज की संरचना में बहुत बड़ा अंतर ला दिया।

2.13 73वाँ संविधान संशोधन (73rd Constitutional Amendment)

आज जो पंचायती राज देश में लागू है वह बलवंतराय मेहता के पंचायती राज से दो बिंदुओं पर भिन्न है। पहली बात तो यह है कि पिछला पंचायती राज राजनीतिक संस्था नहीं था। तब यह प्रतिमान केवल योजनाओं को लागू करने तक सीमित था। इसका अर्थ यह हुआ कि तब पंचायती राज चुनावों में राजनीतिक दलों की कोई भूमिका नहीं थी। वे व्यक्ति जो चुनाव लड़ते थे उनका नामांकन राजनीतिक दल नहीं करते थे। अब 73वें संविधान अधिनियम के अनुसार राजनीतिक दल चुनाव में अपने उम्मीदवारों का नामांकन करते हैं। दूसरे शब्दों में, पंचायतीराज के उम्मीदवार राजनीतिक दल के आधार पर चुनाव लड़ते हैं।

पिछले पंचायतीराज की तुलना में, 73वें संशोधन का एक और अंतर है। अब पंचायती राज कार्यक्रम को लागू नहीं करता। इसका काम केवल निर्णय करने का है। इस संशोधन की एक और विशेषता है कि यह कमज़ोर वर्गों और महिलाओं को विशेष शक्ति (Power) देता है। संविधान द्वारा निर्धारित कोटे के अनुसार कमज़ोर वर्गों और स्त्रियों को इसमें प्रतिनिधित्व दिया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन वर्गों के लिए पंचायती राज में स्थान आरक्षित (Reserved) होते हैं। इस संशोधन ने वस्तुतः स्त्रियों, अनुसूचित जातियों और जनजातियों को विशेष शक्ति दी है। उनके स्थान का आरक्षण है इस स्थान पर गैर अनुसूचित वर्ग का व्यक्ति चुनाव नहीं लड़ सकता।

नोट

अभी हाल में जो पंचायती राज व्यवस्था है वह संविधान का 73वाँ और 74वाँ संशोधन अधिनियम है। इस अधिनियम के कुछ मुख्य बिंदु इस प्रकार हैं:

(1) पंचायतें अब राजनीतिक संस्थाएँ हैं और शक्ति का बँटवारा कानूनी है।

(2) पंचायती राज की जीवन रेखा ग्राम सभा है। पंचायत में आने वाले गाँव इसकी सदस्यता को बनाते हैं।

(3) पंचायजी राज के तीनों टायर (Tier) यानी पायदानों पर सीधे चुनाव होंगे। ये पायदान इस भाँति हैं–(*i*) ग्रामीण स्तर पर ग्राम पंचायत, (*ii*) मध्यम स्तर पर पंचायत समिति और (*iii*) जिला स्तर पर जिला परिषद्।

(4) जहाँ तक स्त्रियों का सबलीकरण (Empowerment) करने का सवाल है, अधिनियम में यह प्रावधान है कि तीनों टायरों और पायदानों में जो कुल स्थान (Seats) हैं उनके एक तिहाई स्थान स्त्रियों के लिए आरक्षित होंगे और इन एक तिहाई स्थानों में से प्रत्येक एक तिहाई पर अनुसूचित जातियों व जनजातियों के स्थान आरक्षित हैं। इसका यह मतलब हुआ कि पंचायती राज के तीनों टायरों पर स्त्रियों के एक तिहाई स्थान आरक्षित हैं।

(5) सभी पंचायती राज संस्थाओं की अवधि 5 वर्ष की होगी। यदि परिस्थितिवश राज्य सरकार पंचायती राज संस्थाओं को समाप्त (Dissolve) कर दे तो छः माह की अवधि में नए चुनाव हो जाएँगे।

(6) पंचायत राज की तरह अन्य स्थानीय संस्थाओं जैसे कि नगरपालिका के चुनाव भी नियमित रूप से होंगे।

(7) प्रत्येक राज्य में पंचायती राज संस्थाओं की चुनाव के लिए पृथक चुनाव कमीशन और वित्तीय कमीशन होंगे।

(8) सरकार इसके लिए बाध्य होगी कि वह पंचायती राज के कार्यों के लिए पर्याप्त फंड दें। इस फंड के अतिरिक्त ये संस्थाएँ अपने स्थानीय स्त्रोतों के आधार पर स्वयं का एक फंड बनाएँगी।

(9) कुछ राज्यों जैसे की राजस्थान, हरियाणा और उड़ीसा ने उन उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने की स्वीकृति नहीं दी जिनकी दो से अधिक संतान हैं।

(10) कुछ राज्यों ने जैसे कि बिहार, हिमाचल प्रदेश, उत्तरप्रदेश, हरियाणा और कर्नाटक ने न्याय पंचायत का प्रावधान रखा है। ये न्याय पंचायतें पंचायती राज के तीनों टायरों पर काम करती हैं।

पंचायती राज के कार्य (Functions of Panchayati Raj)

संविधान संशोधन ने पंचायती राज के निम्न कार्य बताए हैं:

(1) कृषि विकास और सिंचाई सुविधाएँ,

(2) भूमि सुधार,

(3) गरीबी उन्मूलन,

(4) दूध डेयरी, मुर्गीपालन, सुअरपालन और मत्स्य उत्पादन,

(5) ग्रामीण आवास,

(6) सुरक्षित पीने योग्य पानी,

(7) सामाजिक वानिकी, पशु आहार और ईंधन,

(8) सड़कें,

(9) बाज़ार व मेले,

(10) स्त्री व बच्चों का विकास और

(11) कमज़ोर वर्गों का कल्याण।

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त पंचायती राज संस्थाएँ कुछ विशेष कार्य भी करती हैं। इन विशेष कार्यक्रमों में–(1) मद्यनिषेध, (2) भू-संरक्षण, (3) लघु वन उपज विकास आदि सम्मिलित हैं।

नोट

पंचायती राज की आलोचना (Criticism of Panchayati Raj)

73वें संशोधन अधिनियम के बाद देश में एक बहुत बड़ी बहस चल रही है। कहा जा रहा है कि पंचायती राज संशोधन अधिनियम ने स्त्रियों को बहुत शक्तिशाली बना दिया है। यह स्त्रियों का सबलीकरण है। जहाँ देखो, गोष्ठियाँ हो रही हैं। स्थानीय समाचार पत्रों से लेकर राष्ट्रीय समाचारपत्र तक सबलीकरण पर बराबर लिख रहे हैं। दूसरी ओर पंचायती राज के आलोचक इस सारे भव्य और गरिमामय वातावरण से खुश नहीं हैं। के.एल.शर्मा कहते हैं कि गाँवों में पंचायती राज कोई सबलीकरण का दृष्टांत नहीं है। यहाँ कमजोर वर्ग के सदस्य वही करते हैं जो उनके नातेदार और उच्च जातियों के लोग कहते हैं। ऐसा लगता है कि अधिनियम ने स्त्रियों का सबलीकरण तो कर दिया लेकिन स्त्रियाँ इस सबलीकरण को स्वयं भोगना नहीं चाहतीं। कहावत है घोड़े को पानी तक तो ले जाया जा सकता है लेकिन पानी पीना या न पीना, यह तो उसकी इच्छा पर निर्भर है।

यह आग्रहपूर्वक कहा जाता है कि पंचायती राज एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें लोगों की प्रत्यक्ष भागीदारी है। इस तरह के तर्क नकारते हुए ब्रह्मदत्त शर्मा कहते हैं कि पंचायती राज संस्थाओं के पास आज जो भी शक्ति है वह वास्तविक नहीं है, यह तो एक मिथक है। उनका कहना है कि न तो केंद्र सरकार और न राज्य सरकार यह चाहती है कि शक्ति पंच और प्रधान के पास पहुँच जाए। ये सब सचिवालय में बैठे हुए लोग स्वयं शक्ति को भोगना चाहते हैं। कहने को तो पंचायती राज संशोधन अधिनियम सभी राज्यों पर लागू होता है लेकिन केरल जैसे राज्य ने ऐसा नहीं किया है। संविधान के 11वीं अनुसूची के अनुसार 29 मुद्दे ऐसे हैं जो ग्राम सभा के हस्तक्षेप में हैं। केरल ने इन मुद्दों को ग्राम सभा को नहीं दिया है। एक आलोचना यह भी है कि बहुत-सी विकास योजनाएँ जिन पर आज केंद्र नियंत्रण है, पंचायती राज संस्थाओं को नहीं दी गई हैं और इन आलोचनाओं के अतिरिक्त एक बहुत बड़ी आलोचना एम.ए. विंडे (M.A. Windey) की है जो बैल्जियम के निवासी हैं और पिछले 50 वर्षों से एक गैर सरकारी संस्था के माध्यम से ग्रामीण पुनर्रचना में जुटे हैं, पंचायती राज पर टिप्पणी करते हैं:

वास्तव में पंचायती राज और कुछ न होकर केंद्र की शक्ति और उसकी विचारधारा का विस्तार मात्र है। देखा जाए तो पंचायती राज जो कुछ आज कर रही है वह और कुछ न होकर शहरी समुदाय का अनुकरण मात्र है। आज आवश्यकता इस बात की है कि पंचायती राज को जो कुछ करना है वह गाँव के लिए है, गाँव में है और गाँव जैसा है।

2.14 74वाँ संविधान संशोधन: नगरपालिका की संरचना (74th Constitutional Amendment: Structure of Municipality)

जिस तरह संविधान के 73वें संशोधन ने पंचायती राज संस्था को शक्तिशाली बनाया है वैसे ही 74वाँ संविधान संशोधन भी नगरपालिका का विशेष अधिकार देता है। यह अधिनियम 1992 में पारित हुआ। इस संशोधन का उद्देश्य शहरी स्थानीय प्रशासन को अधिक सुरक्षाएँ देना है। इसके पीछे जो सिद्धांत है वह यह कि नगर स्तर पर नागरिकों को अधिक से अधिक अधिकार मिलें। यह अपेक्षित है कि नागरिक शक्ति के इस विकेंद्रीकरण में अपनी पर्याप्त भागीदारी करे। वे स्वयं नागरिक सेवाओं (Civil Services) की आयोजना करें और उन्हें व्यवहार में लाने की व्यवस्था करें। इस संशोधन में यह कहा गया है कि नगरपालिकाओं का नए सिरे से चयन हो।

74वें संविधान संशोधन के पीछे तीन कारक महत्त्वपूर्ण हैं—(1) अब तक नगरपालिकीय सेवाओं के नियोजन और संपादन में निर्धन वर्ग की कोई भूमिका नहीं थी; (2) नगरपालिका के प्रतिनिधित्व में स्थानीय निकायों को कोई स्थान नहीं था; और (3) स्त्रियों तथा अल्पसंख्यक समूहों का स्थानीय निकायों में प्रतिनिधित्व नाममात्र का था। नगरपालिकाओं की यह स्थिति संतोषजनक नहीं थी। इसी कारण शक्ति के विकेंद्रीकरण के लिए सरकार ने यह नया संशोधन स्वीकार किया। इस संशोधन के अनुसार निकायों की संरचना नगरों के आकार के आधार पर होनी है। यह पारित किया गया है कि छोटे नगरों में स्थानीय निकाय हों और बड़े नगरों में नगर निगम की व्यवस्था हो। इस संशोधन में यह भी प्रावधान है कि संक्रमणीय क्षेत्रों में नगरीय पंचायत की व्यवस्था हो।

नोट

शक्ति का विकेंद्रीकरण (Decentralization of Power)

74वें संविधान के निम्नलिखित उद्देश्य हैं:

1. निर्णय प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण–नगर सेवाओं से जुड़े हुए सभी निर्णय स्थानीय निकाय करेंगे। यह निर्णय लोगों की सलाह के बाद लिए जाएँगे।

2. सभी स्तरों पर अधिकतम पारदर्शिता–नगरवासियों को यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि एक नागरिक होने के नाते उनके क्या अधिकार हैं। उन्हें यह भी ज्ञात होना चाहिए कि इस संशोधन में आम नागरिकों के लिए क्या प्रावधान उपलब्ध हैं?

3. आर्थिक आधार का सुदृढ़ीकरण–इस उद्देश्य के अंतर्गत यह सुनिश्चित करना कि गरीबों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त संसाधन और धन निकाय के पास होने चाहिए।

4. लोकतांत्रिक प्रक्रिया का रक्षण–लोगों के प्रतिनिधियों को निर्णय लेने के लिए उत्तरदायी होना चाहिए।

5. लोगों के विचार को प्रतिनिधित्व प्रदान करना–निकाय के प्रतिनिधि, योजना बनाने वालों आदि को यह पूरा ज्ञान होना चाहिए कि नगर के लोगों की कौन-सी बुनियादी आवश्यकताएँ हैं। ये आवश्यकताएँ महिलाओं, गरीब और असमर्थ लोगों से जुड़ी होनी चाहिए।

2.15 निकायों की संरचना (Structure of Municipality)

नगर निगम या निकाय की संरचना ऐसी होनी चाहिए कि इसमें संपूर्ण क्षेत्र का पर्याप्त प्रतिनिधित्व हो। इस प्रतिनिधित्व की चार विशेषताएँ इस अधिनियम ने निश्चित की हैं:

(1) क्षेत्र में अनुसूचित जातियों और जनजातियों की जो जनसंख्या है उसका संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व हो।

(2) संपूर्ण प्रतिनिधित्व का एक-तिहाई भाग स्त्रियों का होना चाहिए।

(3) नगरीय निकायों में उस क्षेत्र से आने वाले लोकसभा एवं विधानसभा के सदस्य हों।

(4) निकायों में इस भाँति वार्ड के सभी चुने सदस्य तथा सरकार द्वारा नामित सदस्य प्रतिनिधित्व करते हैं। स्थानीय निकायों और नगर निगमों का कार्यकाल पाँच वर्षों का होगा। ये निकाय राज्य के किसी कानून द्वारा भंग किए जा सकते हैं। भंग होने की स्थिति में छः माह के अंदर चुनाव हो जाने चाहिए।

नगर निकायों के कार्य (Functions of Municipality)

(1) आर्थिक नियोजन एवं सामाजिक न्याय की व्यवस्था।

(2) 12वीं अनुसूची में दिए हुए कार्यों का संपादन।

(3) भूमि उपयोग का संचालन।

(4) निर्माण।

(5) जनस्वास्थ्य।

(6) पर्यावरण।

(7) मलिन बस्ती विकास एवं उत्थान।

(8) शहरीय सुविधाओं का प्रावधान।

74वें संविधान संशोधन की 12वीं अनुसूची ने नगरीय निकायों के कुछ विशेष कार्य सम्मिलित किए हैं। इन विशेष कार्यों की सूची बहुत लंबी है। मुख्य रूप से इन कार्यों में ये कार्य सम्मिलित हैं–सामाजिक एवं आर्थिक विकास का नियोजन, कमजोर वर्गों के हितों की रक्षा, शहरीय निर्धनता निवारण, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक कार्यक्रमों को प्रोत्साहन, जल संचरण प्रबंधन, पर्यावरण, अग्नि सेवाएँ, पशु क्रूरता की रोकथाम इत्यादि।

इस संशोधन ने नगर निकायों के आर्थिक सुधारों के सुदृढ़ीकरण पर भी कुछ सुझाव दिए हैं। निकाय को कर, लेवी आदि के अधिकार दिए गए हैं। राज्य को यह अधिकार दिया गया है कि वह "राज्य वित्त आयोग" का गठन करे। नगर निकाय को आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए व्यक्तिगत एवं सरकारी साझेदारी को प्रोत्साहित करना चाहिए।

74वाँ संविधान संशोधन एक ऐतिहासिक प्रघटना है। यह पहली बार है कि केंद्र सरकार ने शक्ति के विकेंद्रीकरण को शहरी स्थानीय प्रशासन तक पहुँचाया है। जहाँ तक शक्ति की साझेदारी का प्रश्न है यह संशोधन बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम नागरिक समाज (Civil Society) को विकसित करें। यह संगठनात्मक कार्य इस संशोधन द्वारा पूरा हो सकता है। देखा जाए तो किसी भी नगर निकाय की आवश्यकताएँ बहुत अधिक होती हैं और दूसरी ओर इन सेवाओं की पूर्ति के लिए निकायों के पास धन का अभाव बराबर बना रहता है। अभी इस संशोधन के क्रियान्वयन का कोई लंबा समय नहीं हुआ है और इसलिए इसका मूल्यांकन करना कठिन है। यह तो समय ही बताएगा कि शक्ति के इस विकेंद्रीकरण ने कहाँ तक नगरीय समाज को एक सशक्त भागीदारी दी है।

आधुनिक युग विचारधाराओं का युग है। आज प्रत्येक राष्ट्र किसी न किसी विचारधारा से जुड़ा हुआ है। विचारधाराओं को समझे बिना राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को नहीं समझा जा सकता। राष्ट्रीय राजनीति में शासन का संचालन करने वाले राजनीतिक दलों का अंतर विचारधारा के आधार पर ही किया जा सकता है। इसी प्रकार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों की विदेश नीति को विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। वस्तुतः विचारधारा समस्त राजनीति का आधार है।

छात्र क्रियाकलाप

1. परंपरागत समाज में प्रजातंत्र का क्या महत्त्व है?

2. भारत में राजनीतिक अभिजन की उत्पत्ति किस प्रकार हुई?

2.16 सारांश (Summary)

- आज राजनीतिक समाजशास्त्र अपने नए अवतार में है। राजनीतिक विज्ञान और मनोविज्ञान के गठबंधन ने राजनीतिक समाजशास्त्र को विकसित किया है। समाजशास्त्री राजनीतिक प्रक्रियाओं, राजनीतिक दलों, दबाव समूह, गुटबाजी आदि का विश्लेषण करते हैं।
- प्रजातंत्र एक विश्वस्तरीय राजनीतिक व्यवस्था है। यह व्यवस्था जब किसी देश में लागू की जाती है तो वह देश इसे अपनी परंपरा के अनुसार अपना प्रत्युत्तर देता है।
- जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभिजन होते हैं। अगर हम किसी भी समाज के विभिन्न क्षेत्रों में देखें तो प्रत्येक में एक या अधिक अभिजन मिलते हैं। सामान्य भाषा में अभिजन का मतलब होता है बड़ा आदमी।
- आज के राजनीतिक अभिजन की काम करने की पद्धति और जीवन दर्शन में बहुत कुछ समानता है। राजनीतिक शक्ति का प्रयोग भी ये अभिजन समान रूप से करते हैं।
- भारत की आँचलिकता केवल एक भौगोलिक क्षेत्र ही नहीं है, इसके साथ भाषा, विचारधारा, गरीबी, साहित्य, कला और एक व्यापक चरित्र भी जुड़ा होता है। आँचलिकता के विद्वान इस बात को स्पष्ट रूप से जानते हैं कि एक अँचल कहाँ से शुरू होता है और कहाँ उसका अंत होता है।
- हम भारत को एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं तो इसके लिए कोई एक ही संस्कृति होनी चाहिए या अनेक संस्कृतियों के अस्तित्व को मानते हुए कोई एक मिश्रित यानी कंपोजिट कल्चर होना चाहिए।
- प्रजातांत्रिक व्यवस्था में राज्य के पास जो भी शक्ति है वह धर्म से प्राप्त नहीं है, अपने नागरिकों से प्राप्त है। ऐसी अवस्था में नागरिकों की जो संस्कृति है उसे संरक्षण देने में राज्य की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।
- राष्ट्रीय एकता और अनेकत्व भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। अनेकत्व के होते हुए भी राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सकती है।
- राष्ट्रीय एकता के निर्माण में सबसे बड़ा मसला, सांप्रदायिकता का है। आए दिन सांप्रदायिकता से जुड़ी हुई समस्याएँ पैदा होती रहती हैं। हमारी अधिकांश समस्याओं का मूल केवल मूल्यों का विरोधाभास नहीं है, हमारे आर्थिक और राजनीतिक हेतुओं में हैं। मूल्यों की यह विषमता यदि दूर कर दी जाए तो राष्ट्रीय एकता की समस्या सुलझ जाएगी।
- गाँवों में पंचायतीराज का विकास किसी नेतृत्व की अनुकंपा नहीं है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्त्वों में कहा गया है: "राज्य सरकार को ग्राम पंचायतों के संगठन के लिए कदम उठाने चाहिए। उन्हें ऐसा बनाना चाहिए कि वे स्वयं अपना प्रशासन कर सकें।"
- 73वें संशोधन अधिनियम के बाद देश में एक बहुत बड़ी बहस चल रही है। कहा जा रहा है कि पंचायती राज संशोधन अधिनियम ने स्त्रियों को बहुत शक्तिशाली बना दिया है। यह स्त्रियों का सबलीकरण है।
- पंचायती राज और कुछ न होकर केंद्र की शक्ति और उसकी विचारधारा का विस्तार मात्र है। देखा जाए तो पंचायती राज संस्थाएँ जो कुछ आज कर रही हैं वह और कुछ न होकर शहरी समुदाय का अनुकरण मात्र है।
- 74वाँ संविधान संशोधन एक ऐतिहासिक प्रघटना है। यह पहली बार है कि केंद्र सरकार ने शक्ति के विकेंद्रीकरण को शहरी स्थानीय प्रशासन तक पहुँचाया है। जहाँ तक शक्ति की साझेदारी का प्रश्न है यह संशोधन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. भारतीय प्रजातंत्र की प्रकृति का विवरण दें। इसकी विशेषताओं का भी उल्लेख करें।
2. राजनीतिक अभिजन का क्या अर्थ है? राजनीतिक अभिजन के शक्ति-स्रोत कौन-कौन से हैं?
3. आँचलिकता से क्या तात्पर्य है? आँचलिकता को नई पहचान किस प्रकार मिली?
4. अनेकत्ववाद एवं राष्ट्रीय एकता का संक्षेप में वर्णन करें।
5. पंचायती राज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालें। पंचायती राज की स्थापना के क्या उद्देश्य हैं?
6. शक्ति के विकेंद्रीकरण से आप क्या समझते हैं?
7. पंचायती राज के क्या कार्य हैं? इसकी आलोचना किस प्रकार की जा सकती है?
8. 73वाँ संविधान संशोधन क्या है? इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताओ।
9. निकायों की संरचना के बारे में आप क्या जानते हैं? नगर निकायों के कार्यों का भी उल्लेख करो।

संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

1. Action and organisation: An Introduction to comtemporary Political Science — Robert C. Bone
2. Modern Politics and Government — Alan R. Ball
3. Rajneeti Shastra ke Mool Siddhant (Hindi) — Iqbal Narian
4. *Community conflict and the state in India* — *Basu, Amrita and Kohli, Atul* oxford, New Delhi, 1998

नोट

इकाई–3
Unit–III

राजनीति में बुद्धिजीवी की भूमिका, दबाव एवं हित समूह और नौकरशाही

(Political Role of Intellectuals, Pressure and Interest Group and Bureaucracy)

संरचना (Structure)

3.1 उद्देश्य (Objectives)
3.2 प्रस्तावना (Introduction)
3.3 राजनीति में बुद्धिजीवी की भूमिका एवं महत्त्व (Political Role and Importance of Intellectuals)
3.4 विचारधारा के अंत का सिद्धात (Theory of End of Ideology)
3.5 दबाव एवं हित समूह: प्रकृति, आधार एवं राजनीतिक महत्त्व (Pressure and Interest Group: Nature, Base and Political Importance)
3.6 दबाव समूहों की कार्य-प्रणाली (Functioning Techniques of Pressure Groups)
3.7 दबाव समूहों की कार्यविधियाँ (Functioning Methods of Pressure Groups)
3.8 दबाव समूह और लोकतन्त्र (Pressure Groups and Democracy)
3.9 नौकरशाही: विशेषता, प्रकार और राजनीतिक विकास में इसका महत्त्व (Bureaucracy: characteristics, types and its Importance in Political development)
3.10 नौकरशाही के लाभ एवं प्रकार्य: सामाजिक-आर्थिक परिणाम (Advantages of Bureaucracy: Socio-economic Consequences)
3.11 सारांश (Summary)
- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

3.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- राजनीति में बुद्धिजीवी की भूमिका एवं महत्त्व को समझने में;
- अनेक प्रकार की विचारधाराओं की व्याख्या करने में;
- दबाव समूहों की विस्तृत जानकारी प्राप्त करने में;
- नौकरशाही, इसके लाभ, लक्षण एवं प्रकारों को जानने में।

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

राजनीतिक विचारधारा राजनीतिक व्यवस्था को बनाए रखने वाली वैचारिक व्यवस्था है। चूँकि राजनीतिक विचारधारा राजनीतिक विचारों से जुड़ी हुई अवधारणा है और राजनीतिक विचार राजनीतिक व्यवस्था के इर्द-गिर्द घूमने वाले लोगों के विचार हैं अत: जब ये राजनीतिक विचार स्पष्ट और व्यवस्थित रूप धारण कर लेते हैं तो उन्हें राजनीतिक विचारधारा कहा जाने लगता है। इसलिए **कार्ल जे. फ्रेडरिक** ने इसे विचारों की सक्रियता संबद्ध पद्धतियाँ (Action Related Systems of Ideas) कहा है। इस दृष्टि से विचारधारा प्रचलित राजनीतिक व्यवस्थाओं के स्थायित्व अथवा उनमें परिवर्तन अथवा उनकी रक्षा से संबंधित विचारों का पुंज होती है। **मैक्फर्सन** के अनुसार राजनीतिक विचारधारा शासन द्वारा वैधता प्राप्त करने का एक उपकरण है। **रॉबर्ट डहल** के अनुसार राजनीतिक विचारधारा स्थापित विचारों और विश्वासों का संगठित रूप है। **मोस्का** ने विचारधारा को 'राजनीतिक सूत्र' (Political Formula) कहा है। **सोरेल** ने इसे सामाजिक एवं राजनीतिक मिथक् के रूप में ग्रहण किया है। वे लिखते हैं, "राजनीतिक विचारधारा आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक मूल्यों एवं लक्ष्यों से संबद्ध उन विचारों का निकाय है जो उन मूल्यों को प्राप्त करने के लिए कार्यों की योजना या रूपरेखा प्रस्तुत करता है।"

3.3 राजनीति में बुद्धिजीवी की भूमिका एवं महत्व (Political Role and Importance of Intellectuals)

आधुनिक युग विचारधाराओं का युग है। आज प्रत्येक राष्ट्र किसी-न-किसी विचारधारा से जुड़ा हुआ है। विचारधाराओं को समझे बिना राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को नहीं समझा जा सकता। राष्ट्रीय राजनीति में शासन का संचालन करने वाले राजनीतिक दलों का अन्तर विचारधारा के आधार पर ही किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राज्यों की विदेश नीति को विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। वस्तुत: विचारधारा समस्त राजनीति का आधार है।

विचारधारा से तात्पर्य (Ideology: Meaning)

'विचारधारा' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। पहले अर्थ में विचारधारा विचारों एवं विश्वासों का ऐसा समुच्चय है जो एक सुनिश्चित विश्वदृष्टि पर आधारित हो और अपने को अपने आप में पूर्ण मानता हो। यह संसार की सारी वास्तविकता की व्याख्या का आधार प्रदान करने का दावा करती है। इस अर्थ में विचारधारा मनुष्य की प्रकृति के बारे में कुछ मान्यताएं लेकर चलती है और उनके आधार पर मानव इतिहास का एक सिद्धांत, आचरण की एक नैतिक नियमावली और कर्म का एक कार्यक्रम पेश करती है। **दूसरे** अर्थ में विचारधारा को अपने राजनीतिक उद्देश्य छिपाने का एक आवरण कहा जा सकता है। इस अर्थ में औचित्य पूर्णता या वैधता प्राप्ति के लिए विभिन्न विचारधाराओं की रचना और प्रचार किया जाता है।

विचारधारा शब्द का अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द है–**आइडियोलोजी** जिसका पहली बार प्रयोग 23 मई, 1797 को एक फ्रैंच सिद्धांत वेत्ता **डेस्टुट डि ट्रेसी** द्वारा किया गया। इस शब्द से उसका तात्पर्य 'विचारों के विज्ञान' से था--एक ऐसा विज्ञान जिसमें एकदम नई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का आधार बनने का सामर्थ्य हो।

आजकल "विचारधारा एक प्रकार का राजनीतिक सिद्धांत है जो (इसके व्यापक अर्थों में) किसी राजनीतिक व्यवस्था का और साथ ही उन मूल्यों और आदर्शों का समर्थन करती है जो इसे मानव मन की अंतिम निकटता के रूप में एक आदर्श व्यवस्था के साथ में बनाए रखते हैं और यह दावा करते हैं कि यह अंतिम रूप तक उसे प्राप्त करने का प्रयास करती है।"

वेब्स्टर शब्दकोश में विचारधारा को विचारों का विज्ञान बताया गया है। यह भी कहा गया है कि राजनीतिक, सामाजिक कार्यक्रम बनाने वाले एकीकृत कथनों, सिद्धांतों और लक्ष्यों से विचारधारा बनती है, प्राय: इनका निहितार्थ झूठा प्रचार फैलाना है जैसे--जर्मनी में नाजी विचारधाराओं को प्रभावी बनाने के लिए फासीवाद को

नोट

संशोधित किया गया। नेपोलियन युग में इसका अभिप्राय किसी प्रकार का गणतंत्रीय या क्रांतिकारी विश्वास हो गया। ऐसा विश्वास जिसे नेपोलियन स्वयं अपना विरोधी कहता।.....लेकिन जिसे **मार्क्स** व **एंगेल्स** विचारधारा कहते हैं उसमें केवल ज्ञान या राजनीति का सिद्धांत ही नहीं बल्कि आध्यात्म की, आचार-शास्त्र, धर्म और वास्तव में चेतना का ऐसा रूप शामिल है जो किसी सामाजिक वर्ग के मूल रुझानों या प्रतिबद्धताओं को अभिव्यक्त करता है।

अपने व्यापकतम अर्थों में विचारधारा शब्द विचारों का एक ऐसा पुंज है जिसमें प्रचलित व्यवस्था में किसी प्रकार के परिवर्तन से लेकर समाज के संपूर्ण कायाकल्प का आह्वान तक सभी शामिल होता है। इसमें विचारों के अन्य समुच्चय की निंदा और दूसरे समुच्चय को औचित्य प्रदान किया जाता है कि आलोचक किसी विशेष प्रकार की विचारधारा को यूटोपिया या मिथ्याचेतना कह सकता है। ये विचार किसी तथ्य की व्याख्या या किसी तर्क के औचित्य या किसी सत्य की तलाश या किसी आस्था की अभिव्यक्ति के रूप में हो सकते हैं।

सी.बी. मैक्फर्सन के अनुसार, "मैं विचारधारा को प्रकृति, समाज और इतिहास में मनुष्य की स्थिति के बारे में विचारों का व्यवस्थित पुंज समझता हूँ.....। इस दृष्टि से उदारवाद, अनुदारवाद, लोकतंत्र, मार्क्सवाद, राष्ट्रवाद आदि सभी विचारधाराएं हैं। विचारधाराओं में विभिन्न अनुपात में तथ्य और इतिहास की व्याख्या, मांगों का औचित्य और आस्था या विश्वास के तथ्य पाए जाते हैं। वे राजनीतिक सिद्धांतों और राजनीतिक दर्शनों से प्रभावित होते हैं। वे किसी प्रभावी राजनीतिक आंदोलन और इसलिए किसी क्रांति के लिए आवश्यक हैं क्योंकि वे मांग करने, मांग को समर्थन देने और वैधता प्रदान करने के तिहरे कार्य करते हैं।"

विचारधारा के बारे में सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण इसका कार्यान्मुख स्वरूप है। राजनीतिक विचारधारा की वैधता इसके क्रियान्वयन में निहित है। **फ्रैंक ठाकुर दास** के शब्दों में राजनीतिक विचारधारा की क्षमता इसके अनुप्रयोग में निहित है।

राजनीतिक विचारधारा और राजनीतिक मनोवृत्ति को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। राजनीतिक विचारधारा एक विचार प्रणाली है जिसको बौद्धिक रूप से गढ़ा जाता है और बुद्धिजीवियों और विद्वानों की सहायता से उसे प्रस्तुत किया जाता है। इसके विपरीत मनोवृत्ति, विचार और अनुभव करने की रीति की द्योतक है और तर्कसंगत होने की अपेक्षा भावात्मक अधिक है। इसी प्रकार राजनीतिक विचारधारा कोरा राजनीतिक दर्शन भी नहीं है। राजनीतिक दर्शन, विचारशक्ति और सूझबूझ का आह्वान करता है, जबकि राजनीतिक विचारधारा का नितिहार्थ प्रतिबद्धता और क्रियात्मकता है। संक्षेप में राजनीतिक विचारधारा राजनीतिक व्यवस्था की क्रियात्मकता का कार्यक्रम (Action Programme) है।

समय तथा परिस्थितियों में परिवर्तन एवं समाज में वर्गों की स्थिति के अनुसार विचारधाराओं का उदय होता है और उनमें परिवर्तन होता रहता है। हर राजनीतिक विचारधारा एक वर्ग विशेष के वर्गहित तथा मूल्यों के दार्शनिक विश्लेषण पर आधारित होती है और इसी आधार पर वैज्ञानिक विधि से समझी जा सकती है। जैसे-जैसे वर्गों की स्थिति में परिवर्तन होता जाता है वैसे-वैसे विचारधारा के स्वरूप में भी परिवर्तन आता जाता है। राजनीतिक विचारधाराएँ वर्गों की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकतानुसार तथा वर्गों के विकास के अनुसार बदलती तथा विकसित होती रहती हैं। समय, परिस्थितियों तथा वर्ग की भूमिका के अनुसार ही विचारधारा प्रगतिशील या प्रगतिविरोधी, क्रांतिकारी या क्रांतिविरोधी बन जाती है। आज की प्रगतिशील तथा क्रांतिकारी विचारधारा आने वाले काल में प्रगतिविरोधी व क्रांतिविरोधी भी बन सकती है।

राजनीतिक विचारधारा के लक्षण (Characteristics of Political Ideology)

राजनीतिक विचारधारा के निम्नलिखित लक्षण हैं:

1. राजनीतिक विचारों का समुच्चय—राजनीतिक विचारधारा राजनीतिक विचारों का ऐसा पुंज है जो सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के बारे में तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करती है। यह विचारों, मतों, मूल्यों और दृष्टिकोणों के संगठन की द्योतक है। मनुष्य और समाज के बारे में एक चिंतन पद्धति है।

नोट

2. राजनीतिक व्यवस्था की क्रियात्मकता का कार्यक्रम–राजनीतिक विचारधारा कोरा विचारों का समुच्चय ही नहीं होता अपितु यह एक तरह से विचारों की क्रियात्मकता का कार्यक्रम है। **प्रेस्टन किंग** के शब्दों में, "राजनीतिक विचारधारा का महत्त्व इसके अनुप्रयोग में निहित है। यह प्रत्यक्ष राजनीतिक कार्यवाही के लिए एक मार्गदर्शक है।"

3. प्रतिबद्धता–राजनीतिक विचारधारा का मतलब आस्थाओं के व्यवस्थाबद्ध संग्रह से है–ऐसे विचार जिन्हें कोई अपना लेता है। राजनीतिक विचारधाराओं के आधार पर ही लोगों की प्रतिबद्धता को समूहबद्ध किया जाता है। विचारों का समुच्चय होने के नाते आस्था एवं प्रतिबद्धता से विलग होने पर विचारधारा जीवित नहीं रह सकती। **मैक्फर्सन** के अनुसार, "राजनीतिक विचारधारा वे समूह विश्वास होते हैं जिन्हें लोग ग्रहण करते हैं, अधिकांश लोग किसी राजनीतिक समूह के साथ तादात्म्य या अतादात्म्य करके कोई विचारधारा प्राप्त करते हैं।"

4. राजनीतिक प्रश्नों के निर्धारण की क्षमता–राजनीतिक विचारधारा इन प्रश्नों का समाधान करती है कि शासक कौन होंगे? शासकों का चयन कैसे किया जाएगा? किन सिद्धांतों के आधार पर वे शासन करेंगे?

5. राजनीतिक व्यवस्था को वैधता प्रदान करना–राजनीतिक विचारधारा ऐसा उपकरण है जो नेताओं को राजनीतिक कार्यों में भाग लेने के लिए अनुप्रेरित करता है या वे अपनी राजनीतिक व्यवस्था को वैधता का स्वरूप प्रदान करते हैं। वे अपने राजनीतिक विरोधियों को विचारधारा रूपी छड़ी से ही पीटने का प्रयास करते हैं।

संक्षेप में, राजनीतिक विचारधारा, राजनीतिक यथार्थ की विवेचक और उसकी क्रियात्मकता की रूपरेखा होती है। यह राजनीतिक विचारों, उद्देश्यों और प्रयोजनों का मुखरित समुच्चय है जो राजनीतिक व्यवस्था के सदस्यों को अतीत की व्याख्या, वर्तमान का विश्लेषण और भविष्य का दृष्टिकोण पेश करती है। राजनीतिक विचारधारा में तर्क होता है अर्थात् उनका उद्देश्य अपने विचारों से सहमत कराना और विरोधी विचारों का प्रतिकार करना होता है। यह राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता के वितरण के स्वरूप का निर्धारक होती है। यह राजनीतिक व्यवस्था की वैधता का आधार व मानदंड निर्धारित करती है। राजनीतिक विचार अव्यवस्थित माँगों को अधिक संगत प्रतिरूप में एकत्रित करके व्यवस्था तथा समन्वय को जन्म देते हैं। इन सबसे ऊपर वे सार्थकता और संबद्धता का मापदंड प्रस्तुत करते हैं–ऐसा मापदंड जिससे राजनीतिक आकांक्षाओं तथा कार्यों की परीक्षा की जाती है। आधुनिक समय में राजनीतिक समाजों का आधार ही राजनीतिक विचारधाराएँ हैं।

राजनीतिक विचारधारा के प्रकार (Types of Political Ideology)

राजनीतिक विचारधाराओं का वर्गीकरण राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत उनकी भूमिका से होता है। इस प्रकार विचारधाराओं के बीच हम इस प्रकार भेद कर सकते हैं–

प्रतिक्रियावादी, अनुदारवादी, सुधारवादी, उग्रवादी, क्रांतिकारी। इस प्रकार के वर्गीकरण का प्रयोग करने पर सोवियत मार्क्सवाद और अमरीकी उदारवाद को 'विचारधारा' जैसे एक ही शीर्षक के नीचे रखकर उनके बारे में बात करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

ई.एच. कार ने राजनीतिक विचारधारा के दो प्रकार बताए हैं–

आदर्शवादी विचारधारा भविष्य में ऐसे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समाज की तस्वीर पेश करती है जो शक्ति राजनीति, अनैतिकता और हिंसा से सर्वथा मुक्त हो। राजनीति में आदर्शवादी विचारधारा का संबंध 'क्या होना चाहिए' से है। आदर्शवादी चिंतक इन प्रश्नों पर विचार करते रहे हैं कि दुनिया में न्याय और शांति कैसे स्थापित की जा सकती है। युद्धों का उन्मूलन कैसे किया जा सकता है, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग कैसे विकसित हो सकता है।

यथार्थवादी विचारधारा शक्ति, शस्त्र और युद्ध को मानव स्वभाव की विशेषताएँ मानता है। दूसरे शब्दों में यथार्थवाद विचारों का वह समूह है जो सुरक्षा और शक्ति के घटकों के ध्वनितार्थों को अपनी चिंतन सामग्री बनाता है। यथार्थवादी विचारधारा के अनुसार शक्ति और हित के आधार पर ही राजनीति के वास्तविक अभिनेताओं के कार्यों को समझा जा सकता है।

नोट

मॉरगेन्थाऊ ने 'विचारधारा' का विश्लेषण विदेश नीति के संदर्भ में किया है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि "कुछ विशेष प्रकार की विचारधाराएँ कुछ विशेष प्रकार की अंतर्राष्ट्रीय नीतियों से जुड़ी हुई होती हैं।" इस दृष्टि से वे **तीन प्रकार** की विचारधाराएँ मानते हैं–(1) यथास्थिति की विचारधारा (Ideology of Status Quo), (2) साम्राज्यवाद की विचारधारा (Ideology of Imperialism), (3) अस्पष्ट विचारधाराएँ (Ambiguous Ideologies)।

आधुनिक युग में मोटे तौर पर चार प्रकार की विचारधाराएँ प्रचलित हैं–

1. उदारवादी विचारधाराएँ (Liberal Ideologies)

उदारवादी विचारधारा राजनीति का वह सिद्धांत है जो सामंतवाद के पतन के बाद राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था को बाज़ार अर्थव्यवस्था के अनुरूप मोड़ देने के लिए अस्तित्व में आया। प्रारंभ में इसने व्यक्ति को राजनीति का केंद्र बिंदु मानते हुए व्यक्तिवाद को अपनाया परंतु बाद में इसने राजनीति में समूह की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए बहुलवाद को अपना लिया। शुरू-शुरू में इसने मुक्त बाज़ार व्यवस्था को सार्वजनिक हित का उपयुक्त साधन मानते हुए राज्य के लिए अहस्तक्षेप नीति का समर्थन किया परंतु बाद में इसने बाज़ार व्यवस्था को सार्वजनिक हित के अनुरूप नियमित करने की आवश्यकता स्वीकार करते हुए कल्याणकारी राज्य का सिद्धांत अपना लिया।

उदारवादी विचारधारा में दो प्रमुख विषयों पर बल दिया जाता है। एक तो इसमें निरंकुश सत्ता को अस्वीकार करके उसकी जगह मनुष्यों की स्वतंत्रता पर आधारित व्यवस्था स्थापित करने का लक्ष्य सामने रखा जाता है दूसरे, इसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व की स्वतंत्र अभिव्यक्ति की माँग की जाती है।

उदारवादी विचारधारा के विकास के दो चरण माने जाते हैं–परंपरागत उदारवाद तथा सकारात्मक उदारवाद।

परंपरागत उदारवाद का प्रारंभिक रूप इंग्लैंड में विकसित हुआ। इंग्लैंड में उदारवाद शुरू-शुरू में धार्मिक स्वतंत्रता और सहिष्णुता, संविधानवाद तथा राजनीतिक अधिकारों की माँग के रूप में सामने आया। 1688 की क्रांति इतिहास की सबसे पहली उदारवादी क्रांति मानी जाती है जिसका मुख्य लक्ष्य राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि करना था, आर्थिक उद्देश्यों की नहीं। इन राजनीतिक उद्देश्यों में संविधानवाद के मुख्य-मुख्य सिद्धांत सम्मिलित थे–विरोध का अधिकार, विधि का शासन और शक्तियों का पृथक्करण। परंपरागत उदारवाद एक विशेष आर्थिक वर्ग–उभरते हुए पूँजीवादी वर्ग (मध्यम वर्ग) का दर्शन था। अत: इसका आर्थिक पहलू और भी महत्त्वपूर्ण है। 1760 से 1830 की जबरदस्त औद्योगिक क्रांति के दौर में फ्रांस में फिजिओक्रेटस, इंग्लैंड में एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस आदि ने लेसफेयर का सिद्धांत दिया तथा आर्थिक क्षेत्रों में किसी भी प्रकार की राजनीतिक दखलंदाजी का विरोध करते हुए आर्थिक स्वतंत्रता की सिफ़ारिश की। स्वतंत्र समझौते, व्यापार प्रतियोगिता, अर्थव्यवस्था, बाज़ार तथा बाजारू समाज को आर्थिक स्वतंत्रता की आवश्यकता बताते हुए राज्य की आर्थिक मामलों में दखलंदाजी का विरोध किया गया। आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद को महत्त्व दिया गया। राज्य के अधिकार क्षेत्र को सीमित कर आर्थिक मामले में राज्य की घुसपैठ तथा हस्तक्षेप को रोककर आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवादी उत्पादन संबंधों को स्वतंत्र रूप से स्थापित करके यह प्राप्त किया गया। यह पूँजीवादी वर्ग का आर्थिक दर्शन है। यह राज्य तथा सरकार को आवश्यक बुराई मानता है तथा जो सरकार कम-से-कम शासन करे उसे सर्वोत्तम मानता है।

19वीं शताब्दी में परम्परागत उदारवाद को नई-नई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। इनमें से एक प्रजातंत्र की चुनौती तथा दूसरी समाजवाद की चुनौती थी। प्रजातंत्र की चुनौती का सामना राजनीतिक समानता की माँग को वयस्क मताधिकार देकर सुलझाया गया तथा समाजवाद की आर्थिक समानता की माँग को राज्य को आर्थिक कार्यों में हस्तक्षेप, कल्याणकारी माँग, निर्धन मजदूर वर्ग की आर्थिक स्थिति को सुधारने संबंधी मामलों को पूरा करके किया गया। राज्य की शक्ति का बढ़ाया जाना आर्थिक समानता लाने की आवश्यकता माना गया। 20वीं शताब्दी में भी यह प्रवृत्ति बढ़ती गई और आर्थिक क्षेत्रों में राज्य के क्रियाकलाप बढ़ने लगे। अब उदारवाद पूँजीवादी राज्य की शक्ति को बढ़ाए जाने का अनवरत समर्थन करता गया। राज्य वर्ग संघर्ष को कम करने वाली संस्था के रूप में समझा जाने लगा, जिसका काम मानव के व्यक्तित्व के विकास के रास्ते में आने वाली बाधाओं को दूर करना, समाज में विवाद

निपटाना, अर्थव्यवस्था नियंत्रित करना, पूँजीपतियों पर टैक्स लगाकर गरीबों के कल्याण के लिए काम करना, समाज में वर्ग सामंजस्य स्थापित करते हुए शांति व्यवस्था तथा तालमेल स्थापित करना माना गया।

नोट

यह संशोधित उदारवाद या सकारात्मकवाद उदारवाद कहलाया जो पूँजीवादी वर्ग की बदलती हुई स्थिति तथा आवश्यकताओं के कारण बदल रहा था। उदारवाद में यह परिवर्तन पूँजीवादी वर्ग की बदलती हुई स्थिति की आवश्यकता थी। अब उदारवाद को प्रजातंत्र तथा समाजवाद के नारों में नया सहारा मिला। आज उदारवाद प्रजातंत्र तथा समाजवाद की बैसाखियों के सहारे चलता हुआ दर्शन है। आज उदारवाद समाजवाद से घुलमिल रहा है और यह सिद्धांत सकारात्मक उदारवाद नाम से प्रचलित है। सकारात्मक उदारवाद का दर्शन जे. एस. मिल, टी. एच. ग्रीन, आर्नोल्ड, हाबहाउस, रिचे, हॉब्सन, लॉस्की, कीन्स आदि के चिंतन में मिलता है। उदारवादी दर्शन से संबंधित प्रमुख विचारधाराएँ हैं—व्यक्तिवाद, उपयोगितावाद, बहुलवाद तथा लोकतांत्रिक समाजवाद।

2. मार्क्सवादी अथवा समाजवादी विचारधाराएँ (Marxist or Socialist Ideologies)

यदि उदारवाद उभरते हुए पूँजीवादी वर्ग का आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन था तो मार्क्सवाद मजदूर तथा मेहनत करने वाले वर्गों के दर्शन के रूप में जन्मा। औद्योगिक क्रांति के दौरान पूँजीवादी उद्योगों की प्रगति ने यूरोप में एक नए वर्ग को जन्म दिया यह था मजदूर वर्ग—पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का एक आवश्यक परिणाम, जो 19वीं शताब्दी में निरंतर बढ़ता गया और जिसकी दशा इतनी दर्दनाक थी कि स्वयं पूँजीवादी लेखक तथा अन्य मानवतावादी विचारक भी इसकी ओर ध्यान देने लगे। फ्रांस की क्रांति तथा उसके द्वारा प्रेरित मानवीय मूल्य तथा आदर्श जब 19वीं शताब्दी में पूँजीवादी शोषण की आँधी में धुँधले पड़ने लगे तब इन्हीं आदर्शों की मशाल को मार्क्सवादी विचारधारा ने उठाया। जर्मन दार्शनिक कार्ल मार्क्स तथा उसके सहयोगी फ्रैडरिक एंगेल्स ने मजदूर वर्ग को क्रांतिकारी संदेश दिया, दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ। तुम्हारे पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के अलावा कुछ भी नहीं है तथा पाने के लिए संसार पड़ा है। मजदूर वर्ग को संगठित करके वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर क्रांति लाने का संदेश देने वाले इस दर्शन का मुख्य तत्त्व दुनिया को समझना ही नहीं अपितु बदलने का तरीका बताते हुए बदलना भी है। मार्क्सवादी दर्शन का उद्देश्य निजी संपत्ति पर आधारित उत्पादन व्यवस्था को खत्म करके, समाजवादी संपत्ति पर आधारित उत्पादन व्यवस्था स्थापित कर, वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना है। मार्क्सवादी दर्शन मुख्यतः समाज, अर्थव्यवस्था, राज्यव्यवस्था, सांस्कृतिक व्यवस्था आदि के विश्लेषण की वैज्ञानिक पद्धति है। विश्व के शोषक वर्गों के लिए मार्क्सवाद एक डरावना दर्शन है तथा करोड़ों मेहनत करने वाले शोषित लोगों के लिए यह दर्शन मुक्ति का संदेश, क्रांति का सिद्धांत तथा नए समाज की रूपरेखा का आधार है।

मार्क्सवादी विचारधारा के आधार पर आगे चलकर कतिपय विचारधाराएँ प्रचलित हुईं जिनमें प्रमुख हैं—साम्यवाद, अराजकतावाद, श्रमिक संघवाद, समष्टिवाद, समाजवाद, फेबियनवाद आदि।

3. सर्वाधिकारवादी अथवा फासीवादी विचारधाराएँ (Totalitarian or Fascist Ideologies)

सर्वाधिकारवादी विचारधारा शब्द का प्रयोग उदारवादी विचारधारा शब्द के विरोध में किया जाता है। सर्वाधिकारवादी राज्य मनुष्य के संपूर्ण जीवन पर अधिकार रखने का दावा करता है। जिस प्रकार बाइबिल का उपदेश है कि "हमारा जीवन हमारी क्रियाशीलता और हमारा अस्तित्व परमात्मा में होता है", उसी प्रकार सर्वाधिकारवाद हमें सिखाता है कि "हमारा जीवन हमारी क्रियाशीलता और हमारा अस्तित्व राज्य में ही है।" सर्वाधिकारवाद के अनुसार मनुष्य के जीवन पर उसका अधिकार नहीं होता। यह राज्य की धरोहर है और उसका प्रयोग राज्य के हित में ही होना चाहिए। सर्वाधिकारवाद के अनुसार राज्य सब कुछ है यह सर्वशक्तिमान है और यह कभी कोई गलती नहीं कर सकता। मुसोलिनी ने इटली की जनता के समक्ष यह आदर्श रखा था—"राज्य के भीतर सब कुछ, राज्य के बाहर कुछ नहीं, राज्य के विरुद्ध कुछ भी नहीं।" सर्वाधिकारवादी राज्य का लक्ष्य राज्य और समाज के बीच के भौतिक विभेद को मिटाना और राज्य को सर्वशक्तिमान बनाना है। सर्वाधिकारवादी विचारधारा के उदाहरण हैं फासीवाद और नाजीवाद की विचारधाराएं। फासीवाद सर्वाधिकारवाद का इटालियन संस्करण है। फासीवाद एक दल का शासन है जिस पर अधिनायक का नियंत्रण रहता है। यह अधिनायक एक निरंकुश समग्रवादी राज्य की स्थापना करता है।

4. गाँधीवादी विचारधारा (Gandhian Ideology)

गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को गाँधीवाद या गाँधीवादी विचारधारा का नाम दिया जाता है। दक्षिण अफ्रीका एवं भारत के जन आंदोलनों को गाँधीजी ने एक विशिष्ट पद्धति एवं दृष्टिकोण से संचालित किया। यह पद्धति एवं दृष्टिकोण इतिहास में सर्वथा नई चीज थी। गाँधीजी ने इतिहास में पहली बार सत्य, अहिंसा और प्रेम के आध्यात्मिक सिद्धांतों का राजनीति के क्षेत्र में इतने विशाल पैमाने पर प्रयोग किया कि यदि उनके विचारों को गाँधी विचारधारा कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा। गाँधी विचारधारा के प्रमुख लक्षण हैं–राजनीति का आध्यात्मीकरण करना–राजनीति को उच्च नैतिकता और धार्मिक भावना से ओतप्रोत करना, अहिंसा के सिद्धांत को मूर्तरूप देने के लिए राजनीति में सत्याग्रह की कार्यपद्धति का प्रयोग करना, राज्यरहित जनतंत्र की स्थापना करते हुए सत्ता के विकेंद्रीकरण पर बल देना, औद्योगीकरण पर बल देते हुए कुटीर उद्योगों का समर्थन और ट्रस्टीशिप सिद्धांत द्वारा आर्थिक विषमता के अंत का विचार। संक्षेप में, गाँधी विचारधारा विश्व को सर्वोदय का संदेश देती है, अहिंसात्मक क्रांति के रूप में यह मानव मात्र का नैतिक उत्थान करना चाहती है।

3.4 विचारधारा के अन्त का सिद्धांत (Theory of End of Ideology)

सितंबर 1955 में इटली के मिलान शहर में बुद्धिजीवियों की एक सांस्कृतिक स्वतंत्रता के लिए महासभा (Congress for Cultural Freedom) हुई जिसमें 150 लेखकों, पत्रकारों, विद्वानों आदि ने भाग लिया। महासभा में विचारणीय विषय था कि मौजूदा पश्चिमी समाजों में स्वतंत्रता के भविष्य को तथा स्वतंत्र समाज को बनाए रखने की विधि क्या हो? इन विद्वानों ने यह विचार दिया कि आज की दुनिया में विचारधारा के आधार पर तनाव नहीं होना चाहिए तथा 'विचारधारा का अंत' इस स्वतंत्र समाज की आवश्यकता है। विचारधारा के आधार पर 'आपसी समझौता' होना चाहिए। इसके साथ ही बहुत-सी समाजशास्त्रीय और आर्थिक अवधारणाओं का जन्म हुआ जैसे–**'एक औद्योगिक समाज', 'विकास की अवस्थाएँ', 'पूँजीवाद के बाद का समाज' आदि।**

द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य शीत युद्ध प्रारंभ हुआ; यह शीतयुद्ध एक वैचारिक युद्ध था। इन्हीं दिनों साम्यवादी विचारधारा की शक्ति और प्रभाव में वृद्धि होने लगी, चीन और पूर्वी यूरोप के देश साम्यवादी जगत् के भाग बन गए। ऐसे समय मे संकटग्रस्त पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने 'विचारधारा के अंत सिद्धांत' का प्रतिपादन किया।' यह बताया जाने लगा कि समाजवाद तथा पूँजीवाद दोनों का उद्देश्य **'एक औद्योगिक समाज'** की स्थापना है तथा वे दोनों एक उद्देश्य की प्राप्ति के केवल दो तरीके हैं। दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं (पूँजीवादी और समाजवादी) में कोई विशेष अंतर नहीं है तथा इन दोनों व्यवस्थाओं में राज्य **'औद्योगिक राज्य'** बन गया है। पूँजीवाद की प्रकृति बदल गई है और अब पश्चिमी समाज पूँजीवाद के बाद के समाज (Post Capitalist Societies) हैं। पश्चिमी देशों की अर्थव्यवस्थाएँ तथा उन्नत समाजवादी देशों की अर्थव्यवस्थाएँ अब एक समान हो गई हैं क्योंकि ये दोनों ही औद्योगिक समाज हैं। तकनीकी तथा वैज्ञानिक विकास ने दोनों के अंतर को मिटा दिया है। पश्चिमी समाजों में मजदूर वर्ग को आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं और उनका शोषण नहीं होता। पूँजीपति तथा मजदूर उद्योगों के मुनाफे तथा समाज के तमाम मामलों में बराबर के हिस्सेदार हैं। वर्ग संघर्ष खत्म होकर वर्ग सामंजस्य स्थापित हो गया है। राज्य किसी एक वर्ग का न रहकर कल्याणकारी राज्य बन गया है जो अमीरों से टैक्स वसूलकर गरीबों के कल्याण के कार्य में जुटा हुआ है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था खत्म हो गई है तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था का उदय हुआ है। समाजवादी तथा पूँजीवादी समाजों की समस्याएं वैचारिक नहीं हैं बल्कि तकनीकी, वैज्ञानिक एवं प्रशासनिक हैं। सामाजिक क्रांति प्रमुख सवाल नहीं है बल्कि मुख्य समस्या 'सामाजिक इंजीनियरिंग' (Social Engineering) की है। औद्योगिक समाजों में उपागम (Approach) तकनीकी होनी चाहिए न कि वैचारिक।

'विचारधारा के अंत' सिद्धांत के समर्थकों में डेनियल बेल (Daniel Bell) तथा राबर्ट ई. लेन (Robert E. Lane) जैसे अमेरिकी चिंतकों के विचार विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। फ्रांस में इन्हें 'नये दार्शनिकों' के नाम से जाना

नोट

जाता है। इन्हें प्रभावित करने वाली महत्त्वपूर्ण कृति थी–ए. कोजलर (A. Koestler) की रचना *'The God, That Failed'*, 1950, इनका मुख्य विचार है कि 'मार्क्सवादी विचारधारा का अंत' हो चुका है।

विचारधारा के अंत को व्यावहारिक रूप देने में अमेरिका के तात्कालिक राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन तथा विदेश सचिव हेनरी कीसिंजर तथा सोवियत नेता गोर्बाचोव तथा येल्तसिन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आज तमाम उन्नत पश्चिमी देशों में विभिन्न राजनीतिक दलों में वैचारिक अंतर समाप्त-सा हो गया है। अमरीका और इंग्लैंड की पार्टियों में कोई विशेष वैचारिक मतभेद नहीं रह गया है। भारत जैसे तीसरी दुनिया के विकासशील देश में राजनीतिक दलों में विचारधारा जन्य अंतर समाप्त-सा होता जा रहा है। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि वामपंथी और दक्षिणपंथी दलों ने साझा सरकारों में मिलजुल कर कार्य किया है।

राजनीतिक विचारधारा का महत्त्व एवं भूमिका (Political Ideologies: Significance and Role)

राजनीतिक विचारधारा राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों की निर्धारक और उनके क्रियान्वयन का माध्यम होता है। राजनीतिक व्यवस्था की वैधता को आंकने का वस्तुनिष्ठ साधन भी विचारधारा ही है। यह नेताओं के राजनीतिक प्रभाव को सत्तायुक्त बनाने में सहायक होती है। यह राजनीतिक व्यवस्था का 'एक्शन प्लान' कही जाती है। यह राजनीतिक दलों के निर्माण का आधार होती है। विचारधारा के आधार पर ही राजनीतिक दलों की पहचान बनती है और इसी के माध्यम से राजनीतिक दलों में एकता एवं अनुशासन रहता है। कतिपय विद्वानों के अनुसार विचारधाराएं राजनीतिक परिवर्तनों की व्याख्या करने का साधन हैं और उनकी स्वीकृति में सहायक होती हैं। राजनीति में विचारधारा के आधार पर ही मिथक्, नारे, आदर्श वाक्य आदि चुने जाते हैं; विचारधारा द्वारा जनता से महान् त्याग कराए जा सकते हैं और जनशक्ति को संगठित किया जा सकता है।

पूरे समाज के लिए शिक्षा के प्रकार्य

एमिल दुर्खीम के अनुसार शिक्षा का सबसे प्रमुख प्रकार्य समाज के नियमों व मूल्यों को परिवर्तित करना है। "समाज केवल तभी जिंदा रह सकता है अगर इसके सदस्यों के बीच पर्याप्त मात्रा में एकता हो। शिक्षा इस एकता को पैदा करती है और फिर इसे स्थापित करती है। यह बच्चों में शुरू से आवश्यक समानताएँ तय करती है जो सामूहिक जीवन की माँग है।" हर समाज की प्रमुख जिम्मेदारी है कि सभी व्यक्तियों को सामूहिक रूप से एकताबद्ध करें। व्यक्तियों में समाज के प्रति अपनत्व की भावना होनी चाहिए। दुर्खीम कहते हैं कि शिक्षा व्यक्ति और समाज को मूल्यों और आदर्शों, समुदाय की परंपरा एवं चिंतन के बारे में बताकर उन्हें सिद्धांत से लैस करती है और व्यक्ति तथा समाज के बीच आवश्यक एकता प्रदान करती है।

दूसरे, दुर्खीम तर्क देते हैं कि विद्यालयों द्वारा जो औपचारिक शिक्षा दी जाती है वह परिवार या किसी सम्मानित समूह द्वारा नहीं दी जा सकती। परिवार वंशगत लोगों का समूह है, जो आपस में खून के रिश्ते से बँधे होते हैं। पारिवारिक रिश्ते इसीलिए प्रेम और आत्मीयता, भावनाओं और अनुसूचियों के रंग में रंगे होते हैं। एक व्यक्ति वस्तुओं की प्रकृति के अनुसार अपने परिवार से आगे नहीं देखता और बड़े समाज में रहते हुए इसके आश्वासनों और इसकी समस्याओं से अवगत होता है। अच्छे भले लोग अपनी पसंद के होते हैं। स्वभावतः सम्मानित समूह की सदस्यता किसी व्यक्ति को बड़े समाज के लिए तैयार नहीं करती। दूसरी तरफ विद्यालय व्यवस्था कठोर व्यवस्था है जिसमें एक विद्यार्थी अपने स्कूल के दूसरे विद्यार्थियों के साथ कुछ निश्चित नियमों के अनुसार मिलते-जुलते हैं। दुर्खीम के शब्दों में – "विद्यालय के नियमों का सम्मान करने से ही बच्चा सामान्य नियमों का सम्मान करना सीखता है। वह आत्मनियंत्रण और आत्मसंयम की आदत विकसित करता है। कर्तव्य-पालन के लिए यह पहल है जो यह जताता है कि गंभीर जीवन अब शुरू हो गया है। "टालकोट पार्सन्स के शब्दों में–एक परिवार या सम्मानित समूह विशेषीकृत नियमों को मानते हैं जबकि विद्यालय विश्वव्यापी नियमों का अनुपालन करते हैं। इस प्रकार विद्यालय युवाओं को उनकी प्रौढ़ भूमिका के लिए तैयार करता है।"

तीसरे, दुर्खीम तर्क देते हैं कि औपचारिक शिक्षा संस्थाएँ सामान्य मूल्यों को सिखाने के अलावा जो सामाजिक उत्तरजीविता के लिए आवश्यक एकरूपता (Social Survival) विशिष्ट कौशलों का प्रसार भी करती

नोट

है जो 'सामाजिक सहयोग के लिए आवश्यक विविधता' प्रदान करते हैं। पूर्व औद्योगिक समाजों में तकनीकी कुशलता मुख्य रूप से परिवार और पेशेवर समूह द्वारा अनौपचारिक और व्यावहारिक रूप से सिखाई जाती थी। इस प्रकार एक बच्चा, जो बढ़ई के घर पैदा होता था, अपने परिवार के सदस्यों द्वारा अनौपचारिक रूप से प्रशिक्षित किया जाता था। औद्योगिक समाज बहुत ही विशिष्ट और जटिल हो गया है जो उच्च कोटि की कुशलता की माँग करता है। श्रम का जटिल विभाजन, जो औद्योगिक समाज की एक पारिभाषिक विशेषता है, सामाजिक एकात्मकता को निरंतर मजबूत करने की प्रवृत्ति जताता है। इसे वह सावयवी एकता कहते हैं। औद्योगिक समाज इस प्रकार मूल्य सहमति और श्रम विभाजन के आधार पर संसक्तता व एकीभवन हासिल करता है। यह आपसी निर्भरता को जीवन की एक शर्त मानता है।

चौथे, शिक्षा का उद्देश्य, जैसाकि दुर्खीम कहते हैं, "बच्चों में उन शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक स्तरों को जागृत करना है जो उसकी तकदीर के अनुसार विकास के लिए विशेष रूप से जरूरी हैं।" दुर्खीम के इस कथन को व्यापक बनाने के लिए बॉटमोर कहते हैं–"शिक्षा का कार्य बच्चे को विशेष गुणों के आधार पर विशेष रूप से शिक्षित करना है। इसका परम्परागत अर्थ है–सामाजिक संस्तरण में उसे विशेष समूह की सदस्यता के लिए तैयार करना।" लगभग सभी समाजों में सामाजिक विभाजन का अस्तित्व है। जहाँ कहीं भी सामाजिक वर्गीकरण की व्यवस्था है वहाँ शिक्षा पद्धति में भी उसी प्रकार की भिन्नता है। वर्ग विभाजन शिक्षा पद्धति में प्रतिबिंबित होता है। सच तो यह है कि शिक्षा वर्गीय विशेषाधिकारों और स्वार्थों को बनाये रखने के लिए अभिकर्ता के रूप में इस्तेमाल होती है। इससे वर्ग-भेद बने रहते हैं। इस प्रकार प्राचीन भारत में उच्च जातियों के बच्चों की शिक्षा बहुसंख्यक बच्चों की शिक्षा से काफी भिन्न थी। पहले वर्ग की शिक्षा पुश्तैनी पंडितों द्वारा होती थी जिसमें बहुत हद तक धर्मनिरपेक्ष मूल्य उपस्थित होते थे और यह मुख्य रूप से धार्मिक तथा वैदिकों के अध्ययन से संबंधित थी। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ पुरानी शिक्षा-व्यवस्था का पतन हो गया। परंतु अंग्रेजी शिक्षा को लागू करने के निर्णय ने अंग्रेजी शिक्षा पाने वालों को पूरे समाज से अलग कर दिया। भारत की आजादी के चार दशकों के बाद भी विभिन्न सामाजिक समूहों के लिए विभिन्न प्रकार के स्कूलों के कारण वर्ग-विभाजन है। इस प्रकार के शैक्षिक भेद सभी आधुनिक समाजों में हैं चाहे वे अत्याधुनिक सिद्धांतों के प्रति कितने भी प्रतिबद्ध क्यों न हों।

पाँचवीं शिक्षा का महत्त्व सामाजिक नियंत्रण की एक एजेंसी के रूप में है, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है। दुर्खीम के अनुसार इसका उद्देश्य बुजुर्ग पीढ़ी द्वारा समाज के मानदंडों व मूल्यों का उन लोगों के बीच स्थानान्तरण करना है जो सामाजिक जीवन के लिए तैयार नहीं हैं। एक बार अगर कोई बच्चा बौद्धिक विवृत्ति (Intellectual Exposure) या अंतर्दृष्टि पा लेता है तो उसके क्रियाकलाप और आचार-व्यवहार उसके बौद्धिक अभिमुखन जाते हैं। सामाजिक नियमों और मूल्यों के प्रति एकरूपता आसान और स्वत: स्फूर्त हो जाती है। एक तरफ समाज और दूसरी तरफ व्यक्ति के बीच दृढ़ता स्थापित हो जाती है। इस संदर्भ में देखने पर शिक्षा सामाजिक नियंत्रण का बहुत ही प्रभावशाली और शक्तिशाली एजेंसी लगती है। सामाजिक नियमन लागू करने का प्रश्न तभी उठता है जब लोग सामाजिक रूप से विपथगामी हों या मानदंडों से विचलन की प्रवृत्ति रखते हों। सामाजिक निषेधों को लागू करना उस हाल में अनावश्यक है जब शिक्षण एजेंसियाँ प्रभावशाली ढंग से सामाजिक नियमों और मूल्यों को व्यक्तियों में जीवन के सीखने वाले समय में स्थानांतरित करें।

हमें ध्यान देना चाहिए कि आधुनिक समय में कुछेक शर्तों की वजह से शिक्षा सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में कम प्रभावशाली हो गई है। उदाहरण के लिए, प्रारंभिक समाज में साक्षरता का इतना महत्त्व था कि यह शक्ति और सम्मान का आधार थी। शिक्षक भी प्रतिष्ठा और सम्मान से स्वाभाविक रूप से खुश थे। इसलिए शिक्षकों के लिए सामाजिक परंपराओं और मूल्यों के अनुसार बच्चों के आचरण को ढालने और पढ़ाई में कठिनाई नहीं थी। औद्योगीकृत व्यवस्था की स्थापना के साथ मूल्यों के प्रतिमान बदल गये हैं। शिक्षा नहीं बल्कि धन आधुनिक औद्योगिक समाज में सम्मान का आधार हो गया है। इसने शिक्षकों के सम्मान को कुछ हद तक कम कर दिया है। इसके अलावा, आधुनिक दुनिया में जन साक्षरता के प्रसार के कारण शिक्षकों के सम्मान में ह्रास हुआ है क्योंकि "अब वह शिक्षित व्यक्ति के रूप में अलगाया नहीं जाता।" इसी उद्देश्य को पूरा करने वाला एक और तथ्य है। आजकल शिक्षकों द्वारा सिखाए जाने वाले मूल्य आधिकारिक नहीं हैं। उनको परिवार, धार्मिक समूह और संचार

माध्यमों द्वारा प्रचारित मूल्यबोध से प्रतिस्पर्धा करनी होती है। इस प्रकार आधुनिक समाज में विभिन्न प्रकार के आचरण और विभिन्न एजेंसियों के सामाजिक नियंत्रण के बीच झगड़े की संभावना बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए भारत धर्म-निरपेक्षता के आदर्शों का पालन करता है। इसलिए भारतीय विद्यालय कोई धार्मिक शिक्षा नहीं देते। इस परिस्थिति में एक लड़का या लड़की जो बहुत ही अनुदार परिवार से आता/आती हैं, जिसकी अपनी धार्मिक परंपरा है, राज्य शिक्षा के धर्मनिरपेक्ष चरित्र और परिवार के धार्मिक मूल्यों के अंतर्विरोध के द्वंद्व में पड़ जाती है। हम सामाजिक नियंत्रण की विभिन्न एजेंसियों के बीच इस प्रकार के कई झगड़े देखते हैं।

3.5 दबाव एवं हित समूह: प्रकृति, आधार एवं राजनीतिक महत्त्व (Pressure and Interest Group: Nature, Base and Political Importance)

जे.सी. जौहरी ने अपनी पुस्तक **कंपेरेटिव पॉलिटिक्स** में लिखा है कि आधुनिक राजनीतिक प्रक्रिया में दबाव, हित एवं संगठित समूहों तथा इनकी तकनीकों के अध्ययन का विशिष्ट महत्त्व है। इनके अध्ययन से उन अंतर्निहित शक्तियों व प्रक्रियाओं पर, जिनके माध्यम से संगठित समाजों में–विशेषकर लोकतांत्रिक समाजों में, राजनीतिक शक्ति का संचालन और प्रयोग होता है, प्रकाश पड़ता है। आजकल राजनीति का नये अर्थों में प्रयोग होने लगा है। अब राजनीति एक प्रक्रिया मानी जाती है। ऐसी प्रक्रिया जिसके माध्यम से सामाजिक मूल्य आधिकारिक (authoritative) रूप से स्थापित किए जाते हैं। अब राजनीति को केवल राज्य और शासन का विज्ञान नहीं माना जाता अपितु इसमें निर्णय लेने की प्रक्रिया का अध्ययन भी सम्मिलित किया जाने लगा है। आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में सरकारों के नीति उत्पादन अधिकांशत: समूह संघर्षों से प्रभावित होते हैं। अत: राजनीतिक अध्ययनों में उन सभी समूहों का अध्ययन भी सम्मिलित किया जाने लगा है जो निर्णय लेने की प्रक्रिया की अभिन्न व महत्त्वपूर्ण कड़ी बन गए हैं। तुलनात्मक राजनीति के विषय-विस्तार के कारण, दबाव समूहों की अंत:क्रियाओं में झाँकने के प्रयास बढ़ गए हैं, क्योंकि राजनीतिक व्यवहार की गत्यात्मक शक्तियों का ज्ञान दबाव समूहों की भूमिका के परिवेश में ही प्राप्त किया जा सकता है। इसी कारण, तुलनात्मक राजनीति के क्षेत्र में दबाव समूहों और अन्य संगठित समूहों के अध्ययन का महत्त्व हाल ही के वर्षों में बहुत बढ़ गया है।

आधुनिक समय में व्यक्ति पृथक इकाई के रूप में नहीं रह सकता। जटिल व विषम परिस्थितियों में व्यक्ति का व्यक्ति के इर्द-गिर्द प्रभाव समाप्त हो जाने के कारण वह समूह जीवन में समाहित हो गया है। अत: आधुनिक राजनीतिक अध्ययन एक नये 'राजनीतिक मानव' (political man) के चारों और केंद्रित होता जा रहा है। यह नये राजनीतिक मानव समूहों के माध्यम से राजनीति का केंद्र बन गया है। इस प्रकार, आज के परिवर्तित संदर्भ में 'व्यक्ति बनाम राज्य' की जगह 'समूह बनाम राज्य' की चर्चा होने लगी है। व्यक्ति का अपने हितों के संरक्षण और संवर्धन के लिए समूहों में संगठित होना अनिवार्य हो गया है। जो हित अधिक चैतन्य एवं प्रबुद्ध होते हैं वे अपना औपचारिक संगठन बनाकर शासन की नीतियों को प्रभावित करने की कोशिश करने लगे हैं। इस प्रकार के संगठित समूह चूँकि अपने-अपने संगठन की शक्ति के दबाव द्वारा सार्वजनिक नीतियों तथा शासकीय निर्णयों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। अत: इन्हें दबाव समूह कहा जाता है। इनके अर्थ व परिभाषा का अध्ययन करके हम इनके महत्त्व पर विस्तार-से चर्चा करेंगे।

दबाव समूह का अर्थ व परिभाषा (The Meaning and Definition of Pressure Group)

दबाव समूह का अर्थ गहरे विवाद का विषय है। विद्वान इसके नामकरण पर भी अलग-अलग मत रखते हैं। अत: दबाव समूह का अर्थ व परिभाषा करने से पहले, इसके नामकरण संबंधी मत-विभेदों का विवेचन करना आवश्यक है। मोटे तौर पर इसके नामकरण को लेकर विद्वानों के चार वर्ग कहे जा सकते हैं।

(1) बहुलतावादी 'दबाव समूह' नाम के स्थान पर इसे केवल 'समूह' कहना पसंद करते हैं। उनकी मान्यता है कि संपूर्ण समाज समूह-जन्य है तथा सभी प्रकार के समूह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने हितों की साधना का लक्ष्य रखते हैं। इन हितों की पूर्ति के लिए उनको अनेक प्रकार के प्रभाव प्रयुक्त करने होते हैं। इनका केवल सरकार से ही संबंध नहीं जोड़ा जा सकता, यह सभी संरचनात्मक व प्रक्रियात्मक व्यवस्थाओं से अंत: क्रियाशील

नोट

रहते हैं तथा अनेक समूहों का सरकार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कोई सरोकार ही नहीं होता है। अत: 'दबाव समूह' के स्थान पर समूह शब्द का प्रयोग इनकी प्रकृति, भूमिका व महत्त्व का सही चित्रण करने वाला है। अर्ल लेथम ने अपने एक लेख 'दि ग्रुप बेसिस ऑफ पॉलिटिक्स नोट्स फॉर ए थियरी' में इसी अर्थ का समर्थन किया है। परंतु बहुलतावादियों का यह दृष्टिकोण तर्कसंगत नहीं लगता क्योंकि इससे 'दबाव समूह' व समूह में कोई अंतर नहीं रह जाता है जबकि आधुनिक विचारक इन दोनों में पर्याप्त अंतर करते हैं।

(2) कुछ विद्वान 'दबाव समूह' के स्थान पर 'हित समूह' (interest group) शब्द के प्रयोग की बात करते हैं। आमंड, रोमन कोकोविज (Roman Kolkowez) तथा हिचनर (Hitchner) व हर्बोल्ड (Harbold) की मान्यता है कि समूह को दबाव समूह कहे जाने में 'दबाव' शब्द से अनौचित्यपूर्ण दबाव का भान प्रकट होता है, तथा इससे यह आभास होता है कि सभी समूह सदा ही अपने हितों की पूर्ति के लिए आवश्यक रूप से अनुचित व असंवैधानिक साधनों का प्रयोग करते हैं, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है। इसलिए यह दबाव समूह के स्थान पर हित समूह को अधिक उपयुक्त शब्द मानते हैं।

दबाव समूह और हित समूह (Pressure Groups And Interest Groups)

दबाव समूह का अर्थ करते समय हमने इस बात का उल्लेख किया था कि अनेक विद्वान इसमें व हित समूह में कोई अंतर नहीं मानते हैं। इसी संदर्भ में इन दोनों के अंतर की चर्चा भी की गई थी। यहाँ इनके अंतर को अधिक विस्तार से समझने का प्रयास किया जाएगा।

हित समूहों तथा दबाव समूहों में बहुत कुछ समानताएँ पाई जाने के कारण इनको एक ही समझने की भूल करना स्वाभाविक है, क्योंकि दोनों के विशिष्ट व स्पष्ट उद्देश्य होते हैं तथा दोनों ही अपने-अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। परंतु इन समानताओं के बावजूद दोनों में कुछ सूक्ष्मतर अंतर भी पाए जाते हैं, समाज में कृषक, मजदूर, शिक्षक, विद्यार्थी, व्यवसायी, भूमिपति आदि के विभिन्न प्रकार के हित भी होते हैं। हर बड़े वर्ग के हित में अनेक छोटे-छोटे हित भी समाहित रहते हैं। जैसे विद्यार्थियों के अनेक हित हो सकते हैं। इन्हीं हितों की रक्षा प्राप्ति के लिए, एक से हित वाले व्यक्ति संगठित रूप धारण कर लेते हैं तो उसे हित-समूह कहा जाता है जिनका उद्देश्य अपने सदस्यों के विविध सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और व्यावसायिक हितों की रक्षा करना होता है। एक व्यक्ति के समाज में अनेक 'हित' हो सकते हैं। अत: वह एक ही साथ इनके हित समूहों का सदस्य हो सकता है। जब हित समूह अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए शासन प्रक्रिया से अंत: क्रियाशील होने लगते हैं तो उसको दबाव समूह की श्रेणी में सम्मिलित माना जाता है।

पी. एन. मसालदान ने अपनी पुस्तक **'राजनीतिशास्त्र के सिद्धांत'** में दबाव समूहों और हित समूहों की अवधारणाओं में अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "किसी समाज की राजनीति में दलों के अतिरिक्त अन्य संगठन व समूहों का भी कार्यभाग होता है। शासन की प्रक्रिया पर, विशेष तौर पर नीति निर्धारण व विधि निर्माण पर समाज के विभिन्न समूह अपने विशेष हितों के हेतु प्रभाव डालते हैं। जब एक नागरिक एक इकाई के रूप में भी अपना मत प्रदान करता है, तो वह अपने समूह के विचारों व इच्छाओं से प्रभावित होकर मत देता है। कोई व्यक्ति समूहों के प्रभाव से बच नहीं सकता। लगभग साठ साल पहले आर्थर बैन्टले नामक राजनीतिशास्त्री ने समूहों के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया था। अभिनव-काल (modern times) में डेविड ट्रूमैन नामक राजनीतिशास्त्री ने भी हमारा ध्यान इसी ओर आकर्षित किया है। समाज में व्यक्तियों के केवल सामान्य हित ही नहीं होते वरन् कुछ विशेष हित भी होते हैं। साधारणत: व्यक्ति अपने विशेष व्यावसायिक व आर्थिक हितों को ही अधिक महत्त्व देता है और जिन व्यक्तियों के व्यावसायिक व आर्थिक हित एक होते हैं वे हित-गुट बन जाते हैं। कुछ हित-गुट तो बड़े ही सुदृढ़ ढंग से गठित होते हैं। जब हित-गुट अपने विशेष हितों के लिए सक्रिय रूप से शासन पर दबाव डालते हैं तब उनका स्वरूप दबाव-गुट का हो जाता है। लगभग सभी देशों में उद्योगपतियों के, श्रमिकों के, व्यापारियों के तथा विभिन्न पेशेवरों के संगठन होते हैं। यह संगठन अपने विशेष हितों के लिए परोपकारी करते हैं ताकि शासन की नीतियों द्वारा उनके हितों को हानि न होने पाए तथा उनकी वृद्धि हो।"

इस प्रकार दबाव समूह व हितसमूह में काफी असमानताएँ व अंतर होते हैं। इनमें से तीन विशेष उल्लेखनीय हैं–(1) पहला अंतर कार्य-विधि या हित सुरक्षा के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले साधनों का है। हित समूह अपने हितों की वृद्धि या रक्षा के लिए मुख्यतया अनुनयनी साधनों (persuasive methods) का प्रयोग करते हैं जबकि दबाव समूह विशेषकर दबाव की तकनीकों (pressurising techniques) का सहारा लेते हैं। इसका यही तात्पर्य

है कि हित समूह, प्रमुखतया अनुनयन तथा दबाव समूह, सामान्यतया दबाव-साधन अपनाते हैं। (2) इन दोनों में दूसरा अंतर अपने हितों की सिद्धि के लिए प्रभाव के निभाने से संबोधित है। हित समूह, शासन क्रिया को प्रभावित करने का लक्ष्य नहीं रखते हैं। यह अन्य ऐसे ही समूह या अन्य सामाजिक संरचनाओं व प्रक्रियाओं को अपने प्रभाव का लक्ष्य बनाते हैं। जबकि दबाव समूह विशेषकर राजनीतिक प्रक्रिया को अपने हितों के अनुकूल बनाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। (3) हित समूह व दबाब समूह के बीच तीसरा अंतर प्रकृति संबंधी है। हित समूह विराजनीतिकृत (depoliticized) समूह होते हैं। यह राजनीति से प्रत्यक्ष संबंध नहीं रखते। उदाहरण के लिए, भारत के किसी गाँव की जाति पंचायत (caste panchayat) एक हित समूह है जिसका राजनीतिक गतिविधियों से कोई सीधा सरोकार नहीं होता है। दबाव समूह, राजनीतिकृत (politicized) समूह होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह केवल राजनीतिक गतिविधियों में ही उलझे रहते हैं। वास्तव में इनकी स्थिति पूर्णतया राजनीतिक व पूर्णतया अराजनीतिक स्थितियों के बीच की होती है। जबकि हित समूह, प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक गतिविधियों या राजनीतिक प्रक्रिया में सक्रिय नहीं होते हैं।

इस तरह, दबाव समूह राजनीतिक प्रक्रिया के अविच्छिन्न अंग होते हैं और वे सरकार की नीति को मजबूत बनाने और उसकी दिशा बदलने का प्रयास करते हैं। सशक्त नियोक्ता संगठन एवं राष्ट्रीय स्तर पर क्रियाशील ट्रेड यूनियनों से लेकर स्थानीय सुविधाओं के सुधार का प्रयास करने वाले छोटे और अपेक्षाकृत कमजोर स्थानीय नागरिक समूहों तक का ध्येय सरकार (राष्ट्रीय, प्रादेशिक या स्थानीय) से कुछ न कुछ प्राप्त करने का होता है। यह सब कार्य हित समूह नहीं करते हों ऐसी बात नहीं है परंतु वे सरकार से नहीं, समाज या अन्य सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक या धार्मिक व्यवस्थाओं से अपने हित साधन के लिए संपर्कशील रहते हैं। जबकि दबाव समूह मुख्यतया शासन प्रक्रिया व सरकार से संबंधित रहते हैं।

दबाव समूह और लाबी (Pressure Groups and Lobby)

'लाबी' दबाव समूहों की गतिविधियों में से एक विशिष्ट कार्य में संलग्न व्यक्तियों के समूहों को कहा जाता है। राबर्ट सी. बोन ने 'लाबी' की परिभाषा इस प्रकार की है, "व्यक्तियों का ऐसा समूह जो व्यवस्थापिकाओं के सदस्यों को अपने समूह के विशेष हितों के अनुरूप मत देने के लिए प्रभावित करने का अभियान चलाता है।" इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि 'लाबी' एक प्रकार का दबाव समूह ही है, परंतु इसका कार्य क्षेत्र बहुत सीमित व सुनिश्चित होता है। यह विधायकों को ही प्रभावित करने का प्रयास करता है। इसका उद्देश्य भी सुनिश्चित होता है। किसी प्रस्तावित विधेयक के संबंध में या संभावित विधेयक को लेकर ही इसका अभियान चलता है। अतः 'लाबी' एक सीमित, निश्चित तथा व्यवस्थापन प्रक्रिया से ही सरोकार रखने वाले समूह को कहा जाता है। दबाव समूह व लाबी में केवल क्रियाशीलता के क्षेत्र व कार्य-लक्ष्य का ही अंतर होता है। 'लाबी' का कार्यक्षेत्र केवल विधायकों को प्रभावित करने तक सीमित रहता है जबकि दबाव समूह संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था की संरचनाओं से संबंधित रहने का प्रयास करते हैं। इसी तरह, लाबी का कार्य-लक्ष्य, विधायकों के मतदान आचरण (Voting behaviour) को प्रभावित करने तक ही सीमित रहता है। दबाव समूह, इस दृष्टि से शासन की हर संरचना से सरोकार रखने के कारण व्यापक लक्ष्य वाले कहे जाते हैं।

दबाव समूहों की प्रकृति (Nature of Pressure Groups)

दबाव समूहों के अर्थ व परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विशेष प्रकार के संगठन होते हैं। यह हित समूहों की तरह न तो पूर्णतः अराजनीतिक और न ही राजनीतिक दलों की भाँति पूर्णतः राजनीतिक प्रकृति वाले होते हैं। हेरी एक्सटीन ने इनकी प्रकृति की व्याख्या करते हुए लिखा है, 'उनका रूप पूर्णतः अराजनीतिकृत समूह से कम तथा पूर्णतः अराजनीतिकृत समूह से अधिक होता है। यह स्थिति वस्तुतः राजनीतिक और अराजनीतिक के बीच एक अंतरवर्ती स्तर की है।" दबाव समूहों का रूप पूर्णतः राजनीतिक इसलिए नहीं होता है, क्योंकि ये सदैव ही शासन के साथ विवादों और संघर्षों में उलझे नहीं रहते हैं। अपने समूह विशेष के हितों की साधना करना उनका ध्येय होता है तथा वे उसी के लिए कार्यरत रहते हैं, परंतु उन्हें पूर्णतः अराजनीतिक भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये समूह किसी न किसी रूप में राजनीतिक गतिविधियों में भी भाग लेते हैं। यहाँ तक कि धार्मिक समूह भी चुनाव के समय मतदाताओं को किसी विशेष राजनीतिक दल के पक्ष में खींचने या उससे विमुख करने का कार्य करते हुए देखे जाते हैं। अतः क्रिया-कलाप की दृष्टि से दबाव समूहों का रूप न तो पूर्णतः राजनीतिक होता है और न पूर्णतः अराजनीतिक, वरन् वह दोनों के बीच का होता है। इनकी प्रकृति के बारे में यही कहा जा सकता है कि यह पूर्णतः

नोट

राजनीतिक संगठन नहीं होने पर भी अपने समूह विशेष के हित के लिए सरकारी नीतियों और राजनीतिक शक्ति के ढाँचे को प्रमाणित करते हैं। अत: इनको भी राजनीतिक दलों की भाँति शक्ति संगठन कहा जाता है। यह ऐसे शक्ति-संगठन हैं जिनकी निजी सदस्यता, उद्देश्य, संगठन, एकता, प्रतिष्ठा और साधन होते हैं। इससे स्पष्ट है कि दबाव समूहों की कुछ विशेषताएँ होती हैं जिनके आधार पर हम इनको राजनीतिक दलों व हित समूहों से भिन्न कर पाते हैं।

दबाव समूहों के लक्षण (Characteristics of Pressure Groups)

दबाव समूहों के अर्थ व परिभाषा और प्रकृति के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विशेष प्रकार के संगठन होते हैं। यह न तो हित समूहों की तरह पूर्णत: अराजनीतिक होते हैं और न ही राजनीतिक दलों की भाँति पूर्णत: राजनीतिक होते हैं। इनके कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं जिनके आधार पर इन्हें अन्य संगठनों, समुदायों व संस्थाओं से अलग किया जाता है। इनके प्रमुख लक्षणों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

(क) औपचारिक संगठन (Formal Organization)–दबाव समूह औपचारिक रूप से संगठित व्यक्ति समूह होते हैं। व्यक्तियों का कोई भी झुंड दबाव समूह नहीं कहलाता है। उसका औपचारिक संगठन होना आवश्यक है। इससे यह तात्पर्य है कि समूह के विशेष हितों की साधना के लिए, समूह की तरफ से पैरवी करने वाले, समूह के द्वारा औपचारिक ढंग से निर्वाचित या मनोनीत व्यक्तियों या प्रतिनिधियों की व्यवस्था हो। दबाव समूह के सदस्य बनने के लिए हर दबाव समूह के अपने नियम, सदस्यता शुल्क, नियम निर्माता समिति तथा कार्यकारिणी होती है और यह औपचारिक संगठन के ही लक्षण हैं। औपचारिक संगठन के अभाव में दबाव समूह वह कार्य कर ही नहीं सकते हैं जिनके करने से समूह के सदस्यों का हित पूरा होता है। अत: डॉक्टर इकबाल नारायण व समूह सिद्धांत के प्रमुख प्रतिपादक डी. बी. ट्रूमैन के इस कथन से कि "यह आवश्यक नहीं है कि सब समूहों के संगठनों का रूप औपचारिक ही हो" हम सहमत नहीं हो सकते हैं। यह सही है कि कुछ समूह ऐसे होते हैं, जो औपचारिक होते हुए भी इतने शक्तिशाली एवं प्रभावशाली होते हैं कि कोई अन्य समूह या सरकार उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता है। पर ऐसे समूह को दबाव समूह नहीं, शक्ति गुट (power group) कहा जाना चाहिये। कुछ विशेष परिस्थितियों में कई बार, महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों का समूह ऐसी ही अवस्था में हो सकता है। ऐसे समूह धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक दृष्टि से चमत्कारिक प्रतिभा वाले व्यक्तियों से ही संबद्ध होते हैं। अत: इन्हें दबाव समूह नहीं कहा जा सकता। यह समूह विशेष के हितों की पूर्ति के लिए सरकार को ही प्रभावित करने का कार्य नहीं करते हैं। यह तो संपूर्ण समाज या मानवता की हित साधना में संलग्न माने जा सकते हैं।

दबाव समूह के लिए औपचारिक संगठन का होना अनिवार्य है। डॉक्टर इकबाल नारायण के इस मत से सहमत होना कठिन है कि अनेक अनौपचारिक समूह ऐसे होते हैं जिनके दृष्टिकोणों की उपेक्षा उत्पादन, वितरण, कर एवं विकास आदि से संबंधित नीतियों के निर्धारण में कोई भी सरकार नहीं कर सकती है। किसी समूह की प्रभावशीलता उसे दबाव समूह बना देगी यह तर्कसंगत नहीं लगता है। वैसे भी 'संगठन' शब्द से ही औपचारिकता का बोध होता है। अत: दबाव समूह के लिए औपचारिक संगठन का होना अनिवार्य है। दबाव समूह का कार्य, राजनीतिक प्रक्रिया को अपने हितों की पूर्ति के लिए विशेष रूप से प्रभावित करने का है। यह कार्य दबाव समूह तभी कर सकते हैं जबकि उनका औपचारिक संगठन हो। इसके अभाव में यह कार्य व्यवस्थित ढंग से हो ही नहीं सकता। अत: दबाव समूहों का प्रमुख लक्षण उनके औपचारिक रूप से संगठित होने का है।

(ख) सुनिश्चित स्व-हित (Specific self interests)–दबाव समूहों के निर्माण का आधार विशिष्ट स्व-हितों की सिद्धी का ही होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दबाव समूहों के सामान्य उद्देश्य नहीं होते हैं। अनेक दबाव समूह विशेषकर पेशेवर समूह, सामान्य हित साधना का ही लक्ष्य रखते हैं, परंतु ऐसा देखा जाता है कि उद्देश्यों व स्व-हितों की निश्चितता ही विविध व्यक्तियों को एक सूत्र–दबाव समूह, में आबद्ध करती है। अत: दबाव समूह के सुनिश्चित स्व-हित होना आवश्यक है। दबाव समूह की एकता का आधार ही इसके सदस्यों के एक से हितों का होना है। जब तक व्यक्तियों के समक्ष ऐसा कोई सुनिश्चित, स्पष्ट, स्व-हित नहीं होगा, जो उन्हें एक-दूसरे के विरुद्ध अपनी स्थिति सुधार व रक्षण के लिए राजनीतिक साधनों का आश्रय लेने के लिए सचेत व सक्रिय न करे, तब तक किसी भी दबाव समूह का निर्माण नहीं हो सकता है। जिन व्यक्तियों में हितों की समानता होती है वे ही अपने हितों की रक्षा और वृद्धि के लिए सरकार को प्रभावित करने के उद्देश्य से, संगठित होकर दबाव समूह का रूप ले लेते हैं। इस प्रकार दबाव समूह सुनिश्चित स्व-हित साधक संगठन कहे जा सकते हैं।

(ग) **सर्वव्यापक प्रकृति** (Universal in nature)–दबाव समूह सभी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं में पाये जाते हैं। यहाँ तक कि सर्वाधिकारी व स्वेच्छाचारी राजनीतिक व्यवस्थाओं में भी दबाब समूह पाये जाते हैं। लोकतंत्र व्यवस्थाओं में तो प्रतियोगी राजनीति में दबाव समूहों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। साम्यवादी शासन व्यवस्थाओं में भी दबाव समूह देखने को मिलते हैं। साम्यवादी दल में अनेक गुट बन जाते हैं जो सत्ता संघर्ष में एक-दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। साम्यवादी दल में सत्तारूढ़ संग्रह के समर्थक व विरोधी के रूप में ऐसे गुट रूस में बढ़ते जा रहे हैं। परंतु उनकी गतिविधियाँ सामान्यत: बहुत गुप्त होती हैं तथा इनका थोड़ा-सा संकेत मिलते ही इनको कुचल दिया जाता है। चीन में 1966-69 की सांस्कृतिक क्रांति वास्तव में परस्पर विरोधी दबाव समूहों का ऐसा संघर्ष था जो करीब-करीब गृह युद्ध का रूप धारण कर गया था। परंतु दबाव समूहों की गतिविधियाँ सर्वाधिकारी शासनों में बहुत सीमित ही रहती हैं। अफ्रीका व लेटिन अमरीका के अनेक स्वेच्छाचारी राज्यों में ऐसे ही दबाव समूह पाए जाते हैं। लोकतंत्र शासन-व्यवस्थाओं में तो दबाव समूह लोकतंत्र की प्राणवायु माने जाते हैं। राजनीतिक दल सामान्यतया चुनाव के समय ही सक्रिय होते हैं। दो चुनावों के बीच के अंतराल में दबाव समूह ही सरकार व जनता के बीच निरंतर संपर्क स्थापित रखने का कार्य करते हैं। इनकी सर्वव्यापकता को स्वीकार करते हुए राबर्ट सी. बोन ने लिखा है, 'दबाव समूह सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में, यहाँ तक कि सर्वाधिकारी राज्यों में भी पाए जाते हैं।" इन्होंने आगे लिखा है, "केवल यह तथ्य कि दबाव समूह साम्यवादी राज्यों में भी होते हैं इनकी सर्वव्यापकता का सबूत है।"

(घ) **ऐच्छिक सदस्यता** (Voluntary membership)–दबाव समूह विशेष हितों की सिद्धी के लिए संगठित किए जाते हैं। इनकी सदस्यता वही व्यक्ति प्राप्त करते हैं जिनके हितों की पूर्ति इनके द्वारा होने की संभावना होती है। इनकी सदस्यता इस रूप में ऐच्छिक होती है कि किसी व्यक्ति को इनका सदस्य बनने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अगर कोई व्यक्ति किसी दबाव समूह का सदस्य बनने के बाद यह महसूस करे कि उसके हित इस समूह विशेष के द्वारा पूरे नहीं होते हैं तो वह इस समूह की सदस्यता छोड़ सकता है। दबाव समूहों की ऐच्छिक प्रकृति के कारण राजनीतिक समाज में समूह जीवन काफी लचीला बन जाता है। इसके कारण ही दबाव समूह समाज में प्रतियोगी राजनीति के आधार स्तंभ बन जाते हैं। इसी ऐच्छिकता के कारण जनसाधारण की राजनीति में सहभागिता भी बढ़ जाती है।

(ङ) **राजनीतिक क्रिया अभिमुखी** (Political action oriented)–दबाव समूह स्वयं राजनीतिक संगठन नहीं होते हैं। यह राजनीतिक दलों की भाँति, किसी कार्यक्रम के आधार पर निर्वाचकों को प्रभावित नहीं करते वरन् किन्हीं विशेष मुद्दों व हितों की पूर्ति के लिए राजनीतिक क्रिया को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। वे पूर्णत: राजनीतिक संगठन नहीं होते और न ही चुनाव के लिए अपने उम्मीदवार खड़े करते हैं। वे तो अपने हित विशेष के लिए सरकारी नीतियों और राजनीतिक ढाँचे को प्रभावित करते हैं। अत: यह केवल कार्य विधि की दृष्टि से ही राजनीतिक क्रिया-अभिमुखी होते हैं। यह स्वयं संरचना से अलग रहते हैं। इनका काम शासनतंत्र से बाहर रहकर ही शासनतंत्र को अपने हितों के अनुरूप कार्य करने के लिए प्रभावित करना होता है। हित समूहों व दबाव समूहों में यही मौखिक अंतर है। हित समूह राजनीतिक क्रिया अभिमुखी नहीं होते हैं जबकि दबाव समूह केवल राजनीतिक क्रिया-अभिमुखी ही होते हैं। यह हर स्तर पर होने वाली राजनीतिक गतिविधियों से, अगर उनके साथ इनके हित गठबंधित हैं तो, सरोकार रखते हैं।

(च) **अनिश्चित कार्यकाल** (Indefinite tenure)–दबाव समूह बनते-मिटते रहते हैं। किसी हित विशेष की पूर्ति के लिए अस्तित्व में आने के कारण हित की पूर्ति के साथ ही इनका लुप्त हो जाना स्वाभाविक है। राजनीतिक समाज की प्रकृति परिवर्तनशील होती है। राजनीतिक उतार-चढ़ावों के साथ ही साथ, राजनीतिक समाजों में समूह-जीवन भी परिवर्तित होता रहता है, परंतु सभी दबाव समूह अनिश्चित कार्यकाल वाले नहीं कहे जा सकते। कुछ पेशेवर संगठन स्थायी समूह के रूप में विद्यमान रहते हैं। अनेक राष्ट्रव्यापी ट्रेड यूनियनों का सामान्यतया स्थायी रूप हो जाता है। परंतु अधिकांश दबाव समूह हित विशेष की पूर्ति के लिए बनते हैं तथा उस हित की साधना के साथ ही समाप्त हो जाते हैं।

3.6 दबाव समूहों की कार्य-प्रणाली (Functioning Techniques of Pressure Groups)

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों का इतना प्राचुर्य व प्राधान्य है कि राज्य के प्रशासकीय

अंगों का सीधा संबंध अब व्यक्तियों से नहीं वरन् समूहों से हो गया है। स्पेन्सर का कहना है कि पहले 'व्यक्ति बनाम राज्य' का सिद्धांत माना जाता था परंतु अब राज्य का व्यक्ति से सीधा संबंध कम से कम रह गया है। अब व्यक्ति समूहों के माध्यम से ही सरकार के संपर्क में आता है। अत: बार्कर का यह कहना ठीक ही है कि आधुनिक राज्यों में स्थिति 'समूह बनाम राज्य' की होती जा रही है। समूह संगठनों की शक्ति इतनी प्रबल हो गई है कि एक इकाई के रूप में अब व्यक्ति का कोई विशेष महत्त्व ही नहीं रह गया है। राजनीतिक व्यवस्थाओं की बढ़ती हुई जटिलताओं ने अब व्यक्ति को उपभोक्ता (Consumer), उत्पादक, श्रमिक, कर्मचारी आदि के रूप में ला दिया है तथा वह व्यक्ति के रूप में कम जाना जाने लगा है। समूहों की समाज में इतनी अधिकता है कि एक ही व्यक्ति अलग-अलग हितों की पूर्ति के लिए अनेक समूहों का सदस्य बनकर, समूह जीवन में विलीन-सा हो गया है।

अब मनुष्य का जीवन दबाव समूहों की लपेट में इतना अधिक आ गया है कि हर राजनीतिक व्यवस्था में तथा विशेषकर पश्चिमी प्रकार के जनतंत्रों में व्यक्ति समूहों से पृथक कुछ रह ही नहीं गया है। दबाव समूहों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि के कारण राजनीतिक प्रक्रिया में उनके क्रिया-कलाप का बड़ा महत्त्व हो गया है। राजनीतिक प्रक्रिया में इन समूहों की भूमिका वस्तुत: इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई है कि शासन के समय प्रस्तुत कोई भी माँग अथवा कोई भी शासकीय नीति किसी न किसी रूप में किसी एक या एक से अधिक समूहों से ही संबंधित बन गई है। अत: उनसे संबंधित परिणामों को अपने पक्ष में करने के लिए प्रत्येक समूह कुछ तकनीकों एवं विधियों को अपनाता है। डॉ. इकबाल नारायण के अनुसार ये विधियां दो प्रकार की हो सकती हैं। पहले प्रकार में वे विधियां सम्मिलित हैं जिनके माध्यम से कोई समूह शासकीय नीतियों को सीधे प्रभावित करने की कोशिश करता है तथा दूसरे प्रकार में वे विधियां सम्मिलित हैं जिनके माध्यम से कोई समूह शासकीय नीतियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। सीधे प्रभाव डालने के लिए समूह व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और नौकरशाही से संबंध स्थापित करते हैं। जब प्रत्यक्ष संपर्क द्वारा सफल होने की आशा नहीं होती, तब वे निर्वाचन, राजनीतिक दल एवं जनमत के माध्यमों के सहारे शासकीय नीतियों व निर्णयों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। पर दोनों ही प्रकार से प्रभाव डालने के उनके प्रयास, काफी सीमा तक समूहों की सदस्य संख्या, उनके आर्थिक साधनों और लक्ष्यों की प्रवृत्ति आदि पर निर्भर होते हैं और उसी के अनुसार उन्हें सफलता प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट है कि दबाव समूहों की कार्य-प्रणाली अनेक तथ्यों द्वारा नियमित होती है। इनका विवेचन करके ही दबाव समूहों की भूमिका इत्यादि को समझा जा सकता है। इसलिए अब हम दबाव समूहों की कार्यविधियों के निर्धारकों का विवेचन करेंगे।

दबाव समूह राजनीति के निर्धारक (Determinants of Pressure Group Politics)

दबाव समूहों की कार्य विधियों या दबाव-समूह-राजनीति के कई नियामक हो सकते हैं। हर राजनीतिक व्यवस्था में अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दबाव समूहों द्वारा प्रयोग की जाने वाली विधियां अलग-अलग प्रकार की होती हैं। यहाँ तक कि एक ही राजनीतिक व्यवस्था में, एक ही दबाव समूह अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग विधियों का प्रयोग करता हुआ पाया जाता है। इससे यह प्रश्न उठता है कि दबाव समूह-राजनीति के कौन-कौन से निर्धारक तत्त्व हैं? एलेन बाल ने तीन निर्धारकों की चर्चा की है। उसके अनुसार दबाव समूहों की कार्य विधियों के अनेक निर्धारक होते हैं परंतु उनमें से निम्नलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं:

(1) राजनीतिक संस्थागत संरचना,

(2) दल-पद्धति का स्वरूप,

(3) राजनीतिक संस्कृति।

दबाव समूहों की राजनीति के निर्धारकों के बारे में एक्सटीन ने, एलेन बाल से कहीं अधिक व्यापक संदर्भ लेते हुए इनको दबाव समूहों के तीन पहलुओं के साथ संबंधित किया है। उसके अनुसार दबाव समूहों की राजनीति के निर्धारकों को तीन शीर्षकों के अंतर्गत रखकर समझाया जा सकता है–(1) दबाव समूह राजनीति के रूप के निर्धारक, (2) दबाव समूह राजनीति के क्षेत्र और तीव्रता के निर्धारक और (3) दबाव समूह राजनीति की प्रभावकारिता के निर्धारक।

एक्सटीन के अनुसार दबाव समूहों की गतिविधियों को समझने के लिए दबाव समूह राजनीति के रूप या ढांचे, उसके क्षेत्र व तीव्रता तथा प्रभावकारिता के निर्धारकों को अलग-अलग देखना आवश्यक है। अत: हम इनका पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे।

नोट

दबाव समूह राजनीति के रूप या आकृति के निर्धारक
(Determinants of the form of Pressure Group Politics)

एक्सटीन ने दबाव समूहों की कार्यविधियों के रूप के निर्धारकों को पुनः दो प्रकारों में विभक्त किया है। प्रथम वे निर्धारक हैं जो समूहों के सरकार पर क्रियाशील होने या उसे प्रभावित करने के प्रमुख साधनों व माध्यमों को निर्धारित करते हैं तथा दूसरे वे निर्धारक हैं जो दबाव समूहों तथा सरकार के अंगों के बीच संबंधों की प्रकृति को निरूपित करते हैं। प्रथम प्रकार के निर्धारकों में एक्सटीन ने इन तीन निर्धारकों का उल्लेख किया है–

(1) सरकार की नीति-निर्णय प्रक्रिया की संरचना,

(2) सरकार की नीतियाँ व गतिविधियाँ,

(3) सरकार की दबाव समूहों के प्रति अभिवृत्ति या रवैया।

दबाव समूहों की गतिविधियों व उनके सरकार को प्रभावित करने के प्रमुख साधनों व माध्यमों को सरकार की नीति-निर्णय प्रक्रिया की संरचना प्रमुख रूप से प्रभावित करती है। दबाव समूह अपने हितों की पूर्ति के लिए सरकार की नीतियों को निर्णय लेने के स्तर पर ही प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। अतः निर्णय प्रक्रिया की संरचना एक महत्त्वपूर्ण निर्धारक बन जाती है। उदाहरण के लिए, संसदीय व अध्यक्षीय शासन-व्यवस्थाओं में नीति-निर्णय प्रक्रिया की संरचना में अंतर के कारण इन दोनों प्रकार की शासन प्रणालियों में दबाव समूहों की राजनीति भी भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त कर लेती है। यही कारण है कि अमेरिका तथा ब्रिटेन में दबाव समूहों की प्रकृति में भिन्नता पाई जाती है।

सरकार की नीतियाँ भी महत्त्वपूर्ण नियामक कही जा सकती हैं। सरकार के निर्णय व उन निर्णयों को लागू करने संबंधी सरकारी गतिविधियाँ, समूहों के कार्यक्षेत्र का सीमांकन करती हैं। दबाव समूह क्या कर सकेंगे व क्या नहीं कर सकेंगे यह बहुत कुछ सरकार की नीतियों से ही नियमित होता है। भारत में 26 जून, 1975 से पहले और इसके बाद की सरकारी नीति के कारण दबाव समूहों की गतिविधियों में जमीन-आसमान का अंतर आ गया था।

सरकार का दबाव समूहों के प्रति रवैया सर्वाधिक महत्त्व रखता है। लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं तथा सर्वाधिकारी शासनों में दबाव समूहों की गतिविधियों का अंतर इसी आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। लोकतंत्र राजनीतिक व्यवस्था, दबाव समूह गतिविधियों को ग्रहण करती है तथा निरंकुशतंत्र शासन प्रणालियों में इस प्रकार की ग्रहणशीलता का अभाव होता है। इसके कारण दोनों प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं में दबाव समूहों द्वारा सरकार को प्रभावित करने के साधन भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार, सरकारी निर्णय प्रक्रिया की संरचना सरकारी नीतियाँ तथा सरकार का दबाव समूहों के प्रति रवैया उन साधनों व माध्यमो को निर्धारित करते हैं जिनके द्वारा दबाव समूह सरकार पर क्रियाशील होते हैं या उसे प्रभावित करते हैं।

एक्सटीन की मान्यता है कि सरकार के विभिन्न अंगों तथा दबाव समूहों के बीच संबंधों की प्रकृति का निर्धारण दो बातों पर निर्भर करता है। प्रथम तो यह इस बात पर निर्भर करता है कि सरकार व दबाव समूहों के बीच मंत्रणा या परामर्श होता रहता है या नहीं। दूसरे, यह इस बात पर भी आश्रित होता है कि सरकार दबाव समूहों से समझौते के लिए बातचीत करती है या नहीं करती है। दबाव समूहों व सरकार के अंगों के बीच परामर्श तभी होता है जबकि राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह विशेष के हितों से संबंधित प्रश्न पर सरकार उनका विचार जानने के बाद ही निर्णय करना चाहती है। समझौते के लिए बातचीत का अर्थ सौदेबाजी से है। ऐसी अवस्था में सरकार निर्णय ही तब कर सकती है जबकि संबंधित समूह उससे सहमत कर लिया जाता है। अतः दबाव समूह राजनीति के रूप के निर्धारकों के संदर्भ में ही किसी राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की प्रकृति को समझा जा सकता है।

दबाव समूह राजनीति के क्षेत्र व तीव्रता के निर्धारक
(Determinants of the Intensity and Scope of Pressure Group Politics)

दबाव समूह राजनीति के क्षेत्र से तात्पर्य किसी राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की संख्या और उनके प्रकारों से लिया जाता है। अगर किसी राजनीतिक व्यवस्था में अनेक प्रकार के दबाव समूह हैं और उनकी संख्या भी बहुत अधिक है तथा दूसरी राजनीतिक व्यवस्था में उनके न अनेक प्रकार हैं और न ही अधिक संख्या है तो इससे यही स्पष्ट होता है कि दबाव समूहों के क्षेत्र के भी अनेक नियामक होते हैं। इसी तरह, दबाव समूह राजनीति

नोट

की तीव्रता का अर्थ उस लगन व दृढ़ता से भी लिया जाता है जिसके साथ दबाव समूह अपने लक्ष्य व उद्देश्य पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। एक्स्टीन के अनुसार इन दोनों–क्षेत्र व तीव्रता, के निर्धारक निम्नलिखित होते हैं–

(1) दल पद्धति का स्वरूप,

(2) राजनीतिक संचारण का निषेध या इनका अभाव,

(3) सरकार की नीतियाँ तथा विशेष कार्यक्रम-गन्तव्य,

(4) सरकार की अभिवृत्ति या रवैया,

(5) राजनीतिक संस्थागत संरचना,

(6) राजनीतिक व्यवस्था की समूह माँगों को पूरा करने की क्षमता।

दबाव समूहों की गतिविधियों के क्षेत्र तथा तीव्रता पर दल-पद्धति के स्वरूप और दलों की संरचना तथा उनकी विचारधारा के महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ते हैं। दल संरचना की कमजोरियों, दलीय अनुशासन के अभाव और दलों के बीच विचारधारा संबंधी स्पष्ट अंतर नहीं होने के कारण अमरीकी विधान मंडल के सदस्य आसानी से दबाव समूहों के लक्ष्य बन जाते हैं। प्रति दूसरे वर्ष प्रतिनिधि सभा के चुनावों के कारण अमरीकी कांग्रेस के सदस्य स्थानीय दबावों के प्रति बहुत संवेदनशील होते हैं। ब्रिटेन में दलीय अनुशासन की कठोरता के कारण विधायकों पर स्थानीय दबावों के दबाव समूहों की सक्रियता का प्रायः अभाव रहता है। बहुदलीय पद्धतियाँ दबाव गुटों की गतिविधियों के लिए खास तौर पर विधायी स्तर पर उर्वर भूमि प्रस्तुत करती हैं। एकदलीय प्रधान व्यवस्था में दबाव समूहों की गतिविधियाँ और भी अधिक सीमित हो जाती हैं। एक दलीय व्यवस्थाओं में तो दबाव समूहों का क्षेत्र संकुचित तथा इनकी गतिविधियाँ बहुत कुछ गुप्त ही रहती हैं। अतः दबाव समूह राजनीति का क्षेत्र तथा उनकी तीव्रता, दलीय पद्धति के स्वरूप के द्वारा ही निर्धारित होती है।

दबाव समूह राजनीति के क्षेत्र व तीव्रता का निर्धारण इस बात से भी होता है कि राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक संचारण (Political mobilization) का कितना निषेध है तथा इसकी कितनी छूट व सुविधा सुलभ है। कोई राजनीतिक व्यवस्था दबाव समूहों की सक्रियता के प्रति अधिक सहनशील होती है तो किसी राजनीतिक व्यवस्था में उनको कुछ सीमाओं में ही सक्रिय रहने दिया जाता है। कुछ देशों में समूह सक्रियता के कुछ विशेष रूपों के प्रति अधिक शत्रुभाव मौजूद रहता है। आमतौर पर नियोक्ता-संघों की अपेक्षा ट्रेड यूनियनों को शक की निगाह से देखा जाता है। ट्रेड यूनियनों की अधिकांश सक्रियता अपने ही सदस्यों की ओर उन्मुख रहती है। वे अपनी विशिष्ट नीतियों के बुद्धि संगत होने के बारे में सदस्यों को समझाती है। साथ ही वे जनता के बीच अपनी बेहतर तस्वीर रखना चाहती हैं ताकि सरकार के मुकाबले में उनकी सौदा करने की ताकत बढ़े। कुछ राजनीतिक व्यवस्थाओं के अंतर्गत सीधी कार्यवाही और हिंसात्मक उपाय अधिक प्रचलित हो सकते हैं। उदहारण के लिए, भारत में 1973–74 में ऐसी ही समूह गतिविधियाँ हो गई थीं। अतः किसी राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह राजनीति के क्षेत्र व तीव्रता का निर्धारण राजनीतिक संचारण की व्यवस्थाओं या अभावों के द्वारा भी होता है।

दबाव समूहों की व्यापकता व गतिविधियों की तीव्रता का, सरकार की नीतियों, सरकार के दबाव समूहों के प्रति रवैये तथा राजनीतिक संस्थागत संरचनाओं के द्वारा भी निर्धारण होता है। अगर सरकार लोक कल्याणकारी नीतियों का अनुपालन करती है तो ऐसी सरकार वाली राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की गतिविधियाँ बड़े पैमाने पर संचारित हो सकेंगी तथा वे अपने लक्ष्यों को दृढ़ता से प्राप्त करने का प्रयास कर सकेंगे। उसी तरह, सरकार के दबाव समूहों के प्रति रवैये का भी इनकी गतिविधियों के नियमन में बड़ा हाथ रहता है। सर्वाधिकारी शासन-व्यवस्थाओं में सरकार समूह राजनीति के प्रति शक्ति रहती है और इस कारण ऐसी राजनीतिक व्यवस्थाओं में समूह राजनीति सामान्यतया सुप्त ही रहती है। उदार लोकतंत्रों में समूह व्यवस्था को राजनीतिक व्यवस्था का स्वाभाविक अंग माना जाता है। इस कारण, ऐसे राज्यों में समूहों की भरमार होती है तथा सारा शासनतंत्र प्रतियोगी-समूह जीवन से प्रभावित व संचालित रहता है। राजनीतिक संस्थागत संरचना का समूह राजनीति पर निर्णायक प्रभाव रहता है।

दबाव समूहों की माँगों को पूरा करने की क्षमताएँ हर राजनीतिक व्यवस्था में एक-सी नहीं होती हैं। विकासशील राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों की माँगों को पूरा करने की क्षमताएँ बहुत कम होने के कारण ऐसे राज्यों में दबाव समूह अक्सर तोड़-फोड़ का रास्ता अपनाने लगते हैं। इसका सीधा परिणाम दबाव समूहों की गतिविधियों पर रोक लगाने का होता है। भारत में जून 1975 के बाद दबाव समूहों की गतिविधियों पर

अनेक प्रतिबंध इसलिए ही लगाए गए हैं, क्योंकि यहाँ ट्रेड यूनियनें व अन्य दबाव समूह, राजनीतिक व्यवस्था की उनकी माँगों को पूरा करने की क्षमता से कहीं अधिक माँगें करने लग गए थे तथा माँगों के पूरा होने के अभाव में सीधी कार्यवाही तथा तोड़-फोड़ पर उतारू होने लगे थे। अतः दबाव समूहों की गतिविधियों का निर्धारण राजनीतिक व्यवस्था की दबाव समूहों की माँगों को पूरा करने की क्षमता से भी होता दिखाई देता है।

नोट

दबाव समूह राजनीति की प्रभावकारिता के निर्धारक
(Determinants of the Effectiveness of Pressure Group Politics)

एक्सटीन ने दबाव समूह राजनीति की प्रभावशीलता के तीन निर्धारकों का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उसकी मान्यता है कि हर राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों की प्रभावकारिता या इसका अभाव, इन निर्धारकों पर ही निर्भर करता है। उसके अनुसार यह निर्धारक निम्नलिखित हैं–

(1) दबाव समूहों के स्वयं के लक्षण,

(2) सरकार की गतिविधियों के लक्षण,

(3) सरकारी निर्णय लेने की संरचनाओं के लक्षण।

एक्सटीन के अनुसार स्वयं दबाव समूहों के कुछ लक्षण उनकी प्रभावकारिता का नियमन करते हैं। उदाहरण के लिए, दबाव समूहों के वित्तीय साधन, उनका आकार व सदस्यों का भौगोलिक वितरण, संगठन की ठोसता, कार्यकर्ताओं की लगन व कर्मठता तथा नेताओं का राजनीतिक चातुर्य हर प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था में उनके प्रभाव का निर्धारण करते हुए दिखाई देता है। यही कारण है कि कई दबाव समूह अपने कार्यकर्त्ताओं की लगन, कर्मठता तथा परिस्थिति विशेष में नेताओं के चातुर्य के कारण बहुत प्रभावी होते हैं जबकि अनेक दबाव समूहों को, बड़ी सदस्य संख्या व व्यापक वित्तीय साधनों के बावजूद कोई प्रभावकारिता नहीं होती है।

सरकार की गतिविधियों के लक्षणों व सरकारी निर्णय लेने की संरचनाओं के लक्षणों का दबाव समूहों की प्रभावकारिता पर बहुत असर पड़ता है। उदार लोकतंत्रों तथा निरंकुश शासन-व्यवस्थाओं में दबाव समूहों की प्रभावकारिता का अंतर इन निर्धारकों का महत्त्व स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूह राजनीति का रूप, उनका क्षेत्र व तीव्रता तथा प्रभावकारिता का निर्धारण कई तथ्यों द्वारा होता है। सरकार की नीति-निर्णय प्रक्रिया की संरचनाओं से लेकर, किसी समाज की राजनीतिक, सांस्कृतिक दबाव समूहों की गतिविधियों को परिमित करती है। यही कारण है कि पश्चिमी उदार लोकतंत्रों में भी दबाव समूहों की प्रकृति, कार्यविधि तथा प्रभावकारिता में अंतर पाए जाते हैं। विकासशील राज्यों में सरकार की नीति-निर्णय प्रक्रिया की संरचना, दल पद्धति का स्वरूप तथा राजनीतिक संचारण इत्यादि अभी भी प्रतिमानित नहीं होने के कारण, इन राजनीतिक समाजों में दबाव समूहों की राजनीति उतार-चढ़ावों से परिपूर्ण ही रहती है।

3.7 दबाव समूहों की कार्यविधियाँ (Functioning Methods of Pressure Groups)

दबाव समूहों की कोई एक कार्यविधि नहीं होती है। वे अनेक तकनीकों का प्रयोग करते हैं। सामान्यतया सरकारी निर्णय-प्रक्रिया की संरचना तथा प्रचलित परिस्थितियों के द्वारा दबाव समूहों द्वारा प्रयुक्त होने वाली प्रविधियों का नियमन होता है। एक ही दबाव समूह अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग प्रकार के तरीकों का उपयोग कर सकता है। यहाँ ध्यान रखने की बात यह है कि दबाव समूह जिस विधि को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में अधिक सहायक मानता है, उसी तकनीक को अपनाता है। परंतु मोटे तौर पर दबाव समूह निम्नलिखित तकनीकों का ही प्रयोग करते हुए पाए जाते हैं। ये इस प्रकार हैं–

(1) अनुनयन (Persuation)

(2) सौदेबाजी (Bargaining)

(3) सीधी कार्रवाई (Direct Action)

दबाव समूहों के द्वारा कार्य करने की विधियाँ, उनके संघटन के स्वरूप, नेताओं की पहल करने की क्षमता, कर्मचारियों तथा पदाधिकारियों का तादात्म्य, सदस्यों की समूह के कार्यों में भागीदारी तथा समूह की आर्थिक स्थिति

के द्वारा भी निर्धारित होती है। जैसे शक्तिशाली दबाव समूह को सौदेबाजी के अधिक अवसर प्राप्त रहते हैं। जबकि छोटे व कम साधनों वाले समूह को या तो अनुनयन तक ही सीमित रहना होता है या फिर सीधी कार्रवाई का खतरा उठाना पड़ता है।

नोट

दबाव समूह और राजनीतिक दल (Pressure Groups and Political Parties)

राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहों के सबसे अधिक घनिष्ठ संबंध राजनीतिक दलों से होते हैं। दबाव समूहों व राजनीतिक दलों में पारस्परिक निर्भरता रहती है क्योंकि दोनों को अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक-दूसरे की सहायता व सहयोग करना होता है, परंतु इन दोनों के बीच पारस्परिकता का यह अर्थ नहीं कि दोनों एक-दूसरे के बिना कार्य ही नहीं कर सकते। सामान्यतया यह देखा जाता है कि सदा ही न तो दबाव समूह राजनीतिक दलों के ऊपर निर्भर रहते हैं और न राजनीतिक दल ही दबाव समूहों पर आश्रित रहते हैं। यहाँ तक कि दबाव समूहों की पहल से बने राजनीतिक दल अथवा राजनीतिक दलों की पहल से बने हुए दबाव समूह, दोनों ही सदा पहलकर्ता संगठन के आश्रित नहीं रहते, वरन् धीरे-धीरे दोनों के ही अस्तित्व का महत्त्व हो जाता है। दबाव समूह व राजनीतिक दल दोनों ही वस्तुत: *कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में परस्पर स्वतंत्र होकर तथा कभी-कभी पारस्परिक विरोध में भी* कार्य करते हैं। कुछ परिस्थितियों में तो अनेक दबाव समूह किसी एक दल के बजाय दो या उससे अधिक दलों से अपना कार्य करवाते हुए देखे गए हैं। अत: दबाव समूह व राजनीतिक दलों में पारस्परिकता व समानताएँ होते हुए भी बहुत अंतर है। इन दोनों में कुछ प्रमुख अंतर इस प्रकार हैं--

1. दबाव समूहों व राजनीतिक दलों में पहला अंतर उद्देश्य संबंधी है। दबाव समूह किसी एक अथवा कुछ हितों की पूर्ति का उद्देश्य रखते हैं। इनके उद्देश्य विशिष्ट, सुस्पष्ट तथा लाभाकांक्षी होते हैं। जबकि राजनीतिक दलों के उद्देश्य, सामान्य और संपूर्ण सामाज की हित साधना से संबंधित होते हैं। व्यवहार में राजनीतिक दल कुछ भी करें, उन्हें दिखावा तो संपूर्ण समाज के उत्थान के लिए सक्रिय रहने का ही करना होता है।

2. इन दोनों में दूसरा अंतर कार्यक्षेत्र को लेकर है। दबाव समूहों का कार्यक्षेत्र विशिष्ट और संकीर्ण होता है जबकि दलों का बहुरूपी और विस्तृत होता है, क्योंकि उन्हें करोड़ों मतदाताओं का समर्थन पाना होता है और एक जटिल और विशाल कार्यक्रम के आधार पर सामान्य समस्याओं से निपटना होता है। दबाव समूहों के हितों व लक्ष्यों का संबंध मानव जीवन के पहलू विशेष से ही रहता है जबकि राजनीतिक दलों को मनुष्य के संपूर्ण जीवन से संबंधित गतिविधियों का ध्यान रखना होता है। अत: इन दोनों में कार्यक्षेत्र संबंधी अंतर भी है।

3. दबाव समूहों व राजनीतिक दलों में मौलिक अंतर सदस्यता को लेकर होता है। दबाव समूहों की सदस्यता अनन्य या अपवर्जक (exclusive) नहीं होती है। एक ही समय में एक ही व्यक्ति एक से अधिक दबाव समूहों का सदस्य हो सकता है जबकि राजनीतिक दलों की सदस्यता अनन्य होती है। एक व्यक्ति, एक समय में केवल एक ही राजनीतिक दल का सदस्य रह सकता है।

4. *इन दोनों में संगठन संबंधी अंतर भी होता है। राजनीतिक दल राष्ट्रव्यापी संगठन रखते हैं परंतु दबाव समूहों* के ऐसे संगठन कम ही होते हैं। वैसे आधुनिक समय में अनेक आर्थिक दबाव समूह या श्रम संघ राजनीतिक दलों से भी व्यापक संगठन वाले होने लगे हैं। इसी तरह राजनीतिक दल भी केवल प्रादेशिक या स्थानीय स्तर तक बनने लगे हैं। अत: इन दोनों में संगठन संबंधी अंतर केवल मात्रात्मक ही रह जाता है।

दबाव समूहों व राजनीतिक दलों के बीच इन अंतरों का यह अर्थ नहीं है कि यह दोनों समानताएँ नहीं रखते हैं, परंतु इन दोनों में सावयवी संबंध नहीं हो सकता। प्राय: यह कहा जाता है कि जब दबाव समूह अत्यधिक संगठित और प्रभावशाली रूप में समाज में व्याप्त रहते हैं तो राजनीतिक दल उनके प्रभाव और संगठन की तुलना में कमज़ोर पड़ते हैं और जहाँ राजनीतिक दल विशेष रूप से सबल एवं संगठित होते हैं वहाँ दबाव समूह पिछड़ जाते हैं।

3.8 दबाव समूह और लोकतंत्र (Pressure Groups and Democracy)

दबाव समूहों को लोकतंत्र की जीवन-डोर कहा जाता है। लोकतंत्र व्यवस्था में सरकारें चुनावों के समय ही जनता के प्रति उत्तरदायित्व की वास्तविक स्थिति में आती हैं। दो चुनावों के अंतराल में राजनीतिक दल और दबाव समूह ही सरकारों को जनहित के प्रति जागरूक व सचेत रखते हैं, परंतु राजनीतिक दल विचारधाराओं व अनुशासन के शिकंजों में जकड़े होने के कारण, जनता व सरकार के बीच मध्यस्थ की सीमित भूमिका ही अदा कर पाते हैं। ऐसी अवस्था में दबाव समूह ही जनता के असंख्य हितों की पूर्ति के लिए सरकार से संपर्कशील रहते हैं। यह

सरकारों पर अंकुश रखते हैं तथा सरकारों को मनमानी करने से रोकने के लिए आंदोलन, प्रदर्शन तथा धरनों तक का मार्ग अपनाते हैं।

ट्रूमैन ने अपनी पुस्तक दी गवर्नमेंटल प्रोसेस में दबाव समूहों को लोकतांत्रिक व्यवस्था की सुरक्षा और उसके सरल निर्वाह के लिए बड़ा सहायक माना है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक से अधिक समूहों का सदस्य होता है, अत: पारस्परिक प्रतियोगितारत समूहों के द्वारा खेल के नियमों के पालन में मर्यादा उल्लंघन किए जाने पर वह अपनी ओर से तीव्र प्रतिक्रिया ही व्यक्त नहीं करता, अपितु अपने स्वयं के समूह को भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करने देता, क्योंकि इसका अर्थ यह होता है कि अन्य समूहों के सदस्य के रूप में उसके अपने ही हितों को चोट पहुँच सकती है। इस प्रकार की क्रिया व प्रतिक्रिया के प्रचलन से समूहों के पारस्परिक व्यवहार की एक ऐसी मर्यादा बन जाती है, जिसका पालन प्राय: सभी समूहों को अनिवार्य रूप से करना होता है तथा इस स्थिति के कारण किसी भी समूह व शासन द्वारा सत्ता के दुरुपयोग की संभावनाएँ न्यूनतम रहती हैं। परिणामस्वरूप कोई भी एक समूह अनावश्यक रूप से शक्तिशाली नहीं हो पाता तथा इस प्रकार चूँकि विविध समूहों व शासन के बीच शक्ति का एक सक्रिय संतुलन बना रहता है, लोकतंत्र खूब फलता-फूलता है। ट्रूमैन ने इस संबंध में इस बात पर विशेष बल दिया है कि प्रतियोगिता यदि अमर्यादित होगी तो जनतांत्रिक परंपराएँ अक्षुण्ण नहीं रहेंगी, वरन लोकतंत्र केवल तभी सफल होगा जब समूह प्रतियोगितारत रहते हुए भी परंपरागत नियमों व सीमाओं का ध्यान रखेंगे।

लोकतंत्र में समूह बनाने की स्वतंत्रता होती है। इसलिए लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में व्यक्ति एक साथ ही युवक, जातीय, धार्मिक, क्षेत्रीय, व्यावसायिक, भाषायी, वर्गीय, लोकार्थी, उपभोक्ता, उत्पादक आदि अनेक प्रकार के संगठनों का सदस्य होता है। इन समूहों की उसकी सदस्यता औपचारिक भले ही न हो, किसी संकट या सरकार के अनावश्यक अत्याचार के समय उनकी सहानुभूति ऐसे संगठनों, जो संकट का सामना करने या अत्याचार का विरोध करने का कार्य करते हैं, के प्रति स्वत: जागृत हो जाती है तथा इस समर्थन से ऐसे समूहों की स्थिति इतनी अधिक शक्तिशाली हो जाती है कि कोई शासक या अन्य प्रभुत्वशील वर्ग दूसरे वर्गों के हितों की कीमत पर अपने हितों की पूर्ति वास्तविक तथा संभावित दोनों ही प्रकार के खतरे को मोल लिए बिना नहीं कर सकता है। अत: लोकतांत्रिक व्यवस्था के संचालन में समूहों का महत्त्व अत्यंत विशिष्ट है। दबाव समूह परस्पर प्रतियोगितारत रहते हुए विभिन्न तकनीकों से केवल शासकीय नीतियों को ही प्रभावित नहीं करते वरन् वे सरकार पर प्रभावी अंकुश भी रखते हैं। इसलिए ही लोकतंत्र के सफल क्रियान्वयन के लिए प्रतियोगी दबाव समूहों का अस्तित्व आवश्यक ही नहीं अनिवार्य बताया गया है।

दबाव समूह राजनीतिक समाज में उग्रता (extremism) के सशक्त अवरोधक रहते हैं। प्रत्येक राजनीतिक समाज में विविध समूहों के हित विविध प्रकार के होते हैं। ये समूह शासन की नीतियों को विविध दिशाओं में प्रभावित करने के लिए सचेष्ट रहते हैं। अत: विविध समूहों में शासन को अपनी-अपनी ओर खींचने की प्रतियोगिता चलती रहती है। इन समूहों में यह प्रतियोगिता प्राय: सदा चलती रहती है और इस प्रतियोगिता के मैदान में नए-नए समूहों के उतरने की संभावना भी सदैव बनी रहती है। इस प्रतियोगिता के कारण विविध समूहों की कार्यप्रणाली की एक मर्यादा-सी बन जाती है जिसका पालन उन्हें प्राय: अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। कोई भी समूह उग्र बनना चाहकर भी नहीं बन सकता है, क्योंकि किसी समूह के द्वारा उग्रता का प्रदर्शन तुरंत ही उसके प्रतिद्वंद्वी समूह को सचेत व सक्रिय कर देता है। यह प्रतिद्वंद्वी समूह अपने हितों को खतरा देखकर उग्रवादी समूह के रास्ते में खड़ा हो जाता है जिससे उसको पुन: समूह-खेल की मर्यादाओं में लौटना पड़ता है। अत: दबाव समूह उग्रता पर प्रभावशाली रोक लगाकर लोकतंत्र को सुरक्षित रखने की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते रहते हैं। इसी तरह, दबाव समूह शक्ति के संतुलक भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनके कारण विभिन्न हितों के बीच संतुलन बना रहता है और यह हितों का संतुलन समाज में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शक्ति को भी संतुलन की अवस्था में रखता है। इस कारण कोई भी एकमात्र प्रभावशील सत्ता उदित नहीं हो पाती है। व्यापारी, श्रमिक, किसान, जातीय और धार्मिक समुदाय आदि सभी अपने हितों को प्राप्त करना चाहते हैं, किंतु वे एक-दूसरे से प्रतियोगिता करने के लिए मजबूर हो जाते हैं। जिसका अनिवार्य परिणाम यह निकलता है कि एक-दूसरे के मार्गों के बीच संतुलन स्थापित हो जाता है। यह संतुलन प्रवृत्ति समाज को उस स्थिति से बचाती है जिसमें व्यक्तिगत समुदाय ही सारी शक्ति को हथिया लेते हैं। अत: दबाव समूह समाज में शक्ति के संतुलन को बनाए रखने में सहायक होकर लोकतंत्र को सुदृढ़ता प्रदान करते हैं।

इस तरह दबाव समूह लोकतंत्र व्यवस्था के आधार स्तंभ बन जाते हैं। यह दो चुनावों के अंतराल में राजनीतिक गतिविधियों को गत्यात्मकता ही प्रदान नहीं करते हैं वरन् शासकों को उत्तरदायित्व की अवस्था में रखने

नोट

में सहायक होते हैं। यह सरकार की निरंकुशता में महत्त्वपूर्ण अवरोधक बने रहते हैं तथा सरकार को जनहितों के प्रति सजग व सचेत रखते हैं। अत: इनको लोकतंत्र की 'जीवन-डोर' कहना ठीक ही माना जा सकता है। लोकतंत्र व्यवस्था प्राय: उग्रता या किसी वर्ग विशेष में अनियंत्रित शक्ति की केंद्रता से ही खतरे में पड़ती है। दबाव समूह किसी भी समूह या वर्ग या संस्था द्वारा किए गए उग्रता के प्रयत्नों का शमन करके शक्ति संतुलन को बनाए रखते हैं। इससे लोकतंत्र व्यवस्था सुस्थिर तथा सुदृढ़ रहती है।

3.9 नौकरशाही: विशेषता, प्रकार और राजनीतिक विकास में इसका महत्त्व
(Bureaucracy: Characteristics, types and its importance in Political development)

'नौकरशाही' को अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द 'ब्यूरोक्रैसी' (Bureaucracy) फ्रांसीसी भांषा के 'ब्यूरो' शब्द से लिया गया है। इसका अर्थ एक विभागीय उपसंभाग अथवा विभाग से है। वह प्राय: सरकारी विभाग का परिचायक है। फ्रांस में इस शब्द का प्रयोग ड्राअर वाली मेज अथवा लिखने की डेस्क के लिए हुआ करता था। इस डेस्क पर ढके कपड़े को 'ब्यूरल' कहा जाता था तथा इसी के आधार पर निर्मित 'ब्यूरो' शब्द सरकारी कार्यों का परिचायक था। आगे चलकर इसका प्रयोग विशेष प्रकार की सरकार को चलाने के लिए संभवत: फ्रांसीसी क्रांति से पूर्व फ्रेन्च सरकार के लिए किया गया। 19वीं शताब्दी में इसका ह्रासकारी प्रयोग सारे यूरोप में किया जाने लगा। जहाँ-जहाँ सरकार में निरंकुशता, संकुचित दृष्टिकोण तथा सरकारी अधिकारियों की स्वेच्छाचारिता दिखायी पड़ी, वहीं उसे 'नौकरशाही' कहा जाने लगा। धीरे-धीरे इसका भावार्थ नियमों का कठोर पालन, अनुत्तरदायित्व, जटिल प्रक्रियाओं तथा निहित स्वार्थों से लिया जाने लगा। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इसे 'पार्किन्सन कानून' की प्रतिमूर्ति मान लिया गया जिसका संकेत नौकरशाही द्वारा सत्ता, साम्राज्य निर्माण, साधनों का अपव्यय, उदासीनता, आत्म प्रसार, आदि दुष्प्रभावपूर्ण प्रवृत्तियों से था। एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार, "जिस प्रकार तानाशाही का अर्थ तानाशाह का शासन तथा प्रजातंत्र का अर्थ जनता का शासन होता है उसी प्रकार ब्यूरोक्रैसी का अर्थ ब्यूरो का शासन है।" रॉबर्ट सी. स्टोन के अनुसार, "इस पद का शाब्दिक अर्थ कार्यालय द्वारा शासन या अधिकारियों द्वारा शासन है। सामान्यत: इसका प्रयोग दोषपूर्ण प्रशासनिक संस्थाओं के संदर्भ में किया जाता है। नौकरशाही संगठनों में लालफीताशाही, कठोर नियम और कार्यविधि पर जोर दिया जाता है।" **मार्सटीन मार्क्स** के अभिमत में 'नौकरशाही' शब्द का प्रयोग मुख्यत: चार रूपों में किया जाता है–(*i*) नौकरशाही एक विशेष प्रकार का संगठन है, विशेषत: यह लोक प्रशासन के कार्य करने की एक संरचना है। (*ii*) नौकरशाही संगठन की एक ऐसी बीमारी है जो अच्छे प्रबंध में अवरोध उत्पन्न करती है। (*iii*) नौकरशाही एक 'बड़ी सरकार' है। यह अच्छे-बुरे कार्यों के लिए सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था से जुड़ा हुआ एक विशाल संस्थान है। (*iv*) नौकरशाही एक बुराई पैदा करने वाला अभिशाप है जो स्वतंत्रता के लिए हानिकारक है।

माइकेल क्रोजियर के अनुसार नौकरशाही एक अस्पष्ट शब्द है। समाज विज्ञानों में इस शब्द का प्रयोग मुख्यत: तीन रूपों में हुआ है–(*i*) प्रथम, प्रयोग के अनुसार ब्यूरोक्रैसी ब्यूरो द्वारा सरकार है। यह राज्य के उन विभागों द्वारा संचालित होती है जिनमें निर्वाचित नहीं वरन् नियुक्त कार्मिक होते हैं। ये पदसोपान के रूप में संगठित किए जाते हैं। इस अर्थ में नौकरशाही कानून और व्यवस्था के शासन की परिचायक है। किंतु इसमें जनता का कोई योगदान नहीं होता। (*ii*) द्वितीय, इसका दूसरा प्रयोग मैक्स वेबर से प्रारंभ हुआ तथा इसे समाजशास्त्रियों एवं इतिहासकारों द्वारा लोकप्रिय बनाया गया। तदनुसार नौकरशाही सामूहिक क्रियाओं का तार्किकीकरण (Rationalization of Collective Activities) है। इसके लिए उत्पादन की इकाइयों का केंद्रीकरण तथा सभी संगठनों में निर्वैयक्तिक नियमों का विकास किया जाता है। इन नियमों द्वारा विभिन्न पदाधिकारियों के कार्यों तथा दायित्वों को परिभाषित किया जाता है। (*iii*) तृतीय, इसका तीसरा प्रयोग ऐसे संगठन का द्योतक है जिसमें कार्यों का धीमापन, प्रक्रियाओं की जटिलता, नियमित कार्य-विधि, लक्ष्यों के प्रति दुर्भावनापूर्ण प्रतिक्रियाएँ, कष्टकारी प्रभाव, लालफीताशाही, विभागीयता का विचार, आदि बातें एक साथ प्राप्त होती हैं।

नौकरशाही की आधुनिक अवधारणा का प्रस्तुतीकरण मुख्यत: संरचनात्मक (Structural) तथा कार्यात्मक (Functional) दो दृष्टियों से किया गया है। संरचनात्मक दृष्टि से नौकरशाही को एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था माना गया जिसमें पदसोपान विशेषीकरण, योग्य कार्यकर्ता आदि विशेषताएँ पायी जाती हैं। कार्ल फ्रेडरिक के शब्दों में, 'नौकरशाही उन लोगों के पदसोपान, कार्यों के विशेषीकरण तथा उच्चस्तरीय क्षमता से युक्त संगठन है जिन्हें इन पदों

पर कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया है।' कार्यात्मक दृष्टि से नौकरशाही का अध्ययन सामान्य सामाजिक व्यवहार के प्रभाव का अध्ययन है। स्वयं नौकरशाही भी इस सामान्य सामाजिक व्यवस्था का एक भाग होती है। माइकेल क्रोजियर के शब्दों में, "नौकरशाही व्यवहार में धीमापन, प्रक्रिया की जटिलता, रूटीन प्रकृति और प्रशासनिक संगठन के सदस्यों अथवा सेवित व्यक्तियों के लिए कुण्ठाजनक वातावरण, आदि बातें शामिल की जाती हैं।" हैरल्ड लास्की ने नौकरशाही एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था को माना है जिसमें "यंत्रवत् कार्य के लिए उत्कण्ठता, नियमों के लिए लोचशीलता का बलिदान, निर्णय लेने में देरी और नवीन प्रयोगों का अवरोध, रूढ़िवादी दृष्टिकोण, आदि बातें प्रभावशील रहती हैं।" एफ. एम. मार्क्स ने "पदसोपान, क्षेत्राधिकार, विशेषीकरण, व्यावसायिक प्रशिक्षण, निश्चित वेतन एवं स्थायित्व को नौकरशाही संगठन की विशेषताएँ स्वीकार किया है।"

नौकरशाही के संबंध में मैक्स वेबर के विचार

मैक्स वेबर नौकरशाही का व्यवस्थित अध्ययन करने वाला प्रथम समाजशास्त्री था। उसका योगदान बहुत-से क्षेत्रों में रहा है जिनमें समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास तथा राजनीतिक विज्ञान प्रमुख हैं। मैक्स वेबर और नौकरशाही, दोनों ही एक-दूसरे के पर्यायवाची बन गए। प्रशासन संबंधी आधुनिक विचारकों पर भी वेबर का बहुत प्रभाव रहा है। वेबर के नौकरशाही सिद्धांत तथा वैधानिकता और प्रभुत्व सिद्धांतों ने ही भावी सिद्धांतों का आधार तैयार किया। उसने नौकरशाही को प्रशासन की तर्कपूर्ण (Rational) व्यवस्था माना है। उसके मतानुसार संस्थागत मानव व्यवहार में तर्कपूर्णता लाने का सर्वोत्तम साधन नौकरशाही है। मैक्स वेबर ने सत्ता के वर्गीकरण का प्रयास किया था। वेबर का नौकरशाही सिद्धांत प्रभुत्व के सिद्धांत का ही एक अंग है। प्रभुत्व का अर्थ है नियंत्रण की आधिकारिक शक्ति। दूसरे शब्दों में कहें तो वेबर ने यह प्रश्न उठाया कि कैसे एक व्यक्ति दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाता है और इसी के उत्तर में यह भी कहा कि प्रभुत्व का उपयोग यदि किसी भी तरह न्यायसंगत तथा वैध हो तो वह स्वीकार्य हो जाता है। एक तरह से देखें तो एक प्रकार की वैधता से किसी विशिष्ट प्रकार का प्रभुत्व होता है और दूसरी तरह की वैधता से एक अन्य प्रकार का। वेबर ने प्रभाव के कुल तीन प्रकार माने–(*i*) पारंपरिक प्रभुत्व, (*ii*) श्रद्धा पर आधारित प्रभुत्व, तथा (*iii*) वैधानिक प्रभुत्व। नौकरशाही इनमें से अंतिम श्रेणी में आती है। विधिक सत्ता से पोषित एवं समर्थित नौकरशाही को वह संगठन का सबसे प्रभावशाली स्वरूप मानता था।

'नौकरशाही' शब्द, सरकार, उद्योग तथा सेना जैसे आधुनिक बड़े-बड़े संगठनों में कार्य करने वाले कर्मचारियों के लिए प्रयुक्त होता है। संस्थाओं के उद्देश्य भिन्न हो सकते हैं परंतु उनके 'नौकरशाही तंत्र' की विशेषताएँ एक-सी होती हैं। नौकरशाही के 'आदर्श रूप' (Ideal Type) की कतिपय विशेषताओं का वर्णन मैक्स वेबर ने किया है, जो निम्न हैं–

1. स्पष्ट श्रम-विभाजन (Clearcut Division of Labour)–नौकरशाही में संगठन के सभी कर्मचारियों के बीच कार्य का सुनिश्चित तरीके से स्पष्ट वितरण किया जाता है तथा प्रत्येक कर्मचारी को अपना कार्य प्रभावशाली रूप से संपन्न करने के लिए उत्तरदायी बनाया जाता है।

2. निश्चित कार्यविधियाँ (Set Procedures)–नौकरशाही संगठन में कार्यविधि पूर्णतया निश्चित रहती है। संगठनों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जो भी क्रियाएँ करनी होती हैं, उनकी रीतियाँ पूर्व-निर्धारित होती हैं। समस्त कार्य पूर्व-निश्चित नियमों के अनुसार किए जाते हैं। ये नियम और प्रक्रियाएँ कुल मिलाकर स्थिर और व्यापक होते हैं। विशेष बल इस बात पर रहता है कि कार्यकुशलता एक-सी बनी रहे, लक्ष्य का औचित्य अवैयक्तिक तरीकों से सिद्ध किया जाता है, व्यवहार नियमों के अंतर्गत एक सिलसिलेवार अनुशासन और नियंत्रण के अंतर्गत होना चाहिए।

3. कार्यों को पूरा करने के लिए विधिपूर्वक व्यवस्था (Consistent System of Abstract Rules)–नौकरशाही पद्धति में कार्यों को नियमित रूप से पूरा करने के लिए विधिपूर्वक व्यवस्था की जाती है। कार्य पूर्ण क्षमता के साथ संपन्न हो, इस उद्देश्य से केवल उन्हीं व्यक्तियों को संगठन में नियुक्त किया जाता है जो निर्धारित योग्यताएँ रखते हैं।

4. पदसोपान पद्धति (Hierarchical Structure)–नौकरशाही प्रणाली पदसोपान पद्धति पर आधारित होती है। इसमें कर्मचारियों के बीच उच्च-अधीनस्थ संबंध (Superior-subordinate relationship) पाया जाता है। आदेश के सूत्र ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होते हैं। संगठन का प्रशासनिक ढाँचा एक 'पिरामिड' के समान रहता है, उच्चतम और निम्नतम अधिकारियों के बीच कई सोपानें रहती हैं। हर काम 'उचित मार्ग से' (through proper channel) होता है।

नोट

5. पद के लिए अर्हताएँ अथवा योग्यताएँ (Selections on the basis of Qualifications)—नौकरशाही का एक लक्षण यह है कि इसमें प्रत्येक पद के लिए योग्यताएँ निर्धारित रहती हैं। इसमें केवल उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता है जो कार्यकुशल हों और सरकारी कार्यों का संचालन क्षमताशील ढंग से कर सकें। नौकरशाही शासन के पदाधिकारियों की न केवल भर्ती बल्कि पदोन्नति भी योग्यता के आधार पर की जाती है।

6. वेतन एवं पेंशन अधिकार (Salary and Pension Rights)—नौकरशाही संगठन की आय के आधार पर कर्मचारियों का वेतन तय नहीं किया जाता वरन् पदसोपान में उसका स्तर, पद के दायित्व, सामाजिक स्थिति, आदि बातों का ध्यान रखकर तय किया जाता है।

7. अवैयक्तिक संबंध (Impersonal Relations)—नौकरशाही की एक अन्य विशेषता यह है कि कर्मचारियों के बीच संबंध अवैयक्तिक होते हैं। नौकरशाही ढाँचे में दफ्तर की स्थिति व्यक्तिगत संबंधों, भावनाओं और अनुभूतियों से मुक्त होती है और इनसे प्रभावित नहीं होती। निर्णय औचित्य के आधार पर लिए जाते हैं न कि व्यक्तिगत आधार पर। यद्यपि वास्तविक परिस्थितियों में इस प्रकार का गैर-व्यक्तिगत दृष्टिकोण अपनाया नहीं जा सकता तो भी वेबर का दृढ़ मत है कि नौकरशाही तंत्र औचित्यपूर्ण निर्णयों के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।

8. आधिकारिक रिकॉर्ड (Official Record)—नौकरशाही वाले संगठन में आधिकारिक रिकार्डों को उचित ढंग से रखा जाता है। संगठन के निर्णयों और गतिविधियों को औपचारिक रूप से रिकॉर्ड कर लिया जाता है और भावी संदर्भ के लिए सुरक्षित रखा जाता है। यह कार्य संगठन में फाइलिंग प्रणाली का व्यापक प्रयोग करके किया जाता है।

नौकरशाही के लक्षण, विशेषताएँ और प्रकार

नौकरशाही के लक्षण अथवा विशेषताएँ

नौकरशाही 'लोक सेवाओं' के दोषों की ओर संकेत करती है। साधारणत: इससे यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि लोक सेवा के कर्मचारी लालफीताशाही के दोष से घिरे रहते हैं तथा वे जनहित की उपेक्षा करते हैं। नौकरशाही उस व्यवस्था को कहते हैं जिसके अंतर्गत सरकारी कर्मचारी अपने को जनता का सेवक न समझकर स्वामी समझने लगते हैं, जनहित की उपेक्षा करते हैं, नियमों और विनियमों का कठोरता से पालन करते हैं और कार्य में विलम्ब होता है। वस्तुत: नौकरशाही के तरीके अनमनीय, यांत्रिक हृदयहीन एवं औपचारिक हो जाते हैं। वे जनता से अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते और अपने श्रेष्ठता का दावा करते हैं। फाइनर ने इसे 'मेज का शासन' कहकर पुकारा है। संक्षेप में, नौकरशाही एक कार्यकुशल, प्रशिक्षित तथा कर्तव्यपरायण सरकारी कर्मचारियों का विशिष्ट संगठन है जिसमें 'पदसोपान' तथा 'आज्ञा की एकता' के सिद्धांत का कड़ाई से पालन किया जाता है।

कार्ल जे. फ्रेडरिक ने नौकरशाही के छ: लक्षण बताए हैं जो इस प्रकार हैं—

1. कार्यों का विभिन्नीकरण (Differentiation of Functions);
2. पद के लिए योग्यताएँ;
3. पदसोपान क्रम का संगठन तथा अनुशासन;
4. कार्यरीति की वस्तुनिष्ठता (Objectivity of Method);
5. लालफीताशाही; तथा
6. प्रशासनिक कार्यों के संबंध में गुप्तता।

नौकरशाही के निम्नलिखित प्रमुख 'लक्षण' हैं—

1. **कानून व नियम में अटूट विश्वास**—नौकरशाही का कानूनों और नियमों में अटूट विश्वास होता है, उसको प्रारंभ से ही इस बात का प्रशिक्षण दिया जाता है कि जो भी कार्य किया जाए कानून एवं नियम के अनुसार किया जाए। लोकतंत्र में कानून को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है, क्योंकि यह समझा जाता है कि कानून सार्वजनिक इच्छा का प्रतीक है। नौकरशाही जो भी कार्य करती है कानून के अनुसार ही करती है। नौकरशाही के सदस्य अपनी स्वयं की मर्जी के अनुसार कोई कार्य नहीं कर सकते। उनको वही कार्य करना पड़ेगा जो कानून या नियम के अनुसार निर्धारित व अपेक्षित हैं। ऐसे बहुत-से अवसर आते हैं जब कानून का पालन किसी के हित में नहीं होता परंतु नौकरशाही कानून की अवज्ञा नहीं कर सकती।

2. प्रत्येक पद के लिए निर्धारित सत्ता—नौकरशाही में प्रत्येक नौकरशाह की सत्ता परिभाषित और निर्धारित होती है। वह उस सत्ता से बाहर कार्य करने की स्थिति में नहीं होता है। उदाहरण के लिए, एक जिले का अधिकारी अपने जिले में ही सत्ता का प्रयोग कर सकता है, दूसरे जिले में जाकर वह सत्ता का प्रयोग नहीं कर सकता है। जिस विभाग का अधिकारी है उस विभाग से संबंधित ही कार्य कर सकता है, अन्य विभाग से संबंधित कार्य वह नहीं कर सकता। एक आयकर अधिकारी आयकर लगा सकता है, परंतु मिलावट करने वाले के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा सकता। "नौकरशाही में कार्य अथवा उत्तरदायित्व के क्षेत्र कठोरता के साथ परिभाषित, विशेषीकृत और उप-विशेषीकृत कर दिए जाते हैं।".

3. प्राविधिक विशेषता—नौकरशाही के काम करने का एक विशिष्ट ढंग होता है। वर्षों से जो संगठन कार्यरत है उस संगठन की अपनी अलग एक विशेषता स्थापित हो ही जाती है। उस विशेषता को वही लोग जानते हैं जो नौकरशाही के अंग हैं। जो नौकरशाही के अंग नहीं हैं उनको वह विशेषता एक ऐसे दुर्ग के समान मालूम होती है जिसकी दीवारों को भेद सकना एक दुष्कर कार्य है। एक सरकारी कर्मचारी अपना समस्त जीवन एक विशिष्ट कार्य में लगा देता है। यह तथ्य उसमें एक प्रकार की विशेषता का भाव पैदा कर देता है। एक विशेष कुशलता में प्रशिक्षित, उसे बार-बार दोहराने वाला तथा अपने पद को आजीवन मानने वाला अधिकारी एक विशेष कार्य में योग्य बन जाता है।

4. सत्ता का आधार राज्य व शासन का कानून—नौकरशाही जो भी कार्य करती है उस कार्य को करने का अधिकार उसको शासन से प्राप्त होता है। सामान्य नागरिक यदि नौकरशाही के किसी अंग के विरुद्ध आवाज उठाता है तो यह समझा जाता है कि उस नागरिक ने देश के कानून को अपने हाथ में लिया है। सरकारी कर्मचारी के काम में बाधा डालने का अर्थ है कानूनों का उल्लंघन। इस स्थिति से शासकीय कर्मचारी को सुरक्षा का एक कवच मिल जाता है जिसके अंदर रहकर वह निर्भय होकर स्वेच्छा से काम कर सकता है।

5. आजीविका अर्जित करने वालों का समूह—नौकरशाही के सदस्य इसलिए लोक सेवा में भर्ती नहीं हुए हैं कि उनको समाज सेवा करनी है। उनका उद्देश्य तो आजीविका का अर्जन करना होता है। लोक सेवक 'लोक सेवा' के लिए घर से नहीं निकलते हैं वे अपना और अपने बच्चों का पेट पालने के लिए घर से निकलते हैं। वे जो भी कार्य करते हैं उसके लिए उनको वेतन दिया जाता है।

6. कागजी कार्यवाही—आधुनिक कार्यालय की प्रबंध, व्यवस्था लिखित दस्तावेजों तथा फाइलों पर ही आधारित है। कार्यालय की गतिविधियाँ शासक, उद्यमी तथा कार्मिकों के निजी कार्यों से अलग रहती हैं। इसी प्रकार कार्यालय से संबद्ध कोई निर्णय व्यक्तिगत नहीं होता; प्रत्येक कार्य, निर्णय तथा आदेश लिखित में (रिकॉर्ड में) होता है। फाइलें, पंच-काड्र्स अथवा कम्प्यूटर टेप आदि संस्था के स्मृति कोश हैं, जो भविष्य में कुशल निर्णय लेने में सहायक होते हैं।

नौकरशाही के प्रकार

एफ.एम. मार्क्स ने नौकरशाही के चार रूपों की चर्चा की है—(*i*) अभिभावक नौकरशाही (Guardian Bureaucracy), (*ii*) जातीय नौकरशाही (Caste Bureaucracy), (*iii*) संरक्षक नौकरशाही (Patronage Bureaucracy), तथा (*iv*) योग्यता नौकरशाही (Merit Bureaucracy)। मार्क्स की मान्यता है कि इन रूपों में से एक भी किसी देश में पूरी तरह उपलब्ध नहीं होती। यहाँ हम मार्क्स द्वारा वर्णित नौकरशाही के रूपों की विशेषताओं का संक्षेप में विवेचन करेंगे—

1. अभिभावक नौकरशाही (Guardian Bureaucracy)—इस प्रकार की नौकरशाही जनहित के लिए काम करती है। इसके सारे कामों के पीछे जनहित की भावना छिपी होती है। वे न्याय तथा लोक कल्याण के संरक्षक होते हैं। प्लेटो की रिपब्लिक में वर्णित संरक्षक (Guardian) को इस श्रेणी की नौकरशाही कहा जा सकता है। मार्क्स ने अभिभावक नौकरशाही के दो उदाहरण दिए हैं—चीनी नौकरशाही (शुंगकाल के उदय से 960 तक) और प्रशा की नौकरशाही (सन् 1640 से 1740 तक)। चीन की अभिभावक नौकरशाही की विशेषताएँ थीं—

(*i*) प्रशासकों के चयन में प्राचीन ग्रंथों का प्रभाव,

(*ii*) प्रशासनिक आचरण का स्रोत एवं आधार प्राचीन ग्रंथ,

(*iii*) परंपरावादी एवं रूढ़िवादी प्रकृति,

नोट

(iv) जनहित की समस्याओं से उदासीन।

प्रशा की नौकरशाही की विशेषताएँ थी–

(i) राज्य के हित में समर्पित,

(ii) एकीकृत एवं संतुलित प्रशासनिक व्यवस्था,

(iii) शिक्षित एवं योग्य प्रशासक,

(iv) सजग राजतंत्र (Enlightened Monarch) के मूल्यों के अनुरूप,

(v) जन भावावेशों के प्रति अनुत्तरदायी।

इस प्रकार की नौकरशाही की परिभाषा करते हुए मार्क्स ने कहा है कि "यह विद्वान अधिकारीगण होते हैं जो शास्त्रोक्त आचरण में दीक्षित होते हैं।" ऐसी लोक सेवा अपने आपको लोकहित का अभिरक्षक मानती थी किंतु यह लोकमत से स्वतंत्र थी तथा उसके प्रति उत्तरदायी भी होती थी। एक ओर तो यह न्यायपूर्ण, सक्षम, कार्यकुशल तथा लोकहितकारी होती थी, किंतु दूसरी ओर अनुत्तरदायी तथा अधिकारयुक्त होती थी।

2. जातीय नौकरशाही (Caste Bureaucracy)–जब प्रशासनिक तथा राजनीतिक सत्ता एक ही वर्ग विशेष के हाथों में हो तब जातीय नौकरशाही का उद्‌भव होता है। जातीय नौकरशाही का आधार एक वर्ग विशेष होता है। इस प्रकार की नौकरशाही अल्पतंत्रीय राजनीतिक व्यवस्थाओं वाले देशों में व्यापक रूप से प्रचलित है। ऐसी व्यवस्थाओं में केवल वे ही व्यक्ति सरकारी अधिकारी हो सकते हैं जो उच्चतर वर्गों या जातियों के होते हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन भारत में केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही उच्चाधिकारी हो सकते थे। भारतीय नरेश अपनी सेवा में समाज के उच्च वर्ग के सदस्यों को ही भर्ती करते थे। इसे विलोबी ने 'कुलीनतंत्र' कहा है, जो कुछ समय पूर्व तक इंग्लैंड में पाया जाता था। जातीय नौकरशाही की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

(i) शैक्षणिक-योग्यता की अनिवार्यता,

(ii) पद एवं जाति में अंतर्सम्बन्ध,

(iii) सेवा अथवा पद का एक परिवार से जुड़ जाना,

(iv) दोषपूर्ण समाज व्यवस्था का प्रतीक।

मार्क्स ने जातीय नौकरशाही के पुरातन उदाहरणों में रोमन साम्राज्य तथा अर्वाचीन उदाहरणों में जापान के मेजी संविधान का उल्लेख किया है।

3. संरक्षक नौकरशाही (Patronage Bureaucracy)–यह नौकरशाही का वह रूप है जिसमें लोक सेवकों की नियुक्ति उनकी तुलनात्मक योग्यता के आधार पर नहीं की जाती वरन् नियोक्ता और प्रत्याशियों के राजनीतिक संबंधों के आधार पर की जाती है। इस प्रकार की नौकरशाही में चुनाव में विजयी राजनीतिज्ञ अपने समर्थकों को ऊँचे पदों पर नियुक्त करते हैं। निर्वाचन में विजयी होने के परिणामों को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक था कि प्रशासनिक मशीनरी पर नियंत्रण स्थापित किया जाए। प्रतिबद्ध नौकरशाही (Committed Bureaucracy) भी प्रायः इसी प्रकार की विचारधारा में विश्वास रखती है। इसका दूसरा नाम 'लूट पद्धति' है। संयुक्त राज्य अमेरिका इसका परंपरागत घर है। इस तरह की लोक सेवा का अस्तित्व वहाँ होता है जहाँ सरकारी पद पर नियुक्ति किसी व्यक्तिगत अनुग्रह या राजनीतिक पुरस्कार के रूप में की जाती है। सं.रा. अमेरिका में प्रत्येक नव-निर्वाचित राष्ट्रपति के साथ अनेक कार्य कर रहे उच्च प्रशासनिक पदाधिकारी पद-मुक्त कर दिए जाते थे और उनके स्थान पर ऐसे व्यक्तियों की भर्ती की जाती थी जिन्होंने राष्ट्रपति के चुनाव में भारी समर्थन किया हो, जो उसके दल का प्रमुख व्यक्ति हो अथवा अन्य किसी भी कारण से वह राष्ट्रपति को पसंद हो। यह लूट प्रणाली वाशिंगटन, जेफरसन तथा एडम्स के समय लघु रूप से आरंभ हुई थी। सन् 1829 में जब जैक्सन राष्ट्रपति पद पर सत्तारूढ़ हुए तो इस लघु धारा ने वेगवती नदी का रूप धारण कर लिया एवं तीव्र गति से प्रवाहित होने लगी। संरक्षक नौकरशाही की कतिपय मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(i) इसमें कर्मचारियों की भर्ती के समय उनकी शैक्षणिक अथवा व्यावसायिक योग्यता को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता।

(ii) लोक सेवाओं से सत्ताधारी दल के कार्यक्रमों एवं नीतियों के साथ प्रतिबद्धता की अपेक्षा की जाती है।

(iii) लोक सेवकों का कार्यकाल सुरक्षित नहीं होता। वे अपने पद पर तभी तक कार्य कर सकते हैं जब तक कि उन्हें सत्ताधारी दल का संरक्षण प्राप्त है।

(iv) लोक सेवकों का मुख्य कार्य राजनीतिक नेतृत्व को प्रसन्न रखना होता है।

(v) प्रशासन राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ नहीं रह पाता।

नोट

4. योग्यता नौकरशाही (Merit Bureaucracy)–योग्यता पर आधाररित नौकरशाही का आधार सरकारी अधिकारी के गुण (merit) होते हैं। योग्यता की जाँच के लिए निष्पक्ष तथा वस्तुगत परीक्षाएँ आयोजित की जाती हैं। इसका लक्ष्य लोक सेवा की कुशलता है। इसका लक्ष्य 'प्रतिभा के लिए खुला पेशा' होता है। इस व्यवस्था में लोक सेवक किसी से अनुग्रह भार से दबा हुआ नहीं रहता तथा सदैव सामान्य हित की अभिवृद्धि में रुचि ले सकता है। सभी सभ्य देशों में नौकरशाही की यही पद्धति प्रचलित है। आधुनिक लोकतंत्र में लोक कर्मचारी वास्तव में लोगों की सेवा में नियुक्त एक अधिकारी होता है और उनकी भर्ती निश्चित योग्यता के आधार पर निश्चित उद्देश्य हेतु की जाती है। योग्यता नौकरशाही की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(i) योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ तथा नियुक्तियों की जाँच के लिए लिखित परीक्षाएँ,

(ii) कार्यकाल की सुरक्षा,

(iii) नियमानुसार निर्धारित वेतन,

(iv) निष्पक्ष एवं निर्भयतापूर्ण कार्य-संचालन,

(v) राजनीतिक विचारधारा या नीतियों के प्रति प्रतिबद्धता के स्थान पर देश के संविधान एवं अपने कर्तव्यों के प्रति सजग,

(vi) वस्तुनिष्ठ मापदंड (objective) के आधार पर काम होता है,

(vii) प्रत्याशी किसी संरक्षक की कृपा से प्रवेश नहीं पाता। अत: उसे किसी संरक्षक का उपकार मानकर उससे दबने की आवश्यकता नहीं रहती।

3.10 नौकरशाही के लाभ एवं प्रकार्य: सामाजिक-आर्थिक परिणाम (Advantages of Bureaucracy: Socio-economic Consequences)

नौकरशाही के दुष्प्रकार्यों की विवेचना से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि नौकरशाही का कोई प्रकार्यात्मक या लाभदायक पक्ष नहीं है। नौकरशाही के लाभ आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं प्रशासनिक सभी क्षेत्रों में पाए जाते हैं। इसके प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं–

(1) नौकरशाही संगठन तकनीकी दृष्टि से अन्य संगठनों की तुलना में अधिक उपयुक्त है।

(2) इसमें विशिष्ट प्रशासन पाया जाता है।

(3) इसमें कार्य विषय के विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है। जो निष्पक्ष रूप से कार्य करते हैं।

(4) नौकरशाही में शासन कानून के आधार पर होता है इसमें औपचारिकता, समानता और योग्यता की परख आदि के गुण पाए जाते हैं।

(5) इसके द्वारा समाज में व्याप्त सामाजिक-आर्थिक विषमता का भी अंत संभव है।

(6) आधुनिक समाज के आर्थिक विकास में नौकरशाही व्यवस्था ने अपूर्व योग दिया है। इसका कारण यह है कि यह व्यवस्था प्रमुखत: विवेक या बुद्धि पर आधारित है।

(7) वेबर द्वारा वर्णित विवेकपूर्ण क्रिया का उत्तम उदाहरण नौकरशाही व्यवस्था ही है। यही कारण है कि इसमें सभी नियमों के अंतर्गत अधिक कुशलता के साथ होते हैं।

(8) इससे व्यावसायिक श्रेष्ठता बनाए रखने में मदद मिलती है। यही कारण है कि आधुनिक युग के बड़े-बड़े उद्योगों का संचालन नौकरशाही तंत्र के द्वारा ही किया जा रहा है। पूंजीवाद एवं नौकरशाही में घनिष्ठ संबंध है।

(9) प्रजातंत्र एवं नौकरशाही में भी घनिष्ठ संबंध है। प्रजातंत्र में नागरिक समानता पर बल दिया जाता है जिसमें सभी पदों को सभी नागरिकों को प्राप्त करने का समान अधिकार होता है। नौकरशाही इस कार्य में सहायक है। यह सही है कि मैक्स वेबर द्वारा प्रस्तुत नौकरशाही सिद्धांत में राजनीतिक विकास का सही अनुमान नहीं लगाया गया और यही कारण है कि उनके द्वारा प्रस्तुत नौकरशाही तंत्र की आलोचना की गयी। लेकिन बैण्डिक्स की मान्यता है कि यह सही है कि वेबर ने उस राजनीतिक विकास का अनुमान नहीं लगाया था जिसने उनके इस विश्लेषण को उपयुक्त बनाया परंतु चूँकि उनका इस प्रकार का प्रयोग संभव और फलदायक है, इसलिए वेबर की प्रतिभा का यही आश्चर्यजनक प्रमाण है। नौकरशाही के बारे में यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि "नौकरशाही एक अमूल्य सेवक है किंतु दुर्दान्त स्वामी। (Bureaucracy is invaluable as a servant but ruins when it becomes the master)।

वेबर की नौकरशाही की अवधारणा के आधार पर भारतीय अधिकारी तंत्र एवं आधुनिक सरकारी संगठनों को समझा एवं उनका अध्ययन किया जा सकता है। यह अध्ययन करते समय भारतीय परिस्थितियों को विशेष रूप से ध्यान में रखा जाना चाहिए। ऐसे अध्ययनों में वेबर द्वारा इंगित नौकरशाही की विशेषताओं को आधार बनाया जा सकता है साथ ही नौकरशाही की आलोचनात्मक विवेचना पर भी विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए तथा वे तरीके ढूँढ निकाले जाने चाहिए जिससे नौकरशाही के अपकार्यात्मक पक्ष (हानियों) को दूर किया जा सके। उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि वेबर ने नौकरशाही के विश्लेषण में असाधारण बौद्धिक क्षमता का परिचय दिया। आपका यह विश्लेषण इस क्षेत्र में काम कर रहे अनेक शोधकर्ताओं एवं विद्वानों का पथ-प्रदर्शन करता रहेगा।

छात्र क्रियाकलाप

1. विचारधारा के प्रकार संक्षेप में बतायें।

2. नौकरशाही कितने प्रकार की होती है?

3.11 सारांश (Summary)

- विचारधारा एक प्रकार का राजनीतिक सिद्धांत है जो (इसके व्यापक अर्थों में) किसी राजनीतिक

व्यवस्था का और साथ ही उन मूल्यों और आदर्शों का समर्थन करती है जो इसे मानव मन की अंतिम निकटता के रूप में एक आदर्श व्यवस्था के साथ में बनाए रखते हैं।

- राजनीतिक विचारधारा, राजनीतिक यथार्थ की विवेचक और उसकी क्रियात्मकता की रूपरेखा होती है। यह राजनीतिक विचारों, उद्देश्यों और प्रयोजनों का मुखरित समुच्चय है जो राजनीतिक व्यवस्था के सदस्यों को अतीत की व्याख्या, वर्तमान का विश्लेषण और भविष्य का दृष्टिकोण पेश करती है।
- समाज केवल तभी जिंदा रह सकता है अगर इसके सदस्यों के बीच पर्याप्त मात्रा में एकता हो। शिक्षा इस एकता को पैदा करती है और फिर इसे स्थापित करती है। यह बच्चों में शुरू से आवश्यक समानताएँ तय करती है जो सामूहिक जीवन की माँग है।
- दबाव समूह राजनीतिक प्रक्रिया के अविच्छिन्न अंग होते हैं और वे सरकार की नीति को मजबूत बनाने और उसकी दिशा बदलने का प्रयास करते हैं।
- विकासशील राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों की माँगों को पूरा करने की क्षमताएँ बहुत कम होने के कारण ऐसे राज्यों में दबाव समूह अक्सर तोड़-फोड़ का रास्ता अपनाने लगते हैं। इसका सीधा परिणाम दबाव समूहों की गतिविधियों पर रोक लगाने का होता है।
- 'नौकरशाही' शब्द, सरकार, उद्योग तथा सेना जैसे आधुनिक बड़े-बड़े संगठनों में कार्य करने वाले कर्मचारियों के लिए प्रयुक्त होता है। संस्थाओं के उद्देश्य भिन्न हो सकते हैं, परंतु उनके 'नौकरशाही तंत्र' की विशेषताएँ एक-सी होती हैं।
- प्रजातंत्र एवं नौकरशाही में भी घनिष्ठ संबंध है। प्रजातंत्र में नागरिक समानता पर बल दिया जाता है जिसमें सभी पदों को सभी नागरिकों को प्राप्त करने का समान अधिकार होता है। नौकरशाही इस कार्य में सहायक है।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीति में बुद्धिजीवी की भूमिका एवं महत्त्व को समझाइए।
2. राजनीतिक विचारधारा के क्या लक्षण हैं? विचारधारा के अंत का क्या सिद्धांत है?
3. दबाव समूह का अर्थ एवं परिभाषा दीजिए। दबाव समूह व हित समूह में क्या अंतर हैं?
4. दबाव समूह राजनीति के कौन-कौन से निर्धारक तत्त्व हैं?
5. दबाव समूह और राजनीतिक दलों में मुख्य अंतर बतायें।
6. नौकरशाही से क्या तात्पर्य है? नौकरशाही के संबंध में मैक्स वेबर के विचार प्रस्तुत कीजिए।
7. नौकरशाही के प्रमुख लक्षण या विशेषताएँ बताओ।
8. नौकरशाही के लाभदायक पक्षों पर प्रकाश डालिए।

संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

1. India as a Secular State — Smith, D.E. — Princeton University Press, London, 1963
2. India: Another Millennium — Thapar, Romila — (ed) Viking, Delhi, 2000
3. Rural Sociology — Doshi, S.L. and Jain, P.C. — Rawat, Jaipur, 1999
4. Politics Sociology — Nagla, B.K. — Rawat, Jaipur, 1999

इकाई–4
Unit–IV

भारत में राजनीतिक प्रक्रिया, राजनीति में जाति-धर्म, क्षेत्रीयतावाद एवं भाषा की भूमिका
(Political Process in India, Role of Caste, Religion, Regionalism and Language in Politics)

संरचना (Structure)

4.1 उद्देश्य (Objectives)
4.2 प्रस्तावना (Introduction)
4.3 जाति और भारतीय राजनीति (Caste and Indian Politics)
4.4 जाति का राजनीतिक रूप: रज़नी कोठारी का दृष्टिकोण (Political Dimensions of Caste: Rajni Kothari's Approach)
4.5 जाति के राजनीतिकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Caste Politicization)
4.6 भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका (Role of Caste in Indian Politics)
4.7 धर्म एवं राजनीति (Religion and Politics)
4.8 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद (Regionalism in Indian Politics)
4.9 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद: विश्लेषण (Regionalism in Indian Politics: Analysis)
4.10 क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम (Evil Consequences of Regionalism)
4.11 सारांश (Summary)
- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

4.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- जाति का अर्थ एवं इसकी विशेषताएँ जानने में;
- भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका समझने में;
- भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के कारणों का पता लगाने में;
- क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणामों की व्याख्या करने में।

4.2 प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिक भारत में जिन अवधारणाओं ने सामाजिक-राजनीतिक जीवन में अपना प्रभाव विस्तृत किया है उनमें क्षेत्रीयता (Regionalism) भी एक है। इस क्षेत्रीयता या क्षेत्रवाद का जन्म कब और कैसे हुआ यह बताना तो कठिन है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आज इसका जो उग्र रूप प्रगट हुआ है वह राष्ट्रीय एकता की समस्या को और गंभीर बना देता है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय देश-विभाजन के फलस्वरूप भारत की अखण्डता पर कुठाराघात हुआ था वह क्षेत्रवाद के कारण और भी भयंकर हो गया है। इस क्षेत्रीयता की भावना का जन-जीवन में जड़ पकड़ने के कारण आज हमारा यह देश केवल हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में ही नहीं अपितु एकाधिक क्षेत्रों में बँट गया है और प्रत्येक क्षेत्र के लोग दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का बीड़ा उठा चुके हैं।

परंपरावादी भारतीय समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्‌भुत विशेषता है। भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारंभ होने के पश्चात् यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी ढंग की राजनीतिक संस्थाएँ और लोकतंत्रात्मक मूल्यों को अपनाने के फलस्वरूप पारंपरिक संस्था—जातिवाद का अंत हो जाएगा, किंतु स्वाधीनोत्तर भारत की राजनीति में जाति का प्रभाव अनवरत रूप से बढ़ता गया। जहाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में जाति की शक्ति घटी है वहाँ राजनीति और प्रशासन पर इसके बढ़ते हुए प्रभाव को राजनीतिज्ञों, प्रशासनाधिकारियों और केंद्र एवं राज्य सरकारों ने स्वीकार किया है।

4.3 जाति और भारतीय राजनीति (Caste and Indian Politics)

जाति का अर्थ (Meaning of Caste)

जाति प्रथा किसी न किसी रूप में संसार के हर कोने में पायी जाती है, पर एक गंभीर सामाजिक कुरीति के रूप में यह हिन्दू समाज की ही विशेषता है। वैसे इस्लाम और ईसाई समाज भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। यह व्यवस्था एक अति प्राचीन व्यवस्था रही है। इसका अभिप्राय पेशे के आधार पर समाज को कई भागों में बांट देना है। सामान्यतया यह माना जाता है कि जाति प्रथा की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई। ब्राह्मण धार्मिक और वैदिक कार्यों का संपादन करते थे। क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबंध करना था। वैश्य कृषि और वाणिज्य सम्हालते थे तथा शूद्रों को अन्य तीन वर्णों की चाकरी करनी पड़ती थी। शुरू-शुरू में जाति प्रथा के बंधन कठोर न थे और वह जन्म पर नहीं अपितु कर्म पर आधारित थे। बाद में जाति प्रथा में कठोरता आती गयी, वह पूरी तरह जन्म पर आधारित हो गयी तथा एक जाति से दूसरी जाति में अंतः क्रिया असंभव हो गयी। अपने मौलिक रूप में जाति प्रथा उपयोगी थी चूँकि वह श्रम विभाजन के सिद्धांत पर आधारित थी, अतः उसने आर्थिक क्षेत्र में निपुणता के तत्व का समावेश किया। एक जाति का पेशा उसी जाति में होता था। बेटा बाप से अपना पुश्तैनी पेशा सीखता था और प्रायः उसी को अपनी आजीविका के साधन के रूप में अपना लेता था। इस प्रथा ने एक जाति और बिरादरी के लोगों में भाई-चारे की भावना को बढ़ाया। एक जाति के लोग एक-दूसरे से भली-भाँति परिचित होते थे तथा एक-दूसरे के सुख-दुःख में काम आते थे।

प्रो. घुरिये (Ghurye) ने जाति व्यवस्था की छः विशेषताएँ बतायी हैं, जो इस प्रकार हैं—

(*i*) भारत में जाति ऐसे समुदाय हैं जिसका अपना विकसित जीवन है और इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है।

(*ii*) भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति जानता है और जातियों के पदसोपान में ब्राह्मण सबसे ऊपर माना जाता है।

(*iii*) जातियों के आधार पर खान-पान और सामाजिक आदान-प्रदान पर प्रतिबंध लगे रहते हैं।

(*iv*) गाँवों तथा शहरों में जाति के आधार पर पृथकता की भावना बनी रहती है।

(v) कुछ जातियाँ कतिपय विशेष प्रकार के व्यवसायों को अपना पुश्तैनी अधिकार समझती हैं।

(vi) जातियों की परिधि में ही वैवाहिक आदान-प्रदान होता है और जातियाँ कई उपजातियों में विभक्त होती हैं। उप-जातियों में भी वैवाहिक परिसीमाएँ हैं।

जाति का राजनीति से संपर्क सूत्र (Politics Attached to Caste)

स्वाधीनता संग्राम के दौरान ऐसा दीखता था कि जनता पर जातिवाद का प्रभाव कम हो रहा है, किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत जातिवाद ने फिर जोर पकड़ा और वयस्क मताधिकार व्यवस्था के देश में लागू कर दिए जाने के परिणामस्वरूप यह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदित हुआ है। वैसे राजनीति पर जातिगत प्रभाव प्रतिनिधि व्यवस्था के लागू होने के समय से ही शुरू हो गया था, किंतु यह प्रभाव नगण्य ही था। इसके लिए उत्तरदायी थे ब्रिटिश प्रशासन, राष्ट्रीय आंदोलन तथा सीमित मताधिकार। स्वतंत्रता की प्राप्ति ने प्रथम दो कारणों का निराकरण कर दिया और नए संविधान में अपनायी गयी वयस्क मताधिकार व्यवस्था ने तीसरे का। फलतः जातियों के प्रभाव क्षेत्र में आशातीत वृद्धि हो गयी। आरंभ में तो सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उच्च अथवा श्रेष्ठ जातियाँ ही राजनीति से प्रभावित रहीं और राजनीतिक लाभ उन्हीं तक सीमित रहे। समय के साथ-साथ मध्यम और निम्न समझी जाने वाली जातियाँ आगे आने लगीं और अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने में प्रयत्नशील रहने लगीं। प्रो. रुडोल्फ के शब्दों में, "भारत के राजनीतिक लोकतंत्र के संदर्भ में जाति वह धुरी है जिसके माध्यम से नवीन मूल्यों और तरीकों की खोज की जा रही है। यथार्थ में यह एक ऐसा माध्यम बन गयी है कि इसके जरिए भारतीय जनता को लोकतांत्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।"

4.4 जाति का राजनीतिक रूप: रजनी कोठारी का दृष्टिकोण (Political Dimensions of Caste: Rajni Kothari's Approach)

प्रो. रजनी कोठारी ने अपने पुस्तक 'कास्ट इन इंडियन पॉलिटिक्स' (Caste in Indian Politics) में भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का विस्तृत विश्लेषण किया है।

जाति व्यवस्था और राजनीति में अतःक्रिया के संदर्भ में प्रो. रजनी कोठारी ने जाति-प्रथा के तीन रूप प्रस्तुत किए हैं–(*i*) लौकिक रूप (The secular aspect), (*ii*) एकीकरण का रूप (The integration aspect) तथा (*iii*) चैतन्य रूप (The aspect of consciousness)।

(*i*) जाति व्यवस्था का लौकिक रूप–रजनी कोठारी ने जाति व्यवस्था के लैकिक रूप को व्यापक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया। जाति व्यवस्था की कुछ बातों पर सबका ध्यान गया है जैसे जाति के अंदर विवाह, छुआछूत और रीति-रिवाजों के द्वारा जाति की पृथक् इकाई को कायम रखने का प्रयत्न, लेकिन इस बात की ओर बहुत ही कम लोगों का ध्यान गया है कि जातियों में आपसी प्रतिद्वन्द्विता एवं गुटबन्दी रहती है, प्रत्येक जाति प्रतिष्ठा और सत्ता की प्राप्ति के लिए संघर्षरत रहती है। उदाहरण के लिए, आजकल बिहार में ऊँची जातियों और पिछड़ी जातियों के बीच सत्ता प्राप्ति का अनवरत संघर्ष चल रहा है और यही कारण है कि जनता शासन के दौरान दोनों ही मुख्यमंत्री पिछड़ी और अनुसूचित जातियों से आए। जाति व्यवस्था के इस लौकिक पक्ष के दो रूप थे--एक शासकीय रूप यानि जाति की ओर गाँव की पंचायत और चौधराहट। दूसरा रूप राजनीतिक था यानि जाति की आंतरिक गुटबंदी और अन्य जातियों से गठजोड़ और प्रतिद्वन्द्विता। इन संगठनों का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता था कि स्थानीय नेताओं के समाज की केंद्रस्थ सत्ता से किस प्रकार के संबंध थे। धर्म, व्यवसाय और प्रदेश के आधार पर इन जातियों की स्थिति बनती और बिगड़ती थी। पहले इन जातियों का संबंध जाति या गाँव की पंचायत और राजा या जमींदार से रहता था। अब जातीय पंचायतों के स्थान पर विधानसभाएँ और संसद हैं तथा राजा के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार है।

रजनी कोठारी का यह भी विचार है कि देश की राजनीति पर किसी एक जाति का प्राधान्य नहीं हो सका क्योंकि कुछ स्थानों पर ब्राह्मणों का वर्चस्व था तो कुछ प्रदेशों में जैसे गुजरात और मारवाड़ में जैन, वैष्णव जैसे संप्रदायों के हाथ में आर्थिक शक्ति थी।

(ii) **जाति व्यवस्था का एकीकरण का रूप**–जाति का दूसरा रूप एकीकरण का है अर्थात् व्यक्ति को समाज से बांधने का है। जाति प्रथा जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का सामाज में स्थान नियत कर देती है। जाति के आधार पर ही उस व्यक्ति का व्यवसाय और आर्थिक भूमिका निश्चित हो जाती है। चाहे कितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, उसका अपने समाज में लगाव पैदा हो जाता है, जाति के प्रति उसकी निष्ठा बढ़ने लगती है। यही निंष्ठा आगे चलकर बड़ी निष्ठाओं अर्थात् लोकतंत्र और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी विकसित हो सकती है। इस प्रकार जातियाँ जोड़ने वाली कड़ियाँ बन जाती हैं। लोकतंत्र के अंदर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता होती है और विभिन्न जातियों में आपस में मिल-जुलकर गठजोड़ बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ताकि वे सत्ता का लाभ प्राप्त कर सकें।

(iii) **जाति व्यवस्था का चैतन्य रूप**–जाति प्रथा का तीसरा रूप चेतना बोध है। कुछ जातियाँ अपने को उच्च समझती हैं और इस कारण समाज में उनकी विशेष प्रतिष्ठा होती है। इस कारण कुछ निम्न समझी जाने वाली जातियाँ भी अपने को उनके साथ जोड़ने की चेष्टा करती हैं। क्षत्रिय वर्ण के साथ जो प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है, उसके कारण देश के विभिन्न भागों में अनेक जातियों ने इस वर्ण का दावा किया है। कुछ जातियों में इसी प्रकार ब्राह्मण पद का भी दावा किया है। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति विशेष की स्थिति भी बदलती है। सामाजिक व्यवहार में अलग-अलग स्तर पर अलग-अलग रूप धारण करने के कारण जाति व्यवस्था में लोच और परिवर्तनशीलता आ जाती है। इसके लिए चार मार्ग अपनाए जाते हैं। प्रथम, संस्कृतिकरण का तरीका है। संस्कृतिकरण में छोटी जातियाँ सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों की नकल करने लगती हैं। इसे ब्राह्मणीकरण भी कहा जाता है। द्वितीय, लौकिकीकरण या अब्राह्मणीकरण का तरीका है। आर्थिक उन्नति, राजनीतिक एकता और बुद्धिवाद की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के प्रभाव से अक्सर अब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति छोड़ देती हैं और अन्य अब्राह्मण जातियों से मिलकर राजनीतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं। तृतीय, महापुरुषों से संबंध जोड़ने का तरीका है। कभी-कभी कतिपय जातियाँ अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना संबंध पौराणिक पुरुषों से जोड़ने का प्रयत्न करती हैं। जैसे गुजरात के पाटीदार, बंगाल के महाष्यि और राजस्थान के जाट आदि। चतुर्थ, आधुनिक राजनीति में भी भागीदारी का तरीका है। कुछ जातियाँ सीधे ही आधुनिक राजनीति में भाग लेने लगीं और इस प्रकार उन्होंने समाज में भी उच्च स्थिति प्राप्त की। आंध्र प्रदेश और बिहार इसके उदाहरण हैं।

प्रो. रजनी कोठारी ने जाति के राजनीतिकरण की चर्चा करते हुए कहा है कि 'इससे पुराना समाज नयी राजनीतिक व्यवस्था के करीब आया है।' इस प्रक्रिया को उन्होंने तीन चरणों में बांटा है–

(i) **शक्ति और प्रभाव की प्रतिस्पर्द्धा–ऊँची जातियों तक सीमित रही**–भारत का पुराना समाज जब नयी व्यवस्था के संपर्क में आने लगा तो सबसे पहले शक्ति और प्रभाव की स्पर्द्धा समाज की प्रतिष्ठित और जमी हुई जातियों तक सीमित रही। जिन जातियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त करके आधुनिक बनने का प्रयत्न किया, वे प्रतिष्ठित जातियों के समक्ष आने लगीं। इन जातियों ने अधिकार और पद प्राप्त करने के लिए अपना राजनीतिक संगठन बनाया जिससे ऊँची जातियों में प्रतिस्पर्द्धा और प्रतिद्वन्द्विता बढ़ने लगी। तमिलनाडु और महाराष्ट्र में ब्राह्मण-अब्राह्मण; राजस्थान में राजपूत-जाट; गुजरात में बनिया-ब्राह्मण-पाटीदार; आंध्र प्रदेश में कम्मा-रेड्डी और केरल में इजवा-नायर द्वंद्व इसके उदाहरण हैं।

(ii) **जाति के अंदर की प्रतिस्पर्द्धी गुटबन्दी**–इस चरण में भिन्न-भिन्न जातियों की प्रतिस्पर्द्धा के साथ-साथ जाति के अंदर भी प्रतिस्पर्द्धी गुट बन जाते हैं। प्रतिद्वन्द्वी नेताओं के पीछे गुट बन जाते हैं। इन गुटों में विभिन्न जातियों के लोग होते हैं। अपना गुट मजबूत करने के लिए उन जातियों की भी सहायता ली जाती है, जो अब तक दायरे से बाहर थीं। चुनाव में समर्थन प्राप्त करने के लिए नीची जातियों के प्रमुख लोगों को छोटे राजनीतिक पद और लाभ में कुछ हिस्सा देकर प्रतिस्पर्द्धी नेता अपना गुट मजबूत करने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ इस प्रकार मुखियों को इनाम और पद देकर इन जातियों का समर्थन प्राप्त करना संभव नहीं हुआ, वहाँ विभिन्न जातियों और उपजातियों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा पैदा करके उनका संगठन बनाने की और उन संगठनों के मध्यस्थ या बिचवइयों द्वारा समझौता करने की कोशिश की गयी। इस चरण में पुराने ब्राह्मण और कायस्थ आदि प्रशासनिक जातियों के नेताओं

के बजाए व्यवसायी और कृषक जातियों के नेताओं और कार्यकर्ताओं की संख्या बढ़ी। ये नेता सौदा पटाने में कुशल थे, ज्यादा व्यावहारिक थे और अपने वर्ग और जाति के लोगों का नेतृत्व कर सकते थे।

***(iii)* जाति के बंधन ढीले पड़ना और राजनीति को व्यापकता मिलना**–रजनी कोठारी के अनुसार तीसरे चरण में एक ओर राजनीतिक मूल्यों की प्रधानता हुई और जाति-पाँति से लगाव कम हुआ, वहाँ दूसरी ओर शिक्षा, नए शिल्प और शहरीकरण के कारण समाज में परिवर्तन आया। भौतिक उन्नति की नयी धारणाओं का जोर बढ़ा। पुराने पारिवारिक बंधन टूटने लगे और लोग काम-धंधे के लिए शहरों में जाकर बसने लगे। जाति की भावना ढीली पड़ने लगी और सामाजिक व्यवहार अपनी जाति तक सीमित न रहा। राजनीति में भी व्यापकता आयी। नयी शिक्षा और नए सामाजिक व्यवहार से उत्पन्न होने वाली नयी प्रवृत्तियाँ फैलने लगीं। राजनीतिक संस्थाओं का ढाँचा व्यापक होने लगा और जाति की भावना को नया रूप मिलने लगा। राजनीतिक प्रवृत्तियों ने नई निष्ठाओं को जन्म दिया, जो पुरानी निष्ठाओं को काटती हैं। जाति अब राजनीतिक समर्थन या शक्ति का एकमात्र आधार नहीं रही, यद्यपि राजनीति में इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है।

प्रो. रजनी कोठारी का राजनीति में जाति संबंधी निष्कर्ष इस प्रकार है–

(1) आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने के कारण पहले तो जाति प्रथा पर पृथकता की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा बाद में जाति भावना का सामंजस्य हुआ और इसने राजनीतिक संगठन में सहायता दी।

(2) आधुनिक राजनीति में भाग लेने से लोगों की दृष्टि में परिवर्तन हुआ और उनकी यह समझ में आ गया कि आज के युग में केवल जाति और संप्रदाय से काम नहीं चल सकता।

(3) जहाँ जाति बड़ी होती है, वहाँ भी उसमें एकता नहीं रहती, उसमें उप-जातियों के भेद होते हैं और छोटी जातियाँ तो अपने बल पर चुनाव भी नहीं जीत सकती हैं। यदि कोई प्रत्याशी अपनी ही जाति का पक्ष लेता है तो दूसरी जातियाँ उसके खिलाफ हो जाती हैं इसलिए चुनाव की राजनीति में अनेक जातियों का गुट बनाना पड़ता है।

(4) राजनीति में आने के कारण जाति की भावना ढीली पड़ जाती है और अनेक नई निष्ठाओं का उदय होता है।

(5) आजकल राजनीति में जातिवाद और संप्रदायवाद का जोर बढ़ने की शिकायत की जाती है। ऐसा समझा जाता है कि शिक्षा प्रसार, शहरों के विस्तार व औद्योगीकरण के कारण संप्रदाय और जाति के बंधन ढीले पड़ रहे थे, वे चुनाव की राजनीति के कारण फिर से जोर पकड़ रहे हैं और इससे देश में फूट बढ़ेगी जिससे धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र का ढांचा खतरे में पड़ जाएगा, किंतु प्रो. कोठारी का मानना है कि वास्तव में जाति और राजनीति के मिश्रण से दूसरे ही परिणाम निकलते हैं। बजाए राजनीति पर जाति के हावी होने के, जाति का राजनीतिकरण हो जाता है। (It is not Politics that gets caste ridden, it is caste that gets Politicization)। राजनीति ने जाति को लीक से हटाकर नया संदर्भ दे दिया, जिससे उसका पुराना रूप बदल रहा है।

(6) आधुनिकतावादी नेता जाति-पाँति पर भले ही नाक-भौं सिकोड़ें, परंतु इसके द्वारा राजनीतिक शक्ति उन वर्गों या समूहों के हाथ में पहुँच सकी, जो अब तक उससे वंचित थे।

(7) जाति के आधार पर संघ और संगठन बनते हैं जैसे कायस्थ सभा, क्षत्रिय संघ, आदि। सब मिलाकर जातीय संगठनों ने भारत की राजनीति में वही भाग लिया है जो पश्चिमी देशों में विभिन्न हितों व वर्गों के संगठनों ने।

(8) जातियों और संप्रदायों के राजनीति में भाग लेने के फलस्वरूप सामूहिक या राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ है और उनकी पृथकता कम होकर उनका राजनीतिक एकीककरण हुआ है।

जाति और राजनीति में अंत:क्रिया: सैद्धान्तिक आधार
(Inter-actions Between Caste and Politics: Theoretical Framework)

भारत में जाति और राजनीति में किस प्रकार का संबंध है? इस संबंध में चार प्रकार से विचार प्रस्तुत किए जा रहे हैं–

सर्वप्रथम, यह कहा जाता है कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था का संकलन जाति की संरचना के आधार पर हुआ है और राजनीति केवल सामाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति मात्र है। सामाजिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करता है।

द्वितीय, राजनीति के प्रभाव के फलस्वरूप जाति नया रूप धारण कर रही है। लोकतांत्रिक राजनीति के अंतर्गत राजनीति की प्रक्रिया प्रचलित जातीय संरचनाओं को इस प्रकार प्रयोग में लाती है जिससे संबद्ध पक्ष अपने लिए समर्थन जुटा सकें तथा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सकें। जिस समाज में जाति को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संगठन माना जाता है उसमें यह अत्यंत स्वाभाविक है कि राजनीति इस संगठन के माध्यम से अपने आपको संगठित करने का प्रयास करे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है।

तृतीय, भारत में राजनीति 'जाति' के इर्द-गिर्द घूमती है। जाति प्रमुखतम राजनीतिक दल है। यदि मनुष्य राजनीति की दुनिया में ऊँचा उठना चाहता है तो उसे अपने साथ अपनी जाति को लेकर चलना होगा। भारत में राजनीतिज्ञ जातीय समुदायों को इसलिए संगठित करते हैं ताकि उनके समर्थन में उन्हें सत्ता तक पहुँचने में सहायता मिल सके।

चतुर्थ, जातियाँ संगठित होकर प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग लेती हैं और इस प्रकार जातिगत भारतीय समाज में जातियाँ ही 'राजनीतिक शक्ति' बन गयी हैं।

4.5 जाति के राजनीतिकरण की विशेषताएँ (Characteristics of Caste Politicization)

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका की उभरती विशेषताएँ निम्नवत् हैं–

प्रथम, जाति व्यक्ति को बांधने वाली कड़ी है। जातीय संघों और जातीय पंचायतों ने जातिगत राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं को बढ़ाया है। जाति-पांति को समाप्त करने वाले आंदोलन अंततोगत्वा नयी जातियों के रूप में मुखरित हुए जैसे लिंगायत, कबीरपन्थी और सिख आंदोलन स्वयं नयी जातियाँ बन गए।

द्वितीय, शिक्षा, शहरीकरण, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण से जातियाँ समाप्त नहीं हुई अपितु उनमें एकीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला और उनकी राजनीतिक भूमिका में वृद्धि हुई।

तृतीय, राजनीति में प्रधान जाति (Dominant caste) की भूमिका का विश्लेषण किया जा सकता है। प्रधान जाति न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही शक्तिशाली होती है, बल्कि संख्या में भी गाँव या इलाके में ज्यादा होती है। प्रधान जाति अपने संख्या बल के आधार पर गाँव और क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं जैसे पंचायतों की राजनीति में सक्रिय होती है। यदि किसी राज्य विशेष में किसी जाति की प्रधानता होती है तो राज्य राजनीति में जाति एक प्रभावक तत्व बन जाती है। हरियाणा की राजनीति के बारे में डॉ. सुभाष कश्यप ने लिखा है–"हरियाणा में जाति और वर्ग की भावना को अपेक्षाकृत अधिक बल मिला है तथा हरियाणा के जनजीवन में सदा ही 'जाति' राजनीतिक दल की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण रही है।....गुड़गाँव और महेन्द्रगढ़ क्षेत्रों का अहीर, अहीर उम्मीदवार को ही मत देना चाहेगा अन्य किसी को नहीं.... यही बात राज्य के अन्य भागों के अन्य जाति के समूहों के बारे में लागू होती है। चुनावों के समय यहाँ अक्सर एक पुरजोर नारा सुनायी पड़ता है–'जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को।' आश्चर्य की बात यह है कि जाति की यह छूत हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं, मुसलमान भी उनकी गिरफ्त से नहीं बच सके।"

चतुर्थ, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही जातिगत समुदायों का झुकाव राजनीति की ओर हो गया था जबकि ब्रिटिश शासन ने भारत में एक मजबूत प्रशासनिक व्यवस्था की नींव डाली थी। सबसे पहले इसका ध्यान जनगणना कार्यालय की ओर गया जहाँ जातीय समुदायों ने सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्ति के ध्येय से अपने संगठन का नामकरण कराना आवश्यक समझा। बाद में अपनी जाति के लोगों के हितों को संरक्षण के लिए जातीय संघों ने प्रस्ताव पारित किए और शासन को अपनी माँगों के लिए प्रभावित करना प्रारंभ किया। यहाँ तक कि कुछ जातियों ने शैक्षणिक सुविधा, शिक्षण संस्थाओं में जातिगत आरक्षण और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की माँग की। तमिलनाडु की वेनियर (Venniyars) जाति के नेता पदायची (Padayachi) ने सी. राजगोपालाचारी के मंत्रिमंडल में

शामिल होने से इंकार कर दिया क्योंकि उन्होंने उनकी जातीय माँगों को मानने से इंकार कर दिया था। बाद में वे कामराज मंत्रिमण्डल में शामिल हो गए क्योंकि उन्होंने वेनियरों की माँगें स्वीकार कर ली थीं।

पंचम, निर्वाचनों के दिनों में जातिगत समुदाय प्रस्ताव पारित करके राजनीतिक नेताओं और दलों को अपने जातिगत समर्थन की घोषणा करके अपने हितों को मुखरित करते हैं।

षष्ठम, जाति की भूमिका राष्ट्रीय स्तर की राजनीति पर उतनी नहीं है जितनी स्थानीय और राज्य राजनीति पर है।

सप्तम, जाति और राजनीति से संबंध स्थैतिक न होकर गतिशील हैं।

4.6 भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका (Role of Caste in Indian Politics)

जयप्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि 'जाति भारत में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दल है।' हेरल्ड गोल्ड के शब्दों में, 'राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्व है।'

जाति-व्यवस्था भारतीय समाज का परम्परागत पक्ष है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् संविधान और राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण से आधुनिक प्रभावों ने भारतीय समाज में धीरे-धीरे प्रवेश करना आरंभ कर दिया। आधुनिक प्रभावों के फलस्वरूप वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन प्रारंभ हुए और जातिगत संस्थाएँ यकायक महत्त्वपूर्ण बन गयीं क्योंकि उनके पास भारी संख्या में मत थे और लोकतंत्र में सत्ता प्राप्ति हेतु इन मतों का मूल्य था। जिन्हें सत्ता की आकांक्षा थी उन्हें सामान्य जनता के पास पहुँचने के लिए संपर्क सूत्र की भी आवश्यकता थी। सामान्य जनता को अपने पक्ष में मिलाने के लिए यह भी जरूरी था कि उनसे उस भाषा में बात की जाए जो उनकी समझ में आ सके। जाति-व्यवस्था इस बात को प्रकट करती थी। इस पृष्ठभूमि में जाति की भूमिका राजनीति में अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होती गयी। भारतीय राजनीति में 'जाति' की भूमिका का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है–

(1) निर्णय प्रक्रिया में जाति की प्रभावक भूमिका (Influential Role of Caste in Decision-making Process)–भारत में जातियाँ संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ, संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण के प्रावधान रखे गए हैं जिनके कारण ये जातियाँ संगठित होकर सरकार पर दबाव डालती हैं कि इन सुविधाओं को और अधिक वर्षों के लिए अर्थात् जनवरी 2010 तक के लिए बढ़ा दिया जाए। अन्य जातियाँ चाहती हैं कि आरक्षण समाप्त किया जाए अथवा इसका आधार सामाजिक-आर्थिक स्थिति हो अथवा उन्हें आरक्षित सूची में शामिल किया जाए ताकि वे इसके लाभ से वंचित न रह जाएँ।

(2) राजनीतिक दलों में जातिगत आधार पर निर्णय (Caste-oriented decisions at the level of Political Parties)–भारत में सभी राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते हैं। प्रत्येक दल किसी भी चुनाव में प्रत्याशी मनोनीत करते समय जातिगत गणित का अवश्य विश्लेषण करते हैं। 1962 में गुजरात के चुनाव में स्वतंत्र पार्टी की सफलता का राज उसका क्षत्रिय जाति के समर्थन में छिपा हुआ था। हरिजन-मुसलमान-ब्राह्मण शक्तिपुंज बनाकर ही 1971 का आम चुनाव कांग्रेस ने जीता था। 1977 में जनता पार्टी की विजय का कारण उसे मुसलमानों और हरिजनों के साथ उच्च जातियों का समर्थन प्राप्त था। जनवरी 1980 के सप्तम लोकसभा चुनावों में कांग्रेस (इंदिरा) की विजय का कारण था कि श्रीमती गाँधी हरिजनों, ब्राह्मणों और मुसलमानों का जातीय समर्थन जुटाने में सफल हो गयीं। नवंबर 1989 के लोकसभा चुनावों में उत्तर प्रदेश और बिहार में जनता दल की अपूर्व विजय का एक कारण जाट-राजपूत समर्थन था। उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी का उदय आधार कतिपय दलित जातियों के समर्थन पर निर्भर है। कांग्रेस सहित सभी राजनीतिक दलों में जातीय आधार पर अनेक गुट पाए जाते हैं जिनमें प्रतिस्पर्द्धा की भावना विद्यमान रहती है।

"लोगों की जाति-पाँति के प्रति निष्ठा को राजनीतिज्ञों ने थोक वोट के रूप में देखा; सत्ता में आने के लिए सदनों में बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से राजनीतिज्ञों ने जाति-पाँति के आधार पर उम्मीदवारों के चयन और सत्ता में आने पर उन्हें मंत्रिपद एवं अन्य लाभ के पद उपलब्ध कराए।"

(3) जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार (Caste-oriented Voting Behaviour)–भारत में चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रूप में अपनाया जाता है और प्रत्याशी जिस निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव लड़ रहा

है उस निर्वाचन क्षेत्र में जातिवाद की भावना को प्रायः उकसाया जाता है ताकि संबंधित प्रत्याशी की जाति के मतदाताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जा सके। जनवरी 1980 के चुनावों में उत्तर प्रदेश और कुछ बिहार के हिस्सों में लोकदल की सफलता पिछड़ी जातियों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं का प्रतीक है। उत्तर प्रदेश के चुनावों में चरणसिंह की सफलता सदैव ही जाट जाति के मतों की एकजुटता पर निर्भर रही है। केरल के चुनावों में साम्यवादी और मार्क्सवादी दलों ने भी वोट जुटाने के लिए सदैव जाति का सहारा लिया है।

"मंडल विवाद के कारण 1990-91 में समाज जाति के आधार पर दो भागों में बंट गया और गाँवों एवं शहरों में जातियुद्ध-सा छिड़ गया। राजनीतिक पार्टियाँ सिर्फ एक चुनावी मुद्दे पर बात करने लगीं–पिछड़े बनाम अगड़े का।"

भाजपा के अयोध्या आंदोलन की प्रतिक्रिया में देश के दो बड़े राज्यों–उत्तर प्रदेश और बिहार में–जहाँ लोकसभा की 120 सीटें हैं, एक अनूठे सामाजिक, राजनीतिक गठजोड़ का जन्म हुआ जिसके जनक क्रमशः मुलायमसिंह यादव और लालू प्रसाद यादव थे। मुसलमानों और यादवों को मिलाकर बने इस 'माइ' गठजोड़ से दोनों राज्यों के मतदाताओं का एक बड़ा हिस्सा एकजुट हो गया।

जिस प्रकार जापान में मतदान समूह-निर्धारित (group determinant) है, ब्रिटेन में यह वर्ग-निर्धारित है, अमेरिका में यह प्रजाति-निर्धारित है, उसी प्रकार भारत में जाति-निर्धारित है। जो जातियाँ जातीय-संस्तरण में सबसे नीचे हैं, उनके लिए मतदान की प्रक्रिया कई प्रकार से एक शक्तिशाली क्रिया हो सकती है। जाति का सामाजिक व आर्थिक स्तर जितना निम्न होगा उतना ही उनके मत का अधिक महत्त्व होगा। कोहन, मेयर, कोठारी, वर्मा और भांभरी, रामाश्रय राय, आदि अनेक विद्वानों के भारत में गहन अध्ययनों से पता चलता है कि जातियाँ अपनी मत शक्ति के कारण प्रभाव डालने में सक्षम भूमिका निभाती रही हैं और शक्ति सौदेबाजी में लाभ प्राप्त करती रही हैं। ये जातियाँ राजनैतिक संस्थाओं में उच्च जातियों के नेतृत्व को चुनौती देती रही हैं, यद्यपि उन्हें सदैव सफलता प्राप्त नहीं होती है। रजनी कोठारी की भी मान्यता है कि जातियाँ अपनी पहचान बनाए रखती हैं और सत्ता के लिए संघर्ष करती हैं। आंद्रे बेतेई न कहा है कि मतदान में जाति निष्ठाओं (Loyalties) का शोषण किया जाता है। जातियों को तोड़कर नवीन गठबंधन भी स्थापित होते हैं। रूडोल्फ (Rudolph) का मत है कि जाति संघों ने जाति को नवीन स्फूर्ति प्रदान की है और भारत में जनतंत्र ने जातियों को महत्त्वपूर्ण राजनैतिक भूमिका निभाने के योग्य बनाया है। जाति संगम (federations) एक जाति से ही नहीं बल्कि अनेक जातियों से मिलकर बनते हैं। कभी-कभी उनके राजनैतिक उद्देश्य एक समान होते हैं; उदाहरणार्थ, हरियाणा में गूजरों, जाटों और राजपूतों ने 1989 के चुनावों में इसी प्रकार के जाति संगम बना लिए थे।

डी.एल. सेठ (Economic and Political Weekly, January 1970) ने 1967 में भारत के विविध चुनाव क्षेत्रों के 2287 व्यक्तियों का अध्ययन यह पता लगाने के लिए किया कि मतदान को प्रभावित करने वाले कौन-कौन से कारक हैं। उन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि केवल 1.0% मामलों में ही मतदान जाति के नेताओं की सलाह से प्रभावित हुआ, 26% मामलों में परिवार के वृद्ध जनों की सलाह को महत्त्व दिया गया, 20% मामलों में पारिवारिक विचार-विमर्श को, और 49% मामलों में मतदाता के स्वयं के निर्णय को महत्त्व प्रदान किया गया था। 4% मामलों में निर्धारक कारक का निश्चित ज्ञान न हो सका। इसके विपरीत उसी वर्ष पूना में 1000 व्यक्तियों के इसी प्रकार के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि जाति ने 58% मतदान प्रभावित किया, 42% मामलों में धन ने, 36% मामलों में पार्टी संगठन ने, 21% में पार्टी विचारधारा (ideology) ने तथा 21 मामलों में प्रत्याशी की पृष्ठभूमि ने प्रभावित किया। रामाश्रय राय ने 1969 में चार राज्यों–बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब व पश्चिम बंगाल में हुए मध्यावधि चुनावों का एक अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि 14% मामलों में समूह के दबाव (जाति और परिवार) ने मतदान को प्रभावित किया, जबकि 23% मामलों में प्रत्याशी की ख्याति ने, 38% मामलों में पार्टी निष्ठा ने, और 9% मामलों में विविध कारकों, ने 15% मामलों में सही कारक का पता न लग सका। चुनाव के लिए प्रत्याशी के चुनने में राजनैतिक दल अक्सर चुनाव क्षेत्र की जाति-संरचना पर अधिक ध्यान देते हैं। इस तथ्य ने अनेक निम्नस्तरीय जातियों को उनकी संख्यात्मक शक्ति के आधार पर राजनैतिक दृष्टि से प्रभावशाली बना दिया है। 1960 व 1970 के दशकों में भारत में संपन्न हुए चुनाव पर हुए अध्ययन से ज्ञात होता है कि–(*i*) मध्य व निम्न जाति के लोग कांग्रेस की ओर झुके हुए थे, (*ii*) उच्च जाति के लोग विरोधी दलों को वोट देने के पक्ष में थे और (*iii*) अनुसूचित जाति के लोग कांग्रेस के पक्ष में थे। किंतु 1980 दशक के अंत में और 1990 दशक के आरंभ के चुनावों में उपरोक्त सिद्धांत निरर्थक सिद्ध हुए। कोठारी ने हाल में लिखा है कि राष्ट्रीय राजनीति में जाति का महत्त्व कम होता जा रहा है। हैरोल्ड गूल्ड

(Economic and Political Weekly, August, 1977) भी इसी विचार के हैं कि भारत में अब राजनीतिक निर्धारक के रूप में जाति का महत्त्व कम हो रहा है। परंतु कुछ विद्वानों की मान्यता है कि दिसम्बर 1994 में दस राज्यों में होने वाले चुनावों में दो-तीन राज्यों में जाति का वोटों पर प्रभाव अवश्य दिखाई देता है। आज जो वास्तविक कारक मतदाता को प्रभावित करते हैं उनमें से कुछ अचेतन व कुछ सचेत शक्तियाँ हैं, जिनमें से कुछ को सरलता से पहचाना जा सकता है, जबकि दूसरी भ्रामक हैं, यद्यपि वे भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण निर्धारक हो सकते हैं।

4. मंत्रिमंडलों के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व (Caste representation in the Ministry Making)—राजनीतिक जीवन में जातीयता का सिद्धांत इतना गहरा धंस गया है कि राज्यों के मंत्रिमंडल में प्रत्येक जाति का मंत्री होना चाहिए। यह सिद्धांत प्रांतों की राजधानियों से ग्राम पंचायतों तक स्वीकृत हो गया कि प्रत्येक स्तर पर प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए। यहाँ तक कि केंद्रीय मंत्रिमंडल में भी हरिजनों, जनजातियों, सिखों, मुसलमानों, ब्राह्मणों, जाटों, राजपूतों और कायस्थों को किसी-न-किसी रूप में स्थान अवश्य दिया जाता है। पिछले वर्षों में अजीतसिंह को केंद्रीय मंत्रिमंडल में जातीय पृष्ठभूमि और उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में जातीय समीकरण को पुख्ता करने की मंशा से ही शामिल किया गया है।

5. जातिगत दबाव समूह (Caste as Pressure Groups)—मेयर के अनुसार, "जातीय संगठन राजनीतिक महत्त्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत्त हैं।" जातिगत दबाव समूह अपने न्यस्त स्वार्थों एवं हितों की पूर्ति के लिए नीति-निर्माताओं को जिस ढंग से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं उससे तो उनकी तुलना यूरोप और अमेरिका में पाए जाने वाले ऐच्छिक समुदायों से की जा सकती है।

अनेक जातीय संगठन और समुदाय जैसे तमिलनाडु में नाडार जाति संघ, गुजरात में क्षत्रिय महासंघ, बिहार में कायस्थ सभा, आदि राजनीतिक मामलों में रुचि लेने लगते हैं और अपने-अपने संगठित बल के आधार पर राजनीतिक सौदेबाजी भी करते हैं। यद्यपि देश की सभी प्रमुख जातियों को इस प्रकार पूर्णतया संगठित नहीं किया जा सका है। मगर जो जातियाँ इस प्रकार संगठित नहीं हो सकीं, वे राजनीतिक सौदेबाजी में सफल नहीं रहीं और उनके सदस्यों को अपनी आवाज उठाने के लिए उपद्रव और तोड़-फोड़ का सहारा लेना पड़ा।

6. जाति एवं प्रशासन (Caste and Administration)—लोकसभा और विधानसभाओं के लिए जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है, केंद्र एवं राज्यों की सरकारी नौकरियों एवं पदोन्नति के लिए जातिगत आरक्षण का प्रावधान है। मेडिकल एवं इन्जीनियरिंग कॉलेजों में विद्यार्थियों की भर्ती हेतु आरक्षण के प्रावधान मौजूद हैं। चरणसिंह सरकार ने तो अल्पकाल में एक अध्यादेश के माध्यम से पिछड़ी जातियों के लिए केंद्रीय सरकार की सेवा में आरक्षण व्यवस्था घोषित करने की मंशा प्रकट की थी और इस संबंध में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को भी ताक में रख दिया था। यदि यह अध्यादेश लागू हो जाता तो मध्यम जातियों; जैसे अहीर, कुर्मी आदि को भी आरक्षण के अवसर मिल जाते। राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने अगस्त 1990 में मंडल रिपोर्ट लागू कर नौकरियों में पिछड़ी जातियों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया। ऐसा भी माना जाता है कि भारत में स्थानीय स्तर के प्रशासनिक अधिकारी निर्णय लेते समय अथवा निर्णयों के क्रियान्वयन में प्रधान और प्रतिष्ठित अथवा संगठित जातियों के नेताओं से प्रभावित हो जाते हैं।

7. राज्य राजनीति में जाति (Caste in State Politics)—माईकेल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य स्तर की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। यद्यपि किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावों से अछूती नहीं रही है तथापि बिहार, केरल, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, हरियाणा, राजस्थान और महाराष्ट्र राज्यों की राजनीति का अध्ययन तो बिना जातिगत गणित के विश्लेषण के कर ही नहीं सकते। बिहार की राजनीति में राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजाति प्रमुख प्रतिस्पर्द्धी जातियाँ हैं। पृथक् झारखण्ड राज्य की माँग वस्तुतः एक जातीय माँग ही रही। केरल में साम्यवादियों की सफलता का राज यही है कि उन्होंने 'इजावाहा' जाति को अपने पीछे संगठित कर लिया। आंध्र प्रदेश की राजनीति काम्मा और रेड्डी जातियों के संघर्ष की कहानी है। काम्माओं ने साम्यवादी दल का समर्थन किया तो रेड्डी जाति ने कांग्रेस दल का। महाराष्ट्र की राजनीति में मराठों, ब्राह्मणों और महारों में प्रतिस्पर्द्धा रही है। गुजरात की राजनीति में दो ही जातियाँ प्रभावी हैं— पाटीदार और क्षत्रिय। केरल की राजनीति अपने तीन समुदायों के इर्द-गिर्द घूमती रही है—हिन्दू, क्रिश्चियन और मुसलमान। केरल की राजनीति में अंतिम दो प्रमुख राजनीतिक शक्तियों के रूप में सक्रिय हैं। कहने को तो वहाँ सभी प्रकार के राजनीतिक दल हैं, किंतु उन्हें ध्यानपूर्वक देखा जाए तो पता चलेगा कि वे सब जातीय संगठन हैं। मुस्लिम लीग मुसलमानों की है, दोनों केरल कांग्रेस के अधिसंख्य सदस्य ईसाई हैं। रा.प्रा.मी. नायर लोगों की संस्था है। कांग्रेस (ई) और दोनों

साम्यवादी दलों में इजावाहा जाति के अलावा हिन्दुओं के कुछ प्रमुख वर्गों का प्रभाव देखा जा सकता है। राजस्थान की राजनीति में जाट-राजपूत जातियों की प्रतिस्पर्द्धा प्रमुख रही है। संक्षेप में, राज्यों की राजनीति में 'जाति' का प्रभाव इतना अधिक प्रतीत हो रहा कि टिंकर जैसे विद्वानों ने 'राज्यों की राजनीति' को 'जातियों की राजनीति' की संज्ञा दे डाली है।

देश के सर्वाधिक आबादी वाले राज्यों उत्तर प्रदेश और बिहार में जाति की राजनीति ज्यादा ही खुलकर सामने आती रही। उत्तर प्रदेश में चरणसिंह और बिहार में कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में जात-पांत को खुलकर बढ़ावा मिला। देवीलाल ने भी हरियाणा में जाति की बैसाखियों पर ही सत्ता के शिखर, छूने का प्रयास किया। बिहार में लालूप्रसाद यादव के नेतृत्व में जाति की राजनीति की जड़ मजबूत हुई, तो उत्तर प्रदेश में मुलायमसिंह यादव व कांशीराम की प्रतिनिधि मायावती ने अपने-अपने जातीय वोट बैंकों के आधार पर राज्य को जातीय संघर्षों की ओर धकेल दिया।

भारत में राज्य राजनीति के कतिपय अध्ययनकर्ताओं के अनुसार विभिन्न राज्यों में जाति के चार विभिन्न स्वरूप विकसित हुए हैं–

1. जातिवाद का पहला स्वरूप दक्षिणी भारत और विशेषकर तमिलनाडु में मिलता है जहाँ ब्राह्मणों और अनेक निम्न जातियों के बीच गंभीर संघर्ष रहा है। तमिलनाडु में आरंभ से ही राजनीति पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व रहा और इसके विरुद्ध काफी दिनों से आंदोलन चलता रहा जिसके परिणामस्वरूप रामास्वामी नायकर द्वारा द्रविड़ कड़गम नामक संगठन की स्थापना की गयी जो बाद में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल के रूप में विकसित हुआ। तमिलनाडु में यह आंदोलन ब्राह्मणों को उच्च स्थानों से हटाने के लिए था। सन् 1914 से यह ब्राह्मण विरोधी आंदोलन शुरू हुआ और 1916 में एक पृथक् राजनीतिक दल 'जस्टिस पार्टी' के नाम से स्थापित हुआ जिसका उद्देश्य गैर-ब्राह्मण जातियों के हितों को विकसित तथा सुरक्षित करना था। इस संगठन का उद्देश्य सरकार का समर्थन प्राप्त करके प्रशासन और स्थानीय निकायों यहाँ तक कि शिक्षा संस्थाओं में गैर-ब्राह्मण जातियों के लिए स्थान सुरक्षित करना था। 1922 में सरकार द्वारा लोक सेवाओं में निर्धारित किए गए कोटे गैर-ब्राह्मण जातियों के लिए लगभग 42% और ब्राह्मण जाति के लिए 16% स्थान निर्धारित किए गए। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि ब्रिटिश काल में ही गैर-ब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मण विरोधी आंदोलन में बड़ी हद तक सफल हुईं। 1949 में यह आंदोलन सी.एन. अन्नादुराई के नेतृत्व में डी.एम.के. के अधीन शुरू हुआ। ब्राह्मण विरोधी भावना के राजनीतिक महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए अन्य राजनीतिक दल भी जाति युद्ध में संलग्न रहे हैं। यहाँ तक कि कांग्रेस पार्टी के द्वारा राजगोपालाचारी (जो एक ब्राह्मण थे) के राजनीतिक प्रभाव को कम करने के लिए कामराज नाडार को राजनीति में ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया। संक्षेप में, स्वतंत्रता से पहले और स्वतंत्रता के बाद तमिलनाडु में ब्राह्मण और निम्न जातियों के बीच घोर टकराव रहा और इस संघर्ष में ब्राह्मणों को पराजित होना पड़ा।

2. जातिवाद का दूसरा रूप महाराष्ट्र में देखने को मिलता है। महाराष्ट्र की राजनीति तमिलनाडु से कुछ भिन्न रही है, यद्यपि यहाँ मराठा और ब्राह्मणों के बीच संघर्ष रहा और इस संघर्ष में मराठा जाति ने ब्राह्मणों के शताब्दियों से चले आने वाले प्रभुत्व का अंत किया। बीसवीं शताब्दी की दूसरी चौथाई में राजनीतिक दलों में भी ब्राह्मणों का आधिपत्य था; उदाहरण के लिए तिलक, गोखले, गोलवालकर, एस.एन. डांगे आदि ब्राह्मण थे। स्वतंत्रता के बाद मराठा जाति ने ब्राह्मणों को पराजित कर दिया और यह आंदोलन 1960 में अपनी पूर्णता को पहुँच गया जब महाराष्ट्र नामक एक पृथक् राज्य की स्थापना की गयी और मराठा जाति को राजनीति में पूर्ण प्रधानता प्राप्त हुई। इस नए महाराष्ट्र राज्य में मराठा जाति की संख्या 45% थी। ए.जे. दस्तूर के शब्दों में, "जिस दिन महाराष्ट्र का निर्माण हुआ उस दिन से इस राज्य के राजनीतिक विशिष्ट वर्ग और राजनीतिक नेतृत्व में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और मौलिक परिवर्तन हुए।.... सत्ता प्रभाव और शक्ति ब्राह्मणों के हाथों से निकलकर मराठों के हाथों में पहुँच गयी।"

3. गुजरात, आंध्र और कर्नाटक जातिवाद का तीसरा प्रतिनिधि रूप प्रस्तुत करते हैं। इन तीनों ही राज्यों में तीन मध्यमवर्गीय जातियाँ राजनीतिक संघर्ष में रत दिखायी देती हैं। आंध्र प्रदेश में यह टकराव काम्मा और रेड्डी जातियों के बीच पाया जाता है। 1934 में आंध्र प्रदेश में साम्यवादी दल की स्थापना के बाद से इस दल का नेतृत्व काम्मा जाति के हाथों में रहा जबकि कांग्रेस पार्टी में रेड्डी जाति का प्रभुत्व रहा। कर्नाटक में यह विरोध लिंगायत तथा ओकालिंगा जातियों के बीच पाया जाता है। गुजरात में पाटीदार और क्षत्रिय जातियों के बीच प्रतिस्पर्द्धा पायी जाती है। इन तीनों राज्यों (आंध्र प्रदेश, कर्नाटक और गुजरात) में यह विशेषताएँ दिखायी देती हैं कि इन राज्यों में राजनीतिक क्षेत्र में केवल दो जातियों का प्रभुत्व है जो अपनी प्रथाओं, सामाजिक स्थिति और सामाजिक-आर्थिक

साधनों की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं। दूसरे शब्दों में, तमिलनाडु और महाराष्ट्र में जहाँ असमान जातियों के बीच टकराव पाया जाता है, वहाँ इन राज्यों में, यह प्रतिस्पर्द्धा लगभग दो समान जातियों के बीच पायी जाती है।

4. बिहार की स्थिति उपरोक्त राज्यों से भिन्न है। यहाँ उच्च जातियों–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और कायस्थ अब भी सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों के धारक हैं और उनके बीच राजनीतिक प्रतियोगिता पायी जाती है। निम्न जातियाँ अब भी पिछड़ी स्थिति में हैं। राजस्थान और मध्य प्रदेश में भी राजनीति पर उच्च जातियों का एकाधिकार है और पिछड़ी जातियाँ उभरने का प्रयत्न कर रही हैं। अत: इन राज्यों में राजनीतिक प्रतियोगिता उच्च जाति के बीच है और कोई भी एक जाति अपने प्रभुत्व को स्थापित करने की स्थिति में नहीं है।

5. जाति के आधार पर अभिजनों का उदय (Emergence of Elite on Caste Basis)– व्यक्तित्व संबंधी विशेषताएँ, राजनीतिक पार्टियों के सदस्यों का समर्थन, सामाजिक परिस्थिति और वे सामाजिक समस्याएँ जिनके निवारण के लिए नेतृत्व का उदय होता है आदि कारकों के साथ जाति भी हमारे समाज में 'राजनैतिक अभिजन' प्रस्थिति के निर्णय में महत्त्वपूर्ण होती है। सिरसीकर, सच्चिदानंद, आहूजा, लाल, आदि जैसे विद्वानों के द्वारा भारत में राजनैतिक अभिजनों पर कुछ अध्ययन किए गए हैं, जिनमें सभी ने यह दर्शाया है कि अभिजनों के उदय में उच्च जातियों के साथ मध्यम जातियों की अपेक्षा अधिक व असाधारण लाभ मिला है। स्वतंत्रता से पूर्व कांग्रेस पार्टी, जो स्वतंत्रता के संघर्ष में व्यस्त थी, में उच्च जातियों को राजनीति में केंद्रीय महत्त्व प्राप्त था। परंतु 1947 की स्वतंत्रता ने मध्यम तथा निम्न जातियों के व्यक्तियों को राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने की अपार संभावनाएँ प्रदान कीं। निम्न जातियों के व्यक्ति नेताओं के रूप में उभरे, विशेष रूप से आरक्षण नीति के कारण, जबकि मध्यम जातियों से अभिजनों का उदय उनके शैक्षिक व सामाजिक आर्थिक स्थिति में सुधार के कारण तथा 1950 के बाद से राजनीति में प्रतिस्पर्द्धा के उदय के कारण हुआ। इस प्रकार जाति प्रथा, जिसके केवल सांस्कारिक (ritualistic) एवं परंपरागत कार्य थे, (व्यवसाय व सामाजिक स्थिति निश्चित करने सहित), उसने शहरों, कस्बों और गाँवों में लोगों के राजनैतिक व्यवहार को नियमित करने की नवीन भूमिका को भी धारण कर लिया। इसका यह अर्थ नहीं है कि जाति के परंपरात्मक कार्य बिल्कुल समाप्त हो गए हैं या सांस्कारिक लक्षण समाप्त हो गए हैं या सांस्कारिक लक्षण समाप्त होने के कारण जातियों का धीरे-धीरे विनाश हो रहा है। ब्राह्मण, बनिए या कायस्थ भले ही परंपरागत कार्य न करते हों और उन्होंने नए व्यवसाय, पश्चिमी जीवन शैली, आधुनिक मूल्य और विश्वास अपना लिया हो, लेकिन जहाँ तक उनके व्यक्तिगत और राजनैतिक जीवन का संबंध है, वे भी ब्राह्मण, बनिए और कायस्थ बने हुए हैं। सिरसीकर के अनुसार, जाति की धर्मनिरपेक्षता का अर्थ है परंपरागत तत्वों का आधुनिक जनतांत्रिक राजनीति के साथ बाधा रहित व स्पष्ट समायोजन।

ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक लाभों का वितरण पंचायती राज में शक्ति संरचना पर निर्भर होता है और गाँवों में उभरती हुई सत्ता संरचना में जाति एक महत्त्वपूर्ण इकाई बन गई है। शहरों में यदि औद्योगिक साम्राज्य किसी एक जाति से संबंध रखता है तो वरिष्ठ प्रबंधक या शक्ति के पद पर दूसरी जाति के व्यक्ति की नियुक्ति असाधारण व अपवादस्वरूप ही होती है। विश्वविद्यालयों, कार्यालयों, विद्यालयों तथा सचिवालयों में भी अब जैन, कायस्थ, ब्राह्मण, लिंगायत, रेड्डी, राजपूत, जाट लॉबियों (lobby), आदि की चर्चाएँ सुनने को मिलती हैं, यद्यपि किसी लॉबी वर्ग से संबद्ध संस्था या संगठन जैसे बुर्जुआ वर्ग, मध्यम वर्ग या सर्वहारा वर्ग की चर्चा कभी सुनने को नहीं मिलती। यह देखा गया है कि यदि किसी चुनाव समिति में उच्चस्थ पदाधिकारी, विशेषज्ञ तक संस्थाध्यक्ष या विभागाध्यक्ष एक ही जाति के हों, तो वे अपनी ही जाति के प्रत्याशी को चुनने का मन बना सकते हैं, और ऐसे में वे प्रत्याशी की योग्यता को महत्त्व नहीं देंगे। यदि सामाजिक व व्यावसायिक जीवन में सक्रिय कार्यकर्ता जातिवादी की तरह कार्य करने लगेंगे तो वे ही लोग राजनैतिक जीवन में अजातिवादी की तरह कार्य करने की बात कैसे सोच सकते हैं? परिणाम यह है कि यद्यपि हमारे राजनैतिक अभिजन धर्मनिरपेक्षता, जाति निन्दा, जातिवाद, तथा जातिवादी राजनीति की बात करते रहते हैं, लेकिन व्यावहारिक रूप में वे जाति के दबाव में ही कार्य करते हैं क्योंकि नेता के रूप में उनका स्वयं का उदय जाति की ही पृष्ठभूमि पर आधारित है। प्रतिद्वंद्वी अभिजनों के बीच संघर्ष में भी दोनों समूहों के नेता अपनी जातियों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और परंपरागत विधियाँ अपनाते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कोई भी यह अनुभव नहीं करता कि इस प्रकार की विधियों के प्रयोग अलोकतांत्रिक तथा अधर्मनिरपेक्ष स्वभाव के होते हैं।

जाति की भूमिका: वरदान या अभिशाप (The Role of Caste: Blessing or a Curse)

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन करना अत्यंत कठिन कार्य है। कई लोग जाति को राजनीति का कैन्सर मानते हैं। जाति-प्रथा को राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक माना जाता है क्योंकि इससे व्यक्तियों में पृथकतावाद की भावना जाग्रत होती है। राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपने जातिगत हितों को अधिक महत्त्व देने लगते हैं। जाति निष्ठाओं का सृजन कर यह प्रथा लोकतंत्र के विकास-मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। डी.आर. गाडगिल के अनुसार, 'क्षेत्रीय दबावों से कहीं ज्यादा खतरनाक बात यह है कि वर्तमान काल में जाति व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधने में बाधक सिद्ध हुई है।' प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास का स्पष्ट मत है कि परंपरावादी जाति व्यवस्था ने प्रगतिशील और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को इस तरह प्रभावित किया है कि ये राजनीतिक संस्थाएँ अपने मूलरूप में कार्य करने में समर्थ नहीं रही हैं।

दूसरी तरफ अमेरिकी लेखकों–रुडोल्फ एंड रुडोल्फ का मत है कि जाति व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण में सहयोग देकर परंपरावादी व्यवस्था को आधुनिकता के सांचे में ढालने का कार्य किया है। वे लिखते हैं, 'अपने परिवर्तित रूप में जाति व्यवस्था ने भारत में कृषक समाज में प्रतिनिधिक लोकतंत्र की सफलता तथा भारतीयों की आपसी दूरी कम करके, उन्हें अधिक समान बनाकर समानता के विकास में सहायता दी है।'

4.7 धर्म एवं राजनीति (Religion and Politics)

यदि राजनीति असामाजिक तत्त्वों की अंतिम शरणस्थली है और धर्म जनता का नशा, तो इन दोनों के अंत: सम्बंध से निश्चित रूप से विनाश का ही रास्ता खुलता है। परंतु, यदि राजनीति को किसी इकाई में सहिष्णुता एवं व्यवस्था बनाए रखने के उपयुक्तम साधन के रूप में देखा जाए और धर्म को जीवन-मूल्यों की उत्कृष्टता का मूल, तो ऐसी स्थिति में हम धर्म और राजनीति को बिल्कुल दो समानांतर धाराओं में विभक्त करने की भूल नहीं कर सकते। सच तो यह है कि धर्म और राजनीति के संबंधों को लेकर आज जो बहुत-से प्रश्न उठाए जा रहे हैं, उन प्रश्नों की प्रकृति ही गलत है। प्रश्न यह नहीं उठाना चाहिए कि क्या धर्म और राजनीति एक-दूसरे से संबद्ध हैं; प्रश्न यह उठाना चाहिए कि उन दोनों के बीच किस तरह का संबंध होना चाहिए।

राजनीति को शक्ति की अपेक्षा होती है, चाहे किसी भी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था हो। जब महात्मा गाँधी या मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे लोग अपनी राजनीतिक सोच धर्म से प्रेरित समझते थे या कहते थे तो उनका लक्ष्यार्थ उस धार्मिक स्रोत से बिल्कुल भिन्न था, जिसका बहाना लेकर आज राजनीतिक दल बना लिए जाते हैं या अलग भू-प्रदेश की माँग की जाने लगती है। गाँधी जी सभी धर्मों के सारे तत्त्वों को राजनीति करने के लिए आध्यात्मिक मूल्यों के रूप में अनिवार्य समझते थे और अपनी इसी भावना के संदर्भ में वे अक्सर कहा करते थे कि धर्म व विरत राजनीति अकल्याणकारी होती है। धर्म गाँधी जी की दृष्टि में पृथकतावाद; चाहे वह भौगोलिक हो, सामाजिक हो या वैयक्तिक; को हेय मानता है। इसी से गाँधी जी पूरे विश्व को एक नैतिक-राजनीतिक इकाई के रूप में देखते थे और 'विश्व नागरिकता' जैसे सिद्धांतों की बात करते थे। इस प्रकार, धर्म-पूजा-अर्चना, कर्मकाण्ड और जीव ब्रह्म-संबंध आदि तत्त्वों के अतिरिक्त भी अपनी अभिव्यक्ति देता है–वह मूल्यों एवं सिद्धांतों की एक संहिता भी है अर्थात्, धर्म अपने अनुयायियों के नैतिक अनुशासन का एक स्रोत होता है।

धर्म आध्यात्मिक विश्वासों एवं अलौकिक धारणाओं की भी एक व्यवस्था के रूप में होता है। अपने इस रूप में प्रगतिवादियों की आलोचना का केंद्र बनता है। पश्चिमी देशों में आध्यात्मिक विरोधों की वजह से अनगिनत खूनी संघर्ष हुए हैं। परंतु भारत में ऐसी एक भी घटना नहीं हुई है–सुदीर्घ भूतकाल से लेकर वर्तमान समय तक। हमारे यहाँ संघर्ष सांप्रदायिक कारणों से हुए हैं, धार्मिक कारणों से नहीं। धार्मिक सहिष्णुता की दृष्टि से भारत की ऐतिहासिक व वर्तमान छवि निश्चय ही अत्यंत मानवीय एवं अप्रतिम रही है।

धर्म व्यक्ति की पहचान का भी एक अनुपेक्षणीय अंग है। कोई भी व्यक्ति हो, चाहे उसकी धर्म में आस्था हो या न हो अथवा वह अपने को नास्तिक या अधार्मिक घोषित भी करता हो, अपने पारिवारिक या सामाजिक संबंधों की वजह से किसी न किसी रूप में किसी न किसी धर्म से संबद्ध हो ही जाता है। धर्म की यही भूमिका राजनीति में समस्याएँ खड़ी करती है। आज लगभग सभी धार्मिक समुदायों में सामाजिक-राजनीतिक लालसा देखी जा सकती है। विकास, गतिशीलता, मीडिया एवं जनसंचार की क्रांति, राजनीतिकरण एवं वयस्क मतदान आदि ने लोगों में एक

तरह की आत्मिक सतर्कता पैदा की है। वर्गीय स्तर पर भारत में राजनीतिक या सैद्धांतिक पहचान तो विकसित नहीं हो पाई, धार्मिक पहचान ने उस कमी को पूरा कर दिया–जो अत्यंत दुष्परिणामक रहा।

फिर, आज जो व्यवस्था का अंस्तित्व है, उसमें हर व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप से न्याय एवं सुरक्षा उपलब्ध हो पाना या करा पाना असंभव है, ऐसे में लाभ अपनी वर्गीय पहचान के प्रति ज्यादा जागरूक हो जाते हैं, जो उन्हें उक्त चीज़ें उपलब्ध करा सकती हैं। इसलिए, भारतीय राजनीति में व्यक्ति का जितना महत्त्व है, उतना महत्त्व संप्रदाय का भी है। ऐसी परिस्थितियों में भारत में किसी भी तरह की धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था तब तक सफल नहीं हो सकती, जब तक कि हम धार्मिक विविधता के सत्य एवं तद्नुरूप उनकी आर्थिक एवं राजनीतिक भूमिका को स्वीकार नहीं कर लेते। उदाहरण के तौर पर, केंद्र या राज्य स्तर पर तब तक कोई मंत्रिमंडल संतुलित नहीं कहा जा सकता, जब तक उसमें हर संप्रदाय का प्रतिनिधित्व न हो अन्यथा, यह समझा जाएगा कि किसी संप्रदाय विशेष के साथ भेदभाव बरता गया है।

इसलिए, समस्या यह नहीं है कि राजनीति, धार्मिक पहचान को स्वीकृति प्रदान करे अथवा नहीं, राजनीति यथार्थ की उपेक्षा कैसे कर सकती है? आज जिन प्रश्नों की प्रासंगिकता ज्यादा है और जिन पर बहस की आवश्यकता है, उनमें प्रमुख हैं–वे कौन से क्षेत्र हैं, जिनमें इन पहचानों को मान्यता दी जाए और उन क्षेत्रों में उनकी सक्रियता को किस हद तक छूट दी जाए? इन पहचानों को आपस में एक-दूसरे के साथ कैसे संबद्ध किया जाए और अन्य प्रकार की पहचानों एवं राष्ट्रीय पहचान के साथ भी उनके रिश्तों की व्याख्या किस तरह से की जाए?

धर्म और राजनीति के संबंधों पर अभी जो अधिकांश बहसें चल रही हैं, उन पर यूरोपीय चिंतन का ज्यादा प्रभाव है, जो कि भारत के लिए बहुत प्रासंगिक नहीं है। सबसे पहली बात तो यह कि भारत, यूरोप के देशों की तरह किसी एक धर्म के अनुयायियों का देश नहीं है। दूसरी बात कि यूरोप के अधिकांश देशों का राजनीतिक इतिहास राज्य पर पोप के प्रभुत्व का रहा है और आज भी अनेक देशों में 'क्रिश्चियन' राजनीतिक दल सक्रिय हैं। इस दृष्टि से भारत का अपना इतिहास ही अधिक प्रासंगिक एवं प्रेरणाप्रद है। यूरोप से भिन्न, भारत में कभी भी धर्मतंत्र नहीं रहा। जहाँ तक हिंदुओं की बात है, उनकी परम्परा में ऐसी कोई आचार-संहिता कभी नहीं रही, जिसमें राजनीति को अकाट्य दोषरहित या दैवीय कहा गया हो। बल्कि, राजा एवं ऋषि की परम्परा सांसारिक एवं धार्मिक भूमिका में स्पष्ट विभाजन का सूचक है। ये दोनों भूमिकाएँ अंतःसंबद्ध तो थीं, पर स्वायत्त थीं।

लगभग 800 वर्षों तक भारत पर मुस्लिम शासकों का शासन भी समान रूप से सौहार्दपूर्ण एवं सहिष्णुतापूर्ण रहा। यद्यपि राज्य एवं उलेमा-वर्ग के बीच निकट का रिश्ता था, तथापि धर्मनिरपेक्ष प्राधिकार की सर्वोच्चता बनी रही। मुस्लिम राजनीति में एक तीसरी धारा सूफियों की रही, जिनकी राज्य के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप की प्रतिष्ठा में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

सिखों का इतिहास भी इस तरह धर्मनिरपेक्ष तत्त्वों से भरा पड़ा है। उनमें सांसारिक एवं आध्यात्मिक नेतृत्व में अंतःसंबंध होते हुए भी पर्याप्त पार्थक्य था, जिनके लिए क्रमशः 'मीरी' एवं 'पीरी' पद प्रयुक्त होते थे और इनके प्रतीक के रूप में कमर में दो तलवारें होती थीं और उनकी 'अकाल तख्त' एवं 'हर मंदिर साहिब' की पृथक्-पृथक् व्यवस्था भी इसी विभाजन का प्रतीक है। गुरु-परम्परा की समाप्ति के बाद सिखों के धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष नेतृत्व एवं संस्थाओं का स्वरूप और भी स्पष्ट हो गया।

इसलिए भारत में एक धर्म या एक संप्रदाय की प्रतिष्ठा बनाने का प्रयास अथवा सभी धर्मावलम्बियों की एक पहचान बनाने का प्रयास अथवा एक राजनीतिक पहचान बनाने का प्रयास एक ओर यदि अतीत की उपलब्धियों का अपमान होगा, तो दूसरी ओर भविष्य को अशांतिपूर्ण बनाने का अभियान। किसी भी धार्मिक संप्रदाय के हर व्यक्ति को किसी राजनीतिक दल विशेष से जुड़ने को बाध्य करना अथवा उनके जुड़े होने की बात करना राजनीति की मूल भावना के ही प्रतिकूल है। राजनीति में वर्गीय हित के साथ-साथ वैयक्तिक हित भी पृथक्-पृथक् हो सकते हैं और इस पार्थक्य का सम्मान होना चाहिए–कम से कम वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में। किसी व्यक्ति की धार्मिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप का सीधा-सा अर्थ होता है--राजनीतिक अधिकारों का हनन।

इधर एक और प्रवृत्ति पनप रही है–धार्मिक मतवाद विशेष के लिए अलग-अलग राजनीतिक दलों के निर्माण की बात चल रही है और ऐसे दल बनाए भी जा रहे हैं। ऐसे में यदि किसी धर्मविशेष का हर व्यक्ति उस धर्मविशेष से संबद्ध राजनीतिक दल के प्रति ही एकनिष्ठ हो जाए, तो चुनाव-प्रणाली का कोई औचित्य ही नहीं रह जाएगा। राष्ट्र कबीलों में बँट जाएगा और कबायली संघर्षों का अनवरत सिलसिला शुरू हो जाएगा।

वस्तुत: धर्म का पूर्ण संस्थागत रूप में राजनीति के पूर्ण संस्थागत रूप के साथ पूर्ण सम्मिलन जितनी अराजक स्थिति पैदा करेगा, उतनी ही अराजक स्थिति पैदा करेगा धर्म एवं राजनीति के पूर्ण पृथक्करण का कोई प्रयास। यह सच तो सबके समाने है कि एक पेशे के लोग; चाहे वे किसान हों, मजदूर हों, छात्र हों, शिक्षक, हों, डॉक्टर हों, इंजीनियर हों; अपने पेशे के आधार पर गोलबंद होते हैं, चाहे वे किसी भी धर्म से आते हों। और, उनके इस तरह के किसी संगठन को कोई धार्मिक नेतृत्व चुनौती नहीं देता। क्यों न राजनीति के भीतर भी वैसे ही तत्त्व पैदा किए जाएँ, जिनसे धर्मनिरपेक्ष हितों अथवा मतभेदों के आधार पर दल या संगठन गठित हों! यह एक तरह का बौद्धिक अधिकार है, जिसे स्थापित करना समय का तकाजा है।

धार्मिक रूढ़िवादिता: एक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य

आदर्श रूप में प्रत्येक धर्म सभी का धर्म होना चाहिए। किसी व्यक्ति में अपने धर्म के साथ ही दूसरे धर्म के प्रति भी समान सम्मान का भाव होना चाहिए। दुर्भाग्यवश हमेशा ऐसा नहीं होता। आजादी के बाद की अवधि में भारत में धार्मिक असहिष्णुता बढ़ी है। स्वतंत्रता-पूर्व की अवधि में भी धार्मिक असहिष्णुता थी, परंतु निश्चित रूप से उस मात्रा और त्वरा में नहीं जिसमें आजकल हम देख रहे हैं।

इस विकास की विभिन्न प्रकार से व्याख्या हो सकती है। एक कारण, जो बहुतों में से महत्त्वपूर्ण है वह है आजादी के बाद भारत में जनतांत्रीकरण की प्रक्रिया। चुनावी राजनीति जो जनतांत्रीकरण की प्रक्रिया से शुरू होती है, 'वोट बैंक' के निर्माण और मजबूती को प्रोत्साहित करती है। चुनावी मैदान में जीत इस बात पर निर्भर करती है कि जाति और धर्म की भावनात्मक अपील से वोट बैंक को किस हद तक संवारा जाए। इसके दुष्परिणामस्वरूप धार्मिक सहिष्णुता को अनदेखा कर दिया जाता है और विभिन्न समुदायों के बीच धार्मिक झगड़ों को बढ़ा दिया जाता है।

धार्मिक असहिष्णुता और धार्मिक कट्टरवाद के बढ़ने का एक और महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि राष्ट्रीय संपत्ति में दावेदारों का आकार बढ़ रहा है। अपने हिस्से को बढ़ाने का एक रास्ता है राजनैतिक रूप से तथा धार्मिक और जातीय आधार पर गोलबंदी करना। इस प्रकार राष्ट्रीय पहचान से ज्यादा अपनी धार्मिक और जातीय पहचान पर ज़ोर दिया जाता है। यह सारे धार्मिक समूहों पर लागू होता है।

मंडेलबाऊम ने एक उदाहरण दिया है कि राजनैतिक सत्ता पाने की आकांक्षा किस प्रकार इस्लामीकरण की प्रक्रिया को मजबूती से बढ़ाती है। इसी प्रकार के और भी उदाहरण अन्य धर्मों के संदर्भ में भी दिये जा सकते हैं। प्रतिक्रियाओं की संभावना हमेशा होती है। एक समुदाय द्वारा राजनीतिक लाभ उठाने के लिए धर्म को आधार बनाया गया। यह कदम शीघ्र ही दूसरे समुदाय को ऐसे ही लक्ष्य पाने के लिए प्रेरित करेगा।

मंडेलबाऊम ने तीव्र होते इस्लामीकरण को पंजाब और राजस्थान के सीमावर्ती क्षेत्रों के दो हजार गाँवों के प्रभावशाली मेव जाति के आधार पर विचार किया है। उन लोगों ने बहुत ही कम व्यवस्थित जीवन जिया। प्रारंभिक शताब्दियों में वे प्राय: आक्रमण करते थे। उन्होंने 15वीं शताब्दी में इस आशा के साथ इस्लाम को अपना लिया कि मुसलमान शासक उनसे ज्यादा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करेंगे। धर्मान्तरण के बाद भी वे राजपूत मूल्यों का वहन करते रहे और सुन्नत व मृत को गाड़ने की प्रथाओं से स्वयं को जोड़कर अपने राजपूत रीति-रिवाजों को अपनाये रहे। उन लोगों ने हिंदू शिल्पकारों के साथ जजमानी संबंध बनाये रखा और ब्राह्मण उनके कुछ कर्मकांड करवाते रहे।

1947 के बाद परिदृश्य में आमूल परिवर्तन हुआ। मेवों ने महसूस किया कि उन्हें अपने समूह में और कुछ दूसरों के साथ, जो दूसरे देश में रहते हैं, ज्यादा सहयोग की आवश्यकता है जिससे वे आधुनिक परिप्रेक्ष्यों में, खासकर राज्य की राजनीति में ज्यादा प्रभावशाली हों। इनमें से कुछ (शायद एक चौथाई) पाकिस्तान चले गये। बाकी भारत में रहे। अब वे इस्लाम के प्रति इतने ज्यादा प्रतिबद्ध हो गये जितना पहले कभी नहीं थे। वे जानबूझकर हिंदू व्यवहारों को छोड़ रहे हैं और खुशी से इस्लामी रास्तों को अपना रहे हैं, यद्यपि वे हमेशा अच्छी तरह नहीं जानते कि ये रास्ते क्या हैं। उन लोगों ने नई मस्जिदें बनवाई हैं। वे एक नये प्रकार के वस्त्र पहनते हैं। उन लोगों ने मांस, यहाँ तक कि भैंस का मांस खाना शुरू कर दिया है। मंडेलबाऊम ने ठीक ही निष्कर्ष निकाला है कि मेवों ने पिछले 17 वर्षों में जितना मुसलमानी व्यवहारों को अपनाया (आठवें दशक के शुरू में उसने ये तथ्य संकलित किये थे) उतना वे पिछले 450 वर्षों में नहीं अपना सके थे। (मंडेलबाऊम, सोसायटी इन इंडिया, पृष्ठ 558-559)

4.8 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद (Regionalism in Indian Politics)

क्षेत्रीयतावाद का अर्थ (Meaning of Regionalism)

क्षेत्रीयतावाद से तात्पर्य एक देश में या देश के किसी भाग में उस छोटे-से क्षेत्र से है जो आर्थिक, भौगोलिक, सामाजिक, आदि कारणों से अपने पृथक् अस्तित्व के लिए जागरूक है। साधारण शब्दों में क्षेत्रवाद का अर्थ किसी क्षेत्र के लोगों की उस भावना एवं प्रयत्नों से है जिनके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों में वृद्धि चाहते हैं।

'क्षेत्र' शब्द के बहुत सारे अर्थ हैं। मूल रूप से किसी क्षेत्र को जोड़ने वाली कड़ी 'सांस्कृतिक समानता' है। किसी भौगोलिक क्षेत्र को भी 'क्षेत्र' के आधार पर संबोधित किया जा सकता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और अपने निवास के आस-पास की भूमि से उसका भावात्मक संबंध स्थापित हो जाता है और कालांतर में अपने पूरे क्षेत्र के प्रति उसकी निष्ठा विकसित हो जाती है। इस दृष्टि से क्षेत्र एक तरह से समाजशास्त्रीय अभिधारणा है जिसे विविध सामाजिक हितों की अभिव्यक्ति की धुरी कहा जा सकता है। किसी भी भू-भाग को क्षेत्र कहने के लिए कतिपय तत्वों का होना आवश्यक है, किंतु आज तक उन तत्वों का ठीक तरह से निर्धारण नहीं हो सका। यदि भौगोलिक रूप से निश्चित किसी स्थान पर कुछ प्रक्रियाएँ तथा धारणाएँ समाज के अन्य भागों में भिन्न हों और लगातार काफी समय से, चाहे अलग-अलग मात्रा में सही, चली आ रही हों, तो उस भाग को एक अलग क्षेत्र कहा जा सकता है। ये प्रक्रियाएँ और धारणाएँ भौगोलिक, धार्मिक, भाषाई, रीति-रिवाज संबंधी, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास की स्थिति, रहन-सहन के ढंग और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इत्यादि पर आधारित हो सकती हैं, परंतु किसी भी क्षेत्र के पृथक् स्वरूप के लिए प्रमुख बात वहाँ के लोगों में आपसी समानता और एकरूपता तथा अन्य क्षेत्रों से अलगाव की भावना है। इस प्रकार अनेक तत्वों; जैसे भूगोल, जलवायु, धर्म, भाषा, रीति-रिवाज, राजनीतिक और आर्थिक विकास, ऐतिहासिक, अनुभव, रहन-सहन के तरीके आदि की अंतः क्रियाओं से किसी क्षेत्र (Region) का निर्माण हो सकता है। प्रो. श्रीराम माहेश्वरी का मत है कि क्षेत्र इनसे भी कुछ अधिक होता है, क्षेत्र के लोगों में साथ रहने की भावात्मक एकता होती है और दूसरों से अपने को पृथक् मानने की इच्छा। यदि कोई व्यक्ति यह सोचता है कि वह विदर्भ क्षेत्र का निवासी है तो इसका मतलब है कि वह अपने को महाराष्ट्रियनों से थोड़ा भिन्न मानता है चाहे सभी महाराष्ट्रियन यह महसूस करते हों कि अन्य राज्यों से महाराष्ट्र के लोग भिन्न हैं। ऐसी भावनाएँ सांस्कृतिक वास्तविकताएँ हैं और उनसे कोई भी आसानी से मुक्त नहीं हो सकता।

भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रीयतावाद से अभिप्राय है–राष्ट्र की तुलना में किसी क्षेत्र विशेष अथवा राज्य या प्रांत की अपेक्षा एक छोटे क्षेत्र से लगाव, उसके प्रति भक्ति या विशेष आकर्षण दिखाना। इस दृष्टि से क्षेत्रीयतावाद राष्ट्रीयता की वृहद् भावना का विलोम है और इसका ध्येय संकुचित क्षेत्रीय स्वार्थों की पूर्ति होना है।

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के कारण (Causes of Regionalism in Indian Politics)

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के निम्नलिखित प्रमुख कारण हैं:

1. **भौगोलिक**–भौगोलिक दृष्टि से भारत के कई राज्य आज भी बहुत बड़े हैं। इन बड़े राज्यों; जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान में छोटे-छोटे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इकाई बन सकते हैं। राजस्थान में मारवाड़ और मेवाड़ का क्षेत्र, मध्य प्रदेश में मालवा का क्षेत्र आदि को यदि पृथक राज्यों का दर्जा दे दिया जाए तो भी वे केरल, नागालैंड से तो बड़े राज्य ही बनेंगे।

2. **सांस्कृतिक**–कुछ राज्यों में कई भाषाभाषी एवं संस्कृति के लोग रहते हैं। उन्हें अपनी भाषा एवं संस्कृति पर गर्व है। इसी आधार पर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम ने भारतीय संघ से अलग होने की बात कही थी।

3. **ऐतिहासिक**–राज्य पुनर्गठन के बाद कई पुरानी रियासतों को राज्यों में मिला दिया गया था। आज भी इन रियासतों के लोग यह महसूस करते हैं कि यदि उनकी रियासत का ही पृथक् राज्य होता तो वे अधिक लाभ

की स्थिति में होते। केवल ऐतिहासिक संबंधों के आधार पर ही पुराने क्षेत्रों की चर्चा की जाती है। दूसरे शब्दों में सारे भारत का इतिहास सामान्य न होकर क्षेत्रों के आधार पर भिन्न है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक विरासत, लोक परंपराओं, सामाजिक मिथकों तथा लक्षणों (Symbolism) के आधार पर क्षेत्रवाद के अस्तित्व को सहायता मिलती है।

4. आर्थिक कारण–भारत के कुछ राज्यों के कुछ क्षेत्रों में अधिक आर्थिक विकास हुआ और आर्थिक विकास की दृष्टि से कुछ क्षेत्र पिछड़ गए। इससे इन पिछड़े क्षेत्रों में असंतोष फैलने लगा और क्षेत्रीयतावाद की भावना फैलने लगी। उदाहरणार्थ, आंध्र प्रदेश में तेलंगाना का क्षेत्र, राजस्थान में दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान, महाराष्ट्र में विदर्भ, उत्तर प्रदेश में पूर्वांचल, बुंदेलखंड आदि क्षेत्रों में तेज रफ्तार से विकास नहीं हो पाया और वे अपने लिए पृथक् राज्य की माँग करने लगे।

5. भाषा–भारत में भाषागत विविधता रही है। उत्तर और दक्षिण की भाषा एक-दूसरे से भिन्न रही हैं। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी। भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण राज्यों में हिंसात्मक आंदोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ गई।

6. जाति–जाति के आधार पर भी क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिन क्षेत्रों में किसी एक जाति की प्रधानता रही वहाँ क्षेत्रीयतावाद की प्रवृत्ति दिखाई देती है। हरियाणा और महाराष्ट्र में क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति फैलाने में जाति प्रभावक तत्व रहा है।

"यद्यपि जाति व्यवस्था क्षेत्रवाद के लिए अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण तत्व नहीं है, परंतु जहाँ यह आर्थिक हितों (जैसे महाराष्ट्र में मराठा जाति), भाषायी समुदायों (तमिलनाडु में तमिल भाषी और गैर-ब्राह्मण जातियाँ) और धर्म (पंजाब में सिख धर्म और जाट जाति) के साथ जुड़ी हों वहाँ यह क्षेत्रवाद को प्रबल बनाने में काफी सहायक होती है।"–**रजनी कोठारी**

7. राजनीतिक कारण–राजनीतिक कारणों से भी प्रादेशिकता की माँग बढ़ी है। राजनीतिज्ञ यह सोचते हैं कि यदि पृथक् राज्य बन जाएँगे तो उनकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति आसानी से हो सकेगी। प्रादेशिक दलों; जैसे–डी.एम.के., अकाली दल, झारखंड पार्टी, शिवसेना आदि ने भी राजनीतिक कारणों से प्रादेशिकता की अग्नि प्रज्वलित की है।

4.9 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद: विश्लेषण (Regionalism in Indian Politics: Analysis)

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की चर्चा निम्नलिखित शीर्षकों के आधार पर की जा सकती है:

1. क्षेत्रीयतावाद और पृथक् राज्यों की माँग (Regionalism and Demand for Separate States)

क्षेत्रीयतावाद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष पृथक् राज्य की माँग रही है। आर्थिक पिछड़ेपन, जाति, भाषा, धर्म को लेकर विभिन्न क्षेत्रों द्वारा पृथक् राज्य की माँग समय-समय पर उठाई गई तथा क्षेत्रीय आंदोलनों की शुरुआत की गई। पृथक् राज्यों की माँग के संदर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष संघीय इकाइयों द्वारा पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने की माँग है। इसी माँग के तहत् हिमाचल प्रदेश को 1970 में पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया तथा जनवरी 1972 में त्रिपुरा एवं मणिपुर को भी पूर्ण राज्य बना दिया गया। 1987 में मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश और गोवा को भी पूर्ण राज्य का दर्जा प्रदान कर दिया गया। दिल्ली के लोग भी पूर्ण राज्य की माँग करते रहें हैं। दिसंबर 1991 में दिल्ली के लिए 70-सदस्यीय विधानसभा तथा 7-सदस्यीय मंत्रिपरिषद् के निर्माण से संबंधित विधेयक संसद ने पारित कर दिया, परंतु केंद्रशासित क्षेत्र के रूप में दिल्ली का दर्जा बना रहेगा। इसके अतिरिक्त पृथक् राज्यों की माँग को निम्नलिखित संदर्भ में देखा जा सकता है–

राज्यों का पुनर्गठन–सन् 1956 में राज्यों का पुनर्गठन किया गया। राज्यों के पुनर्गठन का मुख्य कारण

भाषायी राज्यों की ही माँग थी। भाषागत राज्यों की माँगों ने राष्ट्रव्यापी असंतोष को जन्म दिया। इसके द्वारा क्षेत्रीय भावानाओं को प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रवादी लोगों में यह आशंका पैदा हुई कि इससे देश छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाएगा और राष्ट्रीय एकता का अंत हो जाएगा।

बंबई राज्य का विभाजन–बंबई राज्य के विभाजन की माँग तीव्रतर होने लगी। यह माँग की जाने लगी कि गुजराती और मराठी भाषा के आधार पर राज्य को दो भागों में विभाजित किया जाना चाहिए। सन् 1960 में महाराष्ट्र और गुजरात राज्य की स्थापना हुई।

पृथक् विदर्भ राज्य की माँग–सन् 1960 के आस-पास पृथक् विदर्भ राज्य की माँग की जाने लगी। नागपुर के लोगों का कहना था कि महाराष्ट्र की स्थापना से नागपुर का महत्त्व कम हो गया क्योंकि उससे पूर्व नागपुर मध्य भारत की राजधानी था।

पंजाब राज्य का पुनर्गठन–सन् 1966 में पंजाब राज्य का पुनर्गठन किया गया परिणामतः पंजाब, हरियाणा एवं चंडीगढ़ का संघीय प्रदेश बनाया गया। हिमाचल प्रदेश एक प्रशासनिक इकाई बन गया। इस पुनर्गठन का उद्देश्य इस क्षेत्र के सभी राज्यों का तेजी से आर्थिक विकास करना और वहाँ की जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं को संतुष्ट करना था।

असम राज्य का पुनर्गठन–सितंबर 1968 में असम पुनर्गठन की एक योजना घोषित की गई थी। इस योजना में राज्य के पहाड़ी लोगों के लिए पर्याप्त मात्रा में स्वायत्त शासन की व्यवस्था थी जिससे पहाड़ी लोगों की आकांक्षाएँ पूरी हों और विकास संबंधी क्रिया-कलाप बढ़ सकें। 'असम पुनर्गठन (मेघालय) बिल' दिसंबर 1968 में पारित होकर कानून बन गया और असम राज्य के अंतर्गत 'मेघालय' का स्वायत्तशासी राज्य स्थापित हो गया।

भूतपूर्व संघीय प्रदेशों–मणिपुर तथा त्रिपुरा के लोग भी अधिक स्वायत्त शासन की माँग कर रहे थे। सरकार ने उनकी माँगों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया और असम के मिजो जिले की जनता के लिए एक पृथक् प्रशासनिक इकाई की माँग पर विचार किया। प्रदेश की सुरक्षा और आर्थिक विकास की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों के पुनर्गठन के लिए कदम उठाए गए। इन परिवर्तनों को अमल में लाने के लिए 1972 में एक अधिनियम पारित किया गया और मणिपुर एवं त्रिपुरा को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया। आज बोरो, गारो और करबी जैसी जनजातियाँ भी असम से अलग हो जाने की भाषा बोल रही हैं।

आंध्र राज्य के विभाजन की माँग–आंध्र प्रदेश में तेलंगाना की समस्या काफी जटिल बन गई; विकास, रोजगार के अवसरों और शिक्षा-विषयक सुविधाओं के मामले में तेलंगाना क्षेत्र के लिए 1967 में पब्लिक एम्प्लायमेंट एक्ट' में संरक्षणों की व्यवस्था की गई। उसी वर्ष सर्वोच्च न्यायालय ने इस एक्ट की उस व्यवस्था को असंवैधानिक करार दे दिया, जिसका तेलंगाना क्षेत्र को मिलने वाले संरक्षणों से संबंध था। संरक्षणों के कार्यान्वयन के ढंग से असंतोष था और तेलंगाना एवं आंध्र प्रदेश के अन्य भागों में गंभीर आंदोलन शुरू हो गए। हिंसात्मक आंदोलनों से बड़ी गंभीर परिस्थिति पैदा हो गई जिससे राज्य के संगठन को ही खतरा पैदा हो गया। आंध्र प्रदेश के लोगों में पूरी-पूरी भावनात्मक एकता लाने के लिए बड़े भारी धैर्य, सूझ-बूझ और कुशलता की आवश्यकता थी। 1967 में शुरू की गई इस बड़ी कार्यवाही का परिणाम 6-सूत्रीय फार्मूला था जो 1973 में घोषित किया गया।

पृथक् तेलंगाना के समर्थकों का कहना था कि अन्य क्षेत्रों का विकास तेलंगाना के मूल्य पर किया जा रहा है। तेलंगाना आंदोलन को देखते हुए शंका व्यक्त की गई कि तेलंगाना की समस्या भारत के कई भागों में उपक्षेत्रीयतावाद (Subregionalism) की उदीयमान शक्तियों का संकेत देती प्रतीत होती है।

नए राज्यों का सृजन–25 मार्च, 1998 को राष्ट्रपति ने संसद को संबोधित करते हुए कहा था कि सरकार उत्तर प्रदेश में उत्तरांचल, बिहार में वनांचल और मध्य प्रदेश में छत्तीसगढ़ बनाने की कार्रवाई शुरू करने के लिए प्रतिबद्ध है। तद्नुसार, उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश के राज्यों का पुनर्गठन करने के लिए विधेयकों का प्रारूप तैयार किया गया। 20 अगस्त, 1998 को राष्ट्रपति महोदय ने उक्त विधेयकों को भारत के संविधान के अनुच्छेद-3 की मंशानुसार अपने विचार व्यक्त करने के लिए संबंधित विधानमंडलों को भेजा था। राज्य विधानमंडलों के विचार

प्राप्त हो जाने के पश्चात् लोकसभा में दिसंबर 1998 में उत्तर प्रदेश पुनर्गठन विधेयक, 1998 बिहार पुनर्गठन विधेयक और मध्य प्रदेश पुनर्गठन विधेयक, 1998 पेश किए गए।

अगस्त 2000 में संसद द्वारा पारित मध्य प्रदेश पुनर्गठन अधिनियम के अनुसार नवगठित छत्तीसगढ़ राज्य (1 नवंबर 2000) में वर्तमान मध्य प्रदेश के 16 जिले सम्मिलित हैं। अगस्त 2000 में संसद ने उत्तर प्रदेश पुनर्गठन अधिनियम, 2000 पास करके उत्तरांचल राज्य के निर्माण को स्वीकृति दे दी तथा 9 नवंबर, 2000 को नया उत्तरांचल राज्य अस्तित्व में आया। नवगठित उत्तरांल राज्य में उत्तर प्रदेश के 13 जिले शामिल किए गए हैं। अगस्त 2000 में ही संसद ने बिहार पुनर्गठन अधिनियम पारित करके झारखंड राज्य के निर्माण (15 नवंबर, 2000) को मंजूरी दे दी।

अन्य भागों में पृथक् राज्यों की माँग–सन् 2000 में उपर्युक्त तीन नए राज्यों के गठन के बाद भी आठ नए राज्यों के गठन के लिए पुरजोर माँग की जा रही है। उत्तर प्रदेश में पूर्वांचल, हरित प्रदेश एवं बुंदेलखंड, महाराष्ट्र में विदर्भ, गुजरात में सौराष्ट्र, आंध्र प्रदेश में तेलंगाना, असम में बोडोलैंड तथा पश्चिम बंगाल में गोरखालैंड।

इंडिया टुडे लिखता है–"आज पुराने राज्यों में से नए राज्य बनाने के पीछे पहले की तरह जातीय या सांस्कृतिक पहचान की हठ नहीं है। अगर किसी अल्पसंख्यक समुदाय को शिक्षा और नौकरियों में बराबर का हिस्सा नहीं मिलता तो वह अलग होना ही बेहतर समझता है।"

2. क्षेत्रीयतावाद बनाम अंतर्राज्यीय झगड़े (Regionalism Vs. Inter-State Disputes)

क्षेत्रीयतावाद का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष विभिन्न राज्यों के आपसी झगड़े हैं। राज्यों के बीच सीमा विवादों एवं नदी पानी विवादों को लेकर राज्य में उग्र मतभेद एवं तनाव बढ़े हैं। राष्ट्रीय स्रोतों के वितरण पर राज्यों के बीच कई बार सहमति नहीं हो पायी और राज्यों में कई बार अधिकतम स्रोत प्राप्त करने की होड़-सी दिखाई देने लगी। मध्य प्रदेश, गुजरात और राजस्थान के बीच नर्मदा नदी के जल के वितरण को लेकर उत्पन्न विवाद, राजस्थान और पंजाब के बीच भाखड़ा नंगल बाँध से उत्पन्न बिजली के बँटवारे को लेकर विवाद, तमिलनाडु व कर्नाटक के बीच कावेरी के जल वितरण का विवाद, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक, पंजाब तथा हरियाणा के बीच सीमा विवाद अंतर्राज्यीय झगड़ों के मुख्य उदाहरण हैं, जिनमें कई बार क्षेत्रीयता की संकुचित मनोवृत्ति ने उग्र रूप धारण कर लिया और संघवाद की भावना डगमगाती प्रतीत हुई।

असम-नागालैंड सीमा विवाद भयंकर नरसंहारों का कारण बन चुका है। 5 जनवरी, 1979 को हथियारों से लैस नागाओं ने 55 असमियों की हत्या कर दी थी। 4 जून, 1985 को मेरापानी में दूसरा बड़ा कांड हुआ। इस बार नगाओं के साथ उनके राज्य की सशस्त्र पुलिस भी थी। इस कांड में 30 असमी मारे गए और 90 घायल हुए। असम के अधिकारी दावा करते हैं कि उनके राज्य की 878 वर्ग किमी. भूमि नागालैंड ने दबा ली है।

वस्तुतः असम और नागालैंड के बीच 4,973 वर्ग मील क्षेत्र पर विवाद चल रहा है। नागालैंड ने विवादास्पद क्षेत्र में विधानसभा चुनावों (1987) के लिए 25 मतदान केंद्र खोलने की घोषणा की तो पूरा असम उग्र हो उठा और अखिल असम छात्र संघ ने नागालैंड की आर्थिक नाकेबंदी करने का कदम उठाया। प्रधानमंत्री राजीव गाँधी को यह आश्वासन देना पड़ा कि अगर नागालैंड की आर्थिक नाकेबंदी समाप्त न की गई तो केंद्र सरकार विमानों के जरिए वहाँ जरूरी सामान भेजेगी। असम-अरुणाचल, असम-मेघालय, मिजोरम का मणिपुर व त्रिपुरा के साथ सीमा विवाद भी बहुत कटु और चिंताजनक होता जा रहा है।

कावेरी जल विवाद–कावेरी जल विवाद कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल राज्यों तथा केंद्रशासित प्रदेश पांडिचेरी के बीच कावेरी नदी के पानी के बँटवारे पर एक लंबे, लगभग दो दशाब्दियों से अधिक समय से चला आ रहा है। तमिलनाडु के किसानों ने सर्वोच्च न्यायलय में याचिका की थी कि वह अंतर्राज्यीय जल विवाद अधिनियम के अंतर्गत एक न्यायाधिकरण की नियुक्ति कर तमिलनाडु को कावेरी जल का उचित भाग दिलाए। 14 मई, 1990 को सर्वोच्च न्यायलय ने केंद्र सरकार को एक माह के अंदर ऐसा न्यायाधिकरण नियुक्त करने का निर्देश दिया। इस आदेश के अनुपालन में केंद्र सरकार ने 2 जून, 1990 को बंबई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति की। इस कावेरी जल विवाद न्यायाधिकरण ने 26 जून, 1991 को अपने अंतरिम आदेश में कर्नाटक

सरकार को 1 जुलाई, 1991 से प्रारंभ होने वाले वर्ष के लिए तमिलनाडु को 205 हजार घन मीटर (T.M.C.) पानी छोड़ने का तथा कावेरी बेसिन में अपने सिंचाई क्षेत्र को 11.2 लाख एकड़ तक सीमित रखने का निर्देश दिया।

कर्नाटक ने इस आदेश का डटकर विरोध किया। मुख्यमंत्री बंगारप्पा ने 25 जुलाई, 1991 को कनार्टक-कावेरी बेसिन सिंचाई सुरक्षा अधिनियम, 1991 के नाम से एक अध्यादेश ज़ारी करवाकर न्यायाधिकरण के अंतिम आदेश को निष्प्रभावी कर दिया। दूसरी तरफ तमिलनाडु सरकार ने केंद्र सरकार से माँग की कि वह कर्नाटक सरकार द्वारा न्यायाधिकरण के निर्णय का अनुपालन कराए। दोनों राज्यों ने केंद्र सरकार से अपना-अपना पक्ष मनवाने के लिए आंदोलनों की शृंखला प्रारंभ कर दी। मामले ने इतना तूल पकड़ा कि कर्नाटक ने न्यायाधिकरण के अंतरिम आदेश के विरोध में सर्वोच्च न्यायालय में रिट याचिका तक दायर कर दी।

3. क्षेत्रीयतावाद और स्वायत्तता की माँग (Regionalism and Demand for Autonomy)

भारतीय संविधान द्वारा ऐसे संघवाद की स्थापना की गई है जिसमें स्वाभाविक रूप से केंद्र शक्तिशाली है। विगत कुछ वर्षों से माँग की जाती है कि भारतीय संविधान के संघवाद से संबंधित प्रावधानों का पुनरीक्षण किया जाना चाहिए तथा राज्यों की केंद्र पर अत्यधिक निर्भरता को कम कर दिया जाना चाहिए। माँग की गई है कि राज्यों को अधिक स्वायत्तता दी जानी चाहिए। स्वायत्तता की माँग के साथ-साथ यदाकदा पृथक्तावादी नारे भी दिए जाते हैं। स्वायत्तता की यह माँग उन दिनों बड़ी प्रबल हो जाती है जबकि केंद्र एवं राज्यों में पृथक-पृथक् राजनीतिक दलों की सरकारें होती हैं। पंजाब में मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में अकाली दल द्वारा सिखों के स्वायत्त राज्य की माँग उठाई गई थी। पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने बार-बार राज्यों की स्वायत्तता की माँग दुहराई है। द्रमुक और अन्नाद्रमुक दलों ने भी राज्य स्वायत्तता की माँग का समर्थन किया है।

जम्मू-कश्मीर विधानसभा ने पाँच दिन की बहस के पश्चात् राज्य स्वायत्तता समिति की रिपोर्ट को 26 जून, 2000 को ध्वनि मत से स्वीकार कर लिया। रिपोर्ट में राज्य की 1953 से पूर्व की स्थिति बहाल करने की संस्तुति की गई।

4. क्षेत्रीयतावाद और केंद्र-राज्य संघर्ष (Regionalism and Centre-State Tensions)

भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की अभिव्यक्ति केंद्र व राज्यों के बीच हुए विवादों में भी हुई है। राज्यों ने कई बार केंद्र के सुझावों और निर्देशों को मानने का इंकार कर दिया और अपने स्वतंत्र अस्तित्व का परिचय दिया है। 18 सितंबर, 1968 को केंद्रीय कर्मचारियों की हड़ताल का सामना करने के लिए केंद्र ने राज्यों को निर्देश दिए। केरल की वामपंथी सरकार के मुख्यमंत्री नंबूद्रीपाद ने केंद्रीय अध्यादेश को श्रमिक विरोधी कहकर उसे मानने से इंकार कर दिया। सन् 1968 में पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग और नक्सलवादी क्षेत्रों में होने वाले उपद्रवों से चिंतित होकर केंद्रीय सरकार ने उपद्रव-ग्रस्त क्षेत्रों में हथियार रखने पर प्रतिबंध लगा दिया जिसे राज्य सरकार ने राज्य के मामलों में केंद्र के हस्तक्षेप की संज्ञा दी। केंद्र द्वारा राज्यों में केंद्रीय रिजर्व पुलिस भेजने का राज्यों ने बराबर विरोध किया है। जनता पार्टी के शासन काल में गौ-हत्या प्रतिबंध के विषय पर केंद्र तथा तमिलनाडु, केरल व पश्चिम बंगाल की सरकारों के बीच विवाद उत्पन्न हुए। केंद्र से अधिकतम वित्तीय स्रोतों को प्राप्त करने के लिए भी राज्यों ने केंद्र के विरुद्ध संघर्ष का रुख अपनाया। कई बार अंतर्राज्यीय विवादों के समाधान में राज्यों ने केंद्र के निर्णय को मानने से इंकार कर दिया। इस प्रकार राज्यों द्वारा केंद्र की नीति का विरोध करना, केंद्र के निर्देशों का पालन न करना क्षेत्रीयतावाद की नीति के द्योतक हैं।

5. क्षेत्रीयतावाद के संदर्भ में उत्तर-दक्षिण की भावनाएँ (The North-South Divide in Perspective of regionalism)

भारत में उत्तर और दक्षिण के संदर्भ में सोचने की प्रवृत्ति पायी जाती है। दक्षिण के लोग यह महसूस करते हैं कि उत्तरी भारत के लोगों ने सदैव हर मामले में उनकी उपेक्षा की है। दक्षिण के चार राज्यों—तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, केरल और कर्नाटक में जहाँ द्रविड़ भाषा बोली जाती है—का विचार है कि राजनीतिक, आर्थिक और

सांस्कृतिक दृष्टि से दक्षिण भारत को वे लाभ नहीं मिले जो मिलने चाहिए थे। केंद्रीय मंत्रिमंडल, योजना आयोग तथा केंद्रीय सचिवालय में दक्षिण की अपेक्षा उत्तर के लोग ही छाए हुए हैं। दूसरी पंचवर्षीय योजना में 2,240 करोड़ की राशि में से दक्षिण भारत के मात्र 521 करोड़ रुपये ही दिए गए। इस्पात के सभी बड़े कारखाने-राउरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर उत्तरी भारत में ही हैं। दक्षिण की अपेक्षा उत्तरी भारत में उद्योगों का जाल बिछा हुआ है। दक्षिण के राज्यों ने सरकार की भाषानीति का डटकर विरोध किया है। दक्षिण राज्य यह मानते हैं कि हिंदी उत्तरी भारत की भाषा है और उन पर हिंदी जबर्दस्ती थोपने की एक चाल है। वे मानते हैं कि अन्य भारतीय भाषाओं की भाँति हिंदी भी एक भारतीय भाषा है। अन्य द्रविड़ भाषाओं जैसे तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़ से हिंदी इतिहास एवं साहित्य की दृष्टि से अधिक समृद्ध नहीं है। दक्षिण के राज्य चाहते हैं कि प्रशासन की भाषा के रूप में हिंदी के बजाय अंग्रेजी को चलाया जाना चाहिए। हिंदी को वे उत्तरी भारत की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का परिचायक मानते हैं।

क्षेत्रीयता की इस मनोवृत्ति के कारण मार्च 1977 के छठी लोकसभा के चुनावों में उत्तर और दक्षिण भारत के मताचरण में भी काफी अंतर पाया गया। जहाँ उत्तरी भारत में कांग्रेस के पैर पूरी तरह से उखड़ गए वहाँ दक्षिण भारत के राज्यों ने कांग्रेस के पक्ष में मतदान किया। जनता पार्टी को तमिलनाडु में तीन, कर्नाटक में दो, आंध्र प्रदेश में एक और केरल में एक स्थान भी नहीं मिला। इसके विपरीत, कांग्रेस को मध्य प्रदेश और राजस्थान में एक-एक स्थान मिला। उसे बिहार, उत्तर प्रदेश, हरियाणा, पंजाब, हिमाचल प्रदेश में एक भी स्थान नहीं मिला। इसी प्रकार नवंबर 1989 तथा मई-जून 1991 के लोकसभा चुनावों में भी उत्तर और दक्षिण के मताचरण में व्यापक अंतर दिखलाई देता है। उत्तर भारत के राज्यों में जनता दल और भाजपा को शानदार सफलता मिली वहाँ दक्षिण के राज्यों में कांग्रेस (ई) को उल्लेखनीय विजय प्राप्त हुई।

6. क्षेत्रीयतावाद के संदर्भ में भाषावाद (Regionalism In the Perspective of Language)

स्वाधीनता के तुरंत बाद मुख्य प्रश्न यह था कि देश की राष्ट्रभाषा और उसकी लिपि क्या हो तथा भाषायी अल्पसंख्यकों को किस प्रकार संरक्षण दिया जाए। संविधान ने हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित किया। भाषा के आधार पर राज्यों का निर्माण एवं पुनर्गठन हुआ। दक्षिण के लोग हिंदी भाषा का विरोध करने लगे। वे राजभाषा के रूप में हिंदी को पसंद नहीं करते थे। उनका कहना था कि हिंदी इस स्थिति में नहीं है कि वह भारत की राजभाषा बन सके। भाषा को राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति बढ़ी। भाषा के प्रश्न को लेकर उत्तर तथा दक्षिण के राज्यों में हिंसात्मक आंदोलन हुए और राष्ट्रीय एकता संकट में पड़ गई। मॉरिस जोंस लिखते हैं कि "दक्षिण भारत ने हिंदी का जोरदार विरोध किया, बंगाल ने उससे कम विरोध किया और देश के अन्य भागों के शिक्षित वर्ग के लोगों ने सीमित रूप में ही इसका विरोध किया।"

असम में भाषा की राजनीति असम आंदोलन की प्रेरणास्रोत रही है। जनगणना के आँकड़ों के अनुसार 1951 व 1971 के बीच राज्य में 61-62 प्रतिशत लोग ही असमिया भाषा बोलते थे। राज्य के हिन्दू जो लगभग 72 प्रतिशत हैं ऐसा सोचते हैं कि असमिया भाषा बोलने वाले 62 प्रतिशत लोगों में 25 प्रतिशत लोग बांग्लादेश के मुसलमान हैं। उनका मानना है कि इन मुसलमानों ने असमिया भाषा बोलना इसलिए शुरू किया ताकि उन्हें पहचाना न जा सके कि वे विदेशी हैं। असम के लोगों को भय है कि एक बार स्थिति सामान्य हुई और बांग्लादेश से आए मुसलमान अपनी मूल भाषा बंगाली का प्रयोग शुरू कर देंगे और ऐसी स्थिति में असमिया बोलने वालों का प्रतिशत 36-37 रह जाएगा।

दूसरी ओर बांग्लाभाषी लोग जो इस समय असम की जनसंख्या का 20 प्रतिशत हैं, उनकी संख्या में 25 प्रतिशत वृद्धि हो जाएगी। इस प्रकार राज्यों में बांग्ला भाषाभाषियों का प्रतिशत 45 हो जाएगा जो असमिया भाषा बोलने वालों के प्रतिशत से आठ-नौ प्रतिशत ज्यादा होगा।

इससे "असली" असमवासी भयभीत हो जाते हैं। इन लोगों का कहना है कि बंगाली अच्छे-अच्छे पदों पर हैं और असमिया भाषा को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं।

7. क्षेत्रीयतावाद और भारतीय संघ से पृथक होने की प्रवृत्ति (Regionalism and Secession From Indian Union)

1. द्रविड़ मुनेत्र कड़गम् की मांग–क्षेत्रीयतावाद के आंदोलन को प्रबल बनाने में तमिलनाडु के द्रविड़ मुनेत्र कड़गम् दल की प्रमुख भूमिका रही है। जून 1950 में द्रमुक ने मद्रास राज्य में पृथकतावादी आंदोलन संगठित किया और मद्रास राज्य को भारतीय संघ से विलग करने की इच्छा प्रकट की। जगह-जगह भारत के नक्शों को जलाया गया। द्रमुक ने यहा कहा कि मद्रास, आंध्र प्रदेश, केरल और मैसूर राज्यों को भारतीय संघ से अलग करके एक पृथक् संप्रभु 'द्रविड़ स्थान' राज्य बनाया जाना चाहिए। मई 1962 में राज्यसभा में द्रमुक के नेता अन्नादुरै ने कहा कि दक्षिण के लोग उत्तर वालों से कई दृष्टि से भिन्न हैं और दक्षिण वालों की सदैव उपेक्षा की गई है। इस प्रकार की विघटनकारी माँगों के फलस्वरूप अक्टूबर 1963 में संविधान का 16वां संशोधन अधिनियम पारित किया गया। इसमें यह व्यवस्था की गई कि भारत की अखंडता के विरुद्ध कोई भी व्यक्ति कार्य नहीं कर सकेगा। इसके फलस्वरूप द्रमुक ने भारतीय संघ से अलग होने की माँग को छोड़ दिया और भारतीय संघ में ही 'स्वायत्त राज्य' की माँग प्रस्तुत की। सन् 1970 में द्रमुक के तत्वावधान में 'राज्य स्वायत्तता सम्मेलन' आयोजित किया गया और राज्य स्वायत्तता की माँग की गई। राज्य के तात्कालिक मुख्यमंत्री करुणानिधि ने चुनौती दी की यदि उनकी माँग स्वीकार नहीं की जाती है तो वे जनआंदोलन का भी सहारा लेंगे। एक बार तो उन्होंने पृथक् ध्वज की भी माँग की। क्षेत्रीय दल होने के कारण द्रमुक ने सदैव क्षेत्रीय भावना को भड़काया है। करुणानिधि ने तो यहाँ तक कह डाला कि राज्य की नौकरियों में 80% स्थान स्थानीय लोगों को दिए जाएंगे।

2. अकाली दल की माँग–मास्टर तारासिंह के नेतृत्व में पंजाब के सिख संप्रदाय ने स्वाधीनता से पूर्व 'खालिस्तान' की माँग की थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के तुरंत बाद मास्टर तारासिंह ने पृथक 'सिख राज्य' की माँग की। सन् 1950 से 1969 के बीच सिखों ने हिंसात्मक आंदोलनों के माध्यम से 'पंजाबी सूबे' की माँग की और 1 नवंबर, 1966 को पंजाब का विभाजन हुआ इससे भी सिख समुदाय संतुष्ट नहीं हुआ और सिखों के लिए सिख राज्य की माँग उठने लगी। अकाली दल के महासचिव डॉ. जगजीत सिंह ने सिख जनमत को जाग्रत करने के लिए 'सिखिस्तान' की माँग हेतु विभिन्न देशों की यात्रा की। अकाली दल के कई नेता यह धमकी देने लगे कि भारतीय संघ के अंतर्गत सिख राज्य को स्वायत्तता प्रदान नहीं की गई तो वे जन-आंदोलन का सहारा लेंगे। आज अकाली दल राज्यों के लिए अधिक स्वायत्तता की माँग कर रहा है।

3. खालिस्तान की माँग (Demand of Khalistan)–सिखों के लिए पृथक् राज्य 'खालिस्तान' की माँग नई नहीं है। 'सिख देश' की माँग भारत की आजादी के दिनों से पहले की है। खालसा पंथ का कहना है कि सिखों को धोखाधड़ी से भारतीय गणतंत्र में शामिल होने के लिए मजबूर किया गया था। पंथ यह भी कहता है कि भारत के हिंदू बहुमत ने एकजुट होकर इस बात पर जोर देते हुए कि सिख धर्म हिंदू धर्म का ही अंग है, सिख धर्म को बर्बाद करने की कोशिश की और उनकी पंजाबी भाषा को एक बोली मात्र घोषित करके और पंजाब को द्विभाषी प्रदेश बनाकर उनकी भाषा को नीचा दिखाने की कोशिश की।

खालिस्तान की यह माँग (खासतौर से 1980-1992 की अवधि में) एकाएक चिंता का विषय इसलिए बन उठी कि पहले इसका समर्थन कुछ मुट्ठीभर उग्र तत्व करते थे, लेकिन अब प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसके समर्थन में राजनीतिक दल तो आ ही गए, सिखों की वे संस्थाएँ भी अपने मंच का उपयोग इस प्रकार की गतिविधियों के लिए करने लगीं जो केवल गुरुद्वारे और शिक्षा संस्थाओं के प्रबंध से ताल्लुक रखती थीं।

उन दिनों आनंदपुर साहिब में आयोजित शैक्षिक सम्मेलन के मंच से पृथक् सिख राज्य की माँग की गई। इसके बाद शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी ने जिसका गुरुद्वारा और उनकी विशाल संपत्ति पर नियंत्रण है, इसी प्रकार का एक प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया। इस पर अकाली दल के लोंगोवाल गुट का प्रभुत्व है। बाद में पृथक् सिख कौम के रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सह-सदस्यता प्राप्त करने के बारे में अकाली दल के तलवंडी गुट ने प्रस्ताव पास कर दिया। वे भारत संघ के अंदर पृथक् सिख राज्य चाहते हैं।

खालिस्तान आंदोलन को विदेशों में रहने वाले सिखों की एक बड़ी संख्या का समर्थन प्राप्त हुआ। यह

आंदोलन अमेरिका में बसे गंगासिंह ढिल्लों और इंग्लैण्ड में बसे जगजीतसिंह द्वारा चलाया गया। उनका अपना ध्वज है, निर्वासित सरकार है, लंदन में मुख्य कार्यालय है। उत्तरी अमेरिका के लगभग सभी बड़े शहरों में गुप्त संगठन हैं और वे इस कोशिश में लगे हुए हैं कि संयुक्त राष्ट्र में उन्हें वही सहभागी दर्जा दिया जाए जो फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन को प्राप्त है। पृथक्तावादी आंदोलन के संगठनों का दावा है कि कनाडा में उनके सदस्यों की संख्या 10,000 है जो मासिक प्रतिव्यक्ति 10 डॉलर चंदे के हिसाब से खालिस्तान गणतंत्र के निर्माण के लिए प्रतिवर्ष लगभग 12 लाख डालर इकट्ठे करते हैं।

आनंदपुर साहिब में शैक्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए गंगासिंह ढिल्लों ने कहा कि खालिस्तान की माँग सिक्खों के हितों की रक्षा के लिए की जा रही है। आजादी के बाद भारत में सिखों के साथ भेदभाव बरता गया है। इसलिए जरूरी है कि सिखों का एक पृथक् राज्य हो जहाँ उन्हीं का बोलबाला हो।

वस्तुत: यह तर्क काफी खोखला है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि भारत में सिखों की जनसंख्या केवल दो प्रतिशत है, लेकिन सेनाओं में ग्यारह प्रतिशत सिख हैं। इस प्रकार पुलिस व अन्य असैनिक सरकारी सेवाओं में भी उन्हें जनसंख्या के अनुपात से अधिक स्थान प्राप्त हैं। केंद्रीय मंत्रिमंडल में सिख हैं, राज्यपाल सिख हैं, राष्ट्रपति (श्री जैलसिंह) सिख रह चुके हैं तथा पंजाब में जहाँ केवल आधी आबादी सिख है, अब तक हमेशा सिख मुख्यमंत्री रहा है। इस प्रकार यह कहना कि भारत में सिखों के हितों की उपेक्षा की जा रही है, सरासर गलत है।

4. असम में मिजो माँग—असम राज्य के मिजो पहाड़ी जिलों के नेता भारतीय संघ से पृथक् होने की लगातार माँग करते रहे हैं। वे एक 'स्वाधीन मिजो राज्य' की स्थापना करना चाहते थे। इस ध्येय की पूर्ति के लिए 'मिजो राष्ट्रीय फ्रंट' की स्थापना की गई। मिजो लोगों ने सशस्त्र आंदोलन का मार्ग अपनाया। 1962 के चीनी आक्रमण के समय फ्रंट पर प्रतिबंध लगा दिया गया किंतु कछार और त्रिपुरा क्षेत्रों में इनकी गतिविधियाँ चलती रहीं। सन् 1971 में मिजो नेता राज्य की माँग के प्रश्न पर जनमत संग्रह कराने की माँग करने लगे। मिजो लोगों की राजनीतिक आकांक्षाओं को देखते हुए केंद्रीय सरकार ने 'मिजोरम' नामक संघीय क्षेत्र की स्थापना की और सन् 1987 में इसे पूर्ण 'राज्य' का दर्जा प्रदान किया।

5. असम में नागा आंदोलन—असम में नागा जाति ने भी भारतीय संघ से अलग होने का आंदोलन छेड़ा। फीजो के नेतृत्व में नागा राष्ट्रीय परिषद् की स्थापना की गई और हिंसात्मक संघर्ष की सक्रिय गतिविधियाँ प्रारंभ कर दी गईं। सन् 1952 में नागा लोगों ने प्रथम आम चुनाव का बहिष्कार किया। फीजो ने यहाँ तक कहा कि वे नागा लोगों को संयुक्त राष्ट्र संघ में ले जाएंगे। 1960 में नागाओं और केंद्रीय सरकार के मध्य एक समझौता हुआ जिसके फलस्वरूप नागा राज्य की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ।

6. पृथक् तेलंगाना आंदोलन—1960 में तेलंगाना को पृथक् राज्य बनाने की माँग की गई। तेलंगाना के लोगों का कहना था कि उनके क्षेत्र का समुचित आर्थिक विकास नहीं हो रहा है। जनवरी 1969 से पृथक् राज्य के लिए आंदोलन प्रारंभ हुआ जिसका नेतृत्व डॉ. चेन्ना रेड्डी एवं 'तेलंगाना प्रजा समिति' जैसे संगठन ने किया। हाल में 1969 की तरह फिर एक बार पृथक् तेलंगाना की माँग जोर पकड़ने लगी। पृथक् तेलंगाना की माँग करने वालों को डॉ. चेन्ना रेड्डी का परदे के पीछे से समर्थन प्राप्त था। 8 जुलाई, 1985 को तेलंगाना के प्रबल समर्थक पूर्वपार्षद पद्मनाभन ने ध्वज फहराकर आंदोलन की शुरुआत की।

7. स्वतंत्र गोरखालैंड की माँग—1986—प. बंगाल के पहाड़ी क्षेत्र के लोगों ने स्वतंत्र गोरखालैंड की माँग प्रस्तुत की है। मई 1988 में दार्जिलिंग एवं कालिमपोंग में तीन दिन का सफल बंद गोरखा मुक्ति मोर्चे ने आयोजित किया। नेपाल से आए गोरखा लोगों ने इस संगठन के माध्यम से यह माँग रखी कि उनका स्वतंत्र देश गोरखा लैंड बनाया जाए। सुभाष घीसिंग के नेतृत्व में गोरखा मुक्ति मोर्चा पिछले कई वर्षों से प. बंगाल में सक्रिय है।

8. स्वतंत्र कश्मीर का सपना—हाल ही में कश्मीर में उग्रवादियों की गतिविधियों में वृद्धि हुई है। अधिकांश कश्मीरी कल्पनालोक में रहना चाहते हैं और उनमें यह धारणा बढ़ती जा रही है कि उग्रवादियों के प्रयासों और इस्लामाबाद की मदद से स्वतंत्र कश्मीर की स्थापना संभव है। पाकिस्तान ने अपने हथकंडे बदल दिए हैं और उसने भारत के साथ विलय को निष्प्रभावी करने के लिए स्वतंत्र कश्मीर की माँग का समर्थन करना आरंभ कर दिया है।

क्षेत्रीयतावाद और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का अभ्युदय (Regionalism and Regional Political Parties)

पिछले कुछ वर्षों से भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों का निर्माण एवं प्रभाव बढ़ता जा रहा है। लगभग सभी क्षेत्रीय दलों का उदय और विकास क्षेत्रवाद के लिए उत्तरदायी अनेक कारणों के मिश्रण से ही होता है। तमिलनाडु में डी.एम.के और अन्ना डी.एम.के., पंजाब में अकाली दल, जम्मू-कश्मीर में नेशनल कॉन्फ्रेंस, आंध्र प्रदेश में तेलुगुदेशम् एवं तेलंगाना राष्ट्र समिति, असम में असम गण परिषद् प्रधान क्षेत्रीय दल हैं। इसके अतिरिक्त नागालैंड, त्रिपुरा और महाराष्ट्र में भी क्षेत्रीय दलों का स्वर प्रबल होता जा रहा है।

अकाली दल और द्रमुक दोनों ही के कार्यक्रम से स्पष्ट होता है कि क्षेत्रीय दल राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में सत्ता के लिए अधिक आकृष्ट हैं न कि केवल आर्थिक और सांस्कृतिक स्वरूप को बनाए रखने में।

4.10 क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम (Evil Consequences of Regionalism)

क्षेत्रीयता की भावना जन-जीवन में जड़ पकड़ने के कारण आज हमारा देश केवल भारत और पाकिस्तान में ही नहीं अपितु एकाधिक क्षेत्रों में बंट गया है और प्रत्येक क्षेत्र में लोग दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का बीड़ा उठा चुके हैं। क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणाम इस प्रकार हैं:

1. **विभिन्न क्षेत्रों के बीच संघर्ष और तनाव**–संकीर्ण क्षेत्रवाद का प्रथम दुष्परिणाम हमें भारत में देखने को मिलता है। वह यह है, कि इसके कारण विभिन्न क्षेत्रों के बीच आर्थिक, राजनीतिक यहाँ तक कि मनोवैज्ञानिक संघर्ष और तनाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक क्षेत्र अपने स्वार्थों या हितों को सर्वोच्च स्थान दे बैठता है और उसे यह चिंता नहीं होती कि उससे दूसरे क्षेत्रों को कितना नुकसान होगा।

2. **राज्य तथा केंद्रीय सरकार के बीच संबंधों का विकृत होना**–भारत में क्षेत्रीयता के कारण केंद्रीय सरकार तथा राज्य सरकार के बीच का संबंध कभी-कभी अत्यंत कटु रूप धारण कर लेता है। प्रत्येक क्षेत्र के हित समूह, क्षेत्रीय नेतागण, बड़े-बड़े उद्योगपति या राजनीतिज्ञ अपने-अपने क्षेत्र के स्वार्थों को प्राथमिकता देते हैं और केंद्रीय सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रत्यन करते हैं। केंद्रीय सरकार जिसकी तरफ भी थोड़ा-सा झुक गई वहीं विवाद का विषय बन जाता है और राज्य सरकारों का पारस्परिक संबंध सौहार्दपूर्ण नहीं रह पाता है।

3. **स्वार्थी नेतृत्व व संगठन का विकास**–क्षेत्रीयता का एक और दुष्परिणाम यह होता है कि इसके फलस्वरूप अलग-अलग क्षेत्र में कुछ इस प्रकार के नेतृत्व व संगठनों का विकास हो जाता है जो कि जनता की भावनाओं को उभारकर अपने संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते हैं। इस प्रकार के नेताओं व संगठन को न तो क्षेत्रीय हितों और न ही राष्ट्रीय हितों का तनिक भी ख्याल रहता है, उसका समस्त ख्याल तो अपनी लोकप्रियता को बढ़ाकर अपने ही स्वार्थों को सिद्ध करने पर केंद्रित हो जाता है। ये नेतागण कभी तो भाषा के प्रश्न को लेकर हंगामा मचाते हैं और कभी केंद्रीय सरकार के पक्षपातपूर्ण व्यवहार के विरुद्ध नारा लगाने के लिए सामने आ खड़े होते हैं, चाहे इनमें से कोई भी समस्या वास्तविक हो या केवल काल्पनिक।

4. **भाषा की समस्या का अधिक जटिल होना**–क्षेत्रीयता का एक और बुरा प्रभाव यह होता है कि क्षेत्रीय वफादारी (Regional loyalty) भाषा की समस्या को सुलझाने में सहायक के स्थान पर उसे और भी जटिल बनाने में मदद करती है। क्षेत्रीय वफादारी का सीधा संबंध क्षेत्रीय या प्रादेशिक भाषा के प्रति विशेष लगाव से होता है जिसके कारण प्रादेशिक भाषा को आवश्यकता से अधिक महत्त्व प्रदान करने की गलती उस क्षेत्र के लोग कर बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि अन्य किसी भाषा के प्रति सहिष्णुता की भावना बिल्कुल ही नहीं रह जाती और विभिन्न भाषाभाषी क्षेत्रों के बीच भाषा के प्रश्न को लेकर कटुता बढ़ती चली जाती है। क्षेत्रीयता का यह परिणाम जनकल्याण और राष्ट्रीय प्रगति के दृष्टिकोण से अत्यंत घातक सिद्ध होता है।

5. **राष्ट्रीय एकता को चुनौती**–संकीर्ण क्षेत्रीयता राष्ट्रीय एकता के लिए एक चुनौती बन जाती है। क्षेत्रीयता के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के बीच जो तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वह राष्ट्रीय एकता की समस्त धारणाओं और भावनाओं पर तुषारापात करती है; क्योंकि क्षेत्रीयता के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों के लोगों

में कभी क्षेत्रीय स्थार्थों को लेकर, कभी राजनीतिक स्वशासन या पृथक् राज्य के प्रश्न को लेकर तो कभी प्रादेशिक भाषा के प्रश्न को लेकर जो झगड़े या मनमुटाव खड़े हो जाते हैं वे राष्ट्रीय एकता के लिए घातक सिद्ध होते हैं।

क्षेत्रीयतावाद: आलोचनात्मक मूल्यांकन (Regionalism: Critical Evaluation)

क्षेत्रीयता के आधार पर राज्य केंद्र से सौदेबाजी करने लगे और अपनी जड़ों को मजबूत करने के लिए राजनीतिक दल प्रादेशिकता की भावना का प्रचार करने लगे। प्रादेशिकता के आधार पर चुनावों में उम्मीदावार का मनोनयन किया जाने लगा। सरकार के गठन में क्षेत्रीयता को मानदंड बनाया जाने लगा।

क्षेत्रीयतावाद का भारतीय राजनीति की शैली पर काफी प्रभाव पड़ा तथा आंदोलनात्मक राजनीति को बढ़ावा मिला। क्षेत्रीय आंदोलनों को चलाने के लिए आर्थिक विषमता, धर्म, जाति और भाषा का सहारा लिया गया। यथार्थ में, क्षेत्रीयता की समस्या आज भारत की राष्ट्रीय एकता के मार्ग में कंटक बन गई है। संघर्षात्मक प्रादेशिकता की भावना को समाप्त कर उदार सहयोगी प्रादेशिकता की भावना के प्रसार की आवश्यकता है।

डॉ. रशीदउद्दीन खां ने क्षेत्रीयतावाद के सकारात्मक पक्ष की चर्चा करते हुए लिखा है कि यह धारणा गलत साबित हुई कि क्षेत्रीयतावाद के कारण भारतीय संघ छिन्न-भिन्न हो जाएगा अपितु यह मत अधिक सही साबित हुआ कि क्षेत्रीयतावाद या उप-राष्ट्रवाद में सह-अस्तित्व संभव है। वस्तुत: भारत में क्षेत्रवाद सामान्यत: पृथकतावादी नहीं है। क्षेत्रवाद का लक्ष्य केवल क्षेत्र अथवा समुदाय विशेष के लिए अधिक सुविधाएँ प्राप्त करना है। इसका अनिवार्य अर्थ यह नहीं है कि वह अन्य क्षेत्रों के विकास अथवा राष्ट्र की अखंडता के विरुद्ध है, बल्कि एक सीमा तक इस प्रकार के क्षेत्रवाद ने भारत के विकास को गति प्रदान की है। अनेक ऐसी योजनाएँ और कार्यक्रम हैं जो शायद धीमे पड़े हुए थे, क्षेत्रीय दबावों के कारण तीव्र हुए हैं। साथ ही क्षेत्रवादी नेतृत्व ने सत्ता में रहकर अपने दावों को उचित साबित करने के लिए अपने राज्यों के विकास के लिए विशेष प्रयत्न किए हैं। इन राज्यों के विकास से सारे देश को भी लाभ होता है। तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश, पंजाब और हरियाणा में विकास की गति इसका प्रमाण है। निस्संदेह खालिस्तान, समय-समय पर कश्मीर तथा उत्तरी-पूर्वी सीमांत राज्यों में कुछ आंदोलन पृथकतावादी भी हैं, परंतु इनका समर्थन और प्रभाव अधिक नहीं है।

छात्र क्रियाकलाप

1. जाति के राजनीतिकरण की क्या विशेषताएँ हैं?

2. क्षेत्रीयतावाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन करो।

4.11 सारांश (Summary)

- भारत में जाति ऐसे समुदाय हैं जिसका अपना विकसित जीवन है और इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है।
- स्वाधीनता संग्राम के दौरान ऐसा दिखता था कि जनता पर जातिवाद का प्रभाव कम हो रहा है, किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत जातिवाद ने फिर जोर पकड़ा और वयस्क मताधिकार व्यवस्था के देश में लागू कर दिए जाने के परिणामस्वरूप यह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदित हुआ है।
- भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन करना अत्यंत कठिन कार्य है। कई लोग जाति को राजनीति का कैन्सर मानते हैं। जाति-प्रथा को राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक माना जाता है क्योंकि इससे व्यक्तियों में पृथकतावाद की भावना जाग्रत होती है।
- यदि राजनीति असामाजिक तत्त्वों की अंतिम शरणस्थली है और धर्म जनता का नशा, तो इन दोनों के अंत:सम्बंध से निश्चित रूप से विनाश का ही रास्ता खुलता है।
- आदर्श रूप में प्रत्येक धर्म सभी का धर्म होना चाहिए। किसी व्यक्ति में अपने धर्म के साथ ही दूसरे धर्म के प्रति भी समान सम्मान का भाव होना चाहिए।
- क्षेत्रवाद का अर्थ किसी क्षेत्र के लोगों की उस भावना एवं प्रयत्नों से है जिनके द्वारा वे अपने क्षेत्र विशेष के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक शक्तियों में वृद्धि चाहते हैं।
- क्षेत्रीयतावाद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष पृथक् राज्य की माँग रही है। आर्थिक पिछड़ेपन, जाति, भाषा, धर्म को लेकर विभिन्न क्षेत्रों द्वारा पृथक् राज्य की माँग समय-समय पर उठाई गई तथा क्षेत्रीय आंदोलनों की शुरुआत की गई।
- स्वाधीनता के तुरंत बाद मुख्य प्रश्न यह था कि देश की राष्ट्रभाषा और उसकी लिपि क्या हो तथा भाषायी अल्पसंख्यकों को किस प्रकार संरक्षण दिया जाए। संविधान ने हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित किया। भाषा के आधार पर राज्यों का निर्माण एवं पुनर्गठन हुआ।
- क्षेत्रीयता की भावना जन-जीवन में जड़ पकड़ने के कारण आज हमारा देश केवल भारत और पाकिस्तान में ही नहीं अपितु एकाधिक क्षेत्रों में बंट गया है और प्रत्येक क्षेत्र में लोग दूसरों पर अपनी श्रेष्ठता को प्रमाणित करने का बीड़ा उठा चुके हैं।

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. जाति से क्या तात्पर्य है? इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताओ।
2. जाति के राजनीतिक रूप को समझाइये। प्रो. रजनी कोठारी ने जाति-प्रथा के कितने रूप प्रस्तुत किए हैं?
3. भारतीय राजनीति में जाति की क्या भूमिका है?
4. धर्म और राजनीति पर अपने विचार व्यक्त करें।
5. क्षेत्रीयतावाद का क्या अर्थ है? भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद के क्या कारण हैं?
6. भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावाद की चर्चा किन आधारों पर की जा सकती है?
7. क्षेत्रीयतावाद के दुष्परिणामों का उल्लेख करो।

संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

1. Rajneeti Shastra ke Mool Siddhant (Hindi) —Iqbal Narain
2. Modern Politics and Government — Alan R. Ball
3. Politics in India — Kothari, Rajni — Orient Longman Ltd, Delhi, 1972
4. Politics Sociology — Nagla, B.K. — Rawat, Jaipur, 1999

नोट

इकाई–5
Unit–V

लोकमत, लोकतन्त्र में मीडिया की भूमिका एवं राजनीतिक समाजीकरण

(Public Opinion, Role of Media in Democracy and Political Socialization)

संरचना (Structure)

5.1 उद्देश्य (Objectives)
5.2 प्रस्तावना (Introduction)
5.3 लोकमत का अर्थ एवं परिभाषा (The Meaning and definition of Public Opinion)
5.4 लोकमत का निर्माण तथा अभिव्यक्ति (Formation and Expression of Public Opinion)
5.5 स्वस्थ लोकमत के निर्माण की पूर्व शर्तें (Pre-requisites of Sound Public Opinion)
5.6 लोकतंत्र और लोकमत (Democracy and Public Opinion)
5.7 अशिक्षित समाजों में संचार की समस्याएँ (Problems of Communication in illiterate Society)
5.8 लोकतंत्र में मीडिया की भूमिका (Role of Media in Democracy)
5.9 समाज निर्माण में समाचारपत्र की भूमिका (Role of Newspapers in Social Development)
5.10 कार्यपालिका में संचार-साधनों का योगदान एवं प्रचार की भूमिका (Contribution of means of Communication and Role of Propaganda in Executive)
5.11 सामाजिक जीवन का राजनीतिकरण या राजनीतिक समाजीकरण (Politicization of Social Life or Political Socialization)
5.12 राजनीतिक समाजीकरण का संप्रत्ययीकरण एवं प्रक्रिया (Conceptualization and Concept of Political Socialization)
5.13 राजनीतिक समाजीकरण के निर्माणक तत्व (Determinants of Political Socialization)
5.14 सारांश (Summary)
- अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)
- संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

5.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- लोकमत का अर्थ और विशेषताएँ जानने में;

- लोकमत के निर्माण एवं इसमें उपयोगी साधनों की जानकारी प्राप्त करने में;
- लोकतंत्र में मीडिया की भूमिका को समझने में;
- राजनीतिक समाजीकरण के निर्माणक तत्त्वों की व्याख्या करने में।

नोट

5.2 प्रस्तावना (Introduction)

लोकमत संबंधी प्रारंभिक विचार-विमर्श करने वाले केवल दार्शनिक ही होते थे। अधिकांश शासन-व्यवस्थाओं के प्रशासन में जनता की प्रत्यक्ष सहभागिता के अभाव में लोकमत की व्यावहारिक चर्चा का प्रश्न भी नहीं उठता था। जनतांत्रिक व्यवस्थाओं के आगमन के बाद भी लोकमत का दार्शनिक दृष्टि से किया गया अर्थ ही प्रचलित रहा। टाक्विल, जैफरसन, यहाँ तक कि वाल्टर, लिपमान ने भी लोकमत को परम्परागत ढाँचे में ही समझने का प्रयास किया था। परंतु 1930 के बाद विशेषकर गेलप पोलस (Gallup Polls) के शुरू होने के साथ ही लोकमत का नये अर्थों में प्रयोग होने लगा। इस नये अर्थ में सभी लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्थाओं में लोकमत को ही सरकारी अधिकारियों की गतिविधियों का नियामक व संचालक माना जाने लगा है। मतदान आचरण में लोकमत की अभिव्यक्ति का व्यावहारिक उपकरण प्राप्त हो जाने के कारण लोकमत का महत्त्व बढ़ता गया है।

5.3 लोकमत का अर्थ व परिभाषा (The Meaning and Definition of Public Opinion)

लोकमत को जन-इच्छा (will of the people) कहा गया है। परंतु इससे न तो इसका अर्थ स्पष्ट होता है और न ही इसकी प्रकृति के बारे में कुछ ज्ञान होता है, क्योंकि जन इच्छा या जनता की राय का अर्थ उतना ही अस्पष्ट है जितना लोकमत का अर्थ है। अनेक विद्वानों ने इसका अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए, कुछ लोगों के अनुसार निर्वाचनों में चुनाव परिणाम, चुनाव अभियान के प्रमुख प्रश्नों पर, लोकमत की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। कुछ अन्य लोगों के अनुसार, लोकमत नागरिकों को अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों से सम्प्रेषणता से उत्पन्न होता है। विद्वानों की एक श्रेणी जैसे रूसो इत्यादि के लिए तो लोकमत एक रहस्यात्मक शक्ति है। वह इसे सामान्य इच्छा (general will) की अवधारणा में लिप्त करके सभी अच्छी व शुद्ध बातों के समर्थन में आधारभूत मानता है। वाल्टर लिपमान ने अपनी उत्कृष्ट पुस्तक पब्लिक ओपिनियन में लोकमत को अनुभवातीत (transcendent Phenomenon); जिसकी अपनी स्वयं की अनुभूति व जीवन है, से नीचे उतारकर जनता के व्यक्तिगत विचारों से जोड़ने का कार्य किया है। इसके साथ ही लोकमत का व्यावहारिक रूप में अर्थ किया जाने लगा है।

लॉर्ड ब्राइस ने लोकमत का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "समाज पर प्रभाव डालने वाले अथवा उसके हितों से संबंधित प्रश्नों के विषय में मनुष्यों की जो धारणाएँ होती हैं, उन्हीं के योग के अर्थ में साधारणतया इस शब्द (लोकमत) का प्रयोग किया जाता है। इस दृष्टि से यह सब प्रकार की भ्रान्त धारणाओं, विश्वासों, कल्पनाओं विचारों तथा आकांक्षाओं का एक सम्मिश्रण होता है।"

लोकमत को लेविस बहुमत का मत कहते हैं। परंतु लावेल ने लेविस के मत से असहमति प्रकट की है। उसका विचार है कि "लोकमत बनाने के लिए बहुमत काफी नहीं है।" वह लोकमत के लिए सर्वसम्मति भी आवश्यक नहीं मानता है क्योंकि सामान्यतया किसी भी समुदाय के विचारों में पूर्ण मतैक्य नहीं रहता है। अत: लावेल के अनुसार, "लोकमत विवेक और निस्वार्थ भावना के ऊपर आधारित वह विचार है जिसका लक्ष्य जाति अथवा वर्ग विशेष का हित न होकर संपूर्ण समाज का हित होता है।" लेविस व लावेल द्वारा दिये गये लोकमत के अर्थ उतने ही अस्पष्ट हैं जितना अस्पष्ट ब्राइस द्वारा दिया गया अर्थ है, क्योंकि इनसे समाज का हित किसे कहेंगे यह स्पष्ट नहीं होता है। जिन्सबर्ग ने लोकमत को स्थायित्व व सामाजिकता के साथ जोड़ते हुए परिभाषित किया है। उसके शब्दों

में, "लोकमत का अभिप्राय समाज में प्रचलित उन विचारों और निर्णयों के पुंज से होता है, जो न्यूनाधिक निश्चित रूप में प्रतिपादित होते हैं, जिनमें से कुछ में स्थायित्व होता है और जिनको मानने वाले लोग उन्हें इस अर्थ में सामाजिक समझते हैं कि वे अनेक मस्तिष्कों द्वारा एक साथ विचार किये जाने के परिणाम हैं।" इस परिभाषा से भी लोकमत की अवधारणा का विशेष स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है। कोरी व अब्राहम ने इस पर और अधिक गहराई से विचार करके इसका अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इन्होंने लोकमत जैसी विवादग्रस्त अवधारणा को समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक माना है कि लोकमत क्या है? इन्होंने लोकमत को नकारात्मक व सकारात्मक दोनों ही दृष्टिकोणों से समझाने का प्रयास किया है।

कोरी तथा अब्राहम के अनुसार "लोकमत किसी भी रूप में अनिवार्यत: पूर्ण बहुमत की राय नहीं है, क्योंकि किसी भी विषय पर अनेक और विभिन्न लोकमत हो सकते हैं, और यह ज्ञात करना वास्तव में दुष्कर है कि एक सच्चे बहुमत की राय क्या है?" अत: इन्होंने भी लोकमत को लावेल की तरह ही बहुमत को समानार्थी नहीं माना है। वे लोकमत को सबका मत भी नहीं मानते हैं, क्योंकि समाज में सभी का एकमत होना केवल कल्पनात्मक ही रहता है। इसलिए लोकमत को बहुमत या सर्वसम्मति का मत कहना भ्रांतिपूर्ण ही माना जाता है। लोकमत क्या नहीं है यह बताने के बाद कोरी तथा अब्राहम ने लोकमत क्या है यह समझाने का प्रयास किया है। उन्होंने लिखा है कि "यदि हम 'लोक' को 'मत' से पृथक करें तो 'लोक' का आशय एक समूह से है। यह वह समूह है जो किसी भी विवाद विशेष या समस्या विशेष पर अपना ध्यान देता है। अब हम 'मत' को लें तो यह विवाद विशेष पर लोगों की अभिवृत्ति की अभिव्यक्ति है। इस तरह 'लोकमत' समस्या विशेष पर व्यक्तियों के विभिन्न मतों का योग हुआ। इसमें केवल वे ही मत सम्मिलित होते हैं जो विवाद अथवा स्थिति विशेष से संबंधित हों, लोगों के सभी प्रकार के मत इसमें सम्मिलित नहीं रहते हैं।" इस प्रकार लोकमत परस्पर भिन्न व संघर्षी विचारों का योग होता है। सरल शब्दों में लोकमत किसी समस्या विशेष पर समाज के विविध विचारों का अपेक्षाकृत स्थायी व समन्वयी मत होता है।

लोकमत की प्रकृति व विशेषताएँ (Nature and Characteristics of Public Opinion)

लोकमत के अर्थ व परिभाषा से इसकी प्रकृति व विशेषताओं का संकेत मिलता है। यह न सबका मत है और न ही कुछ व्यक्तियों का उग्र रूप से उच्चारित मत है। यह तो ऐसा मत है जो संपूर्ण समाज संदर्भी होने के साथ ही साथ तर्कपूर्ण व विवेकी होता है। इसका संबंध संपूर्ण समाज के मूल्य व्यवस्था व सार्वजनिक हित से होता है। लोकमत की विभिन्न परिभाषाओं में इसकी विशेषताओं का परिलक्षण होता है। इनमें से कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

(1) लोकमत सामान्यतया जनसाधारण का मत होता है। किसी वर्ग या कुछ व्यक्तियों के मत को लोकमत नहीं कहा जाता है, परंतु एक अवस्था में किसी वर्ग या कुछ व्यक्तियों के मत को अगर वह लोक-कल्याण की साधना के लक्ष्य से प्रेरित हो तो लोकमत कहा जा सकता है। इसी आधार पर सबका मत व बहुमत, अगर वह सार्वजनिक हित के लक्ष्य से विमुख हो तो लोकमत नहीं कहा जाता है। यही कारण है कि आधुनिक लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्थाओं में भारी बहुमतों पर आधारित सरकारों को भी अगर वे सार्वजनिक हितों की उपेक्षा करते हुए केवल बहुमत की हित-साधना ही करती हों तो लोकमत की अभिव्यक्त सरकारें नहीं माना जाता है।

(2) लोकमत सार्वजनिक हित व लोक-कल्याण की भावना से उत्प्रेरित होता है। इसकी अभिव्यक्ति संपूर्ण समाज के हित में ही होती है। यह कुछ लोगों के हितों में अथवा कुछ के अहित में नहीं हो सकता है। इसके आधार पर पक्षपात या द्वेष भी नहीं किया जा सकता है। अन्यथा यह सार्वजनिक हित के स्थान पर कुछ के हित साधन का माध्यम बनकर लोकमत ही नहीं रह जाएगा। डॉ. बेनी प्रसाद ने लोकमत की मौलिक व सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता लोक-कल्याण की भावना को ही माना है। किसी भी मत को लोकमत बनाने में इस विशेषता की निर्णायकता रहती है। उसने इस संबंध में लिखा है, "वही मत वास्तविक लोकमत होता है, जो जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होता है।" लावेल ने इसी आधार पर लोकमत को बहुमत व सर्वसम्मति से भिन्न माना है। उसके अनुसार लोकमत के लिए बहुमत यथेष्ट

नहीं है और सर्वसम्मति की भी आवश्यकता नहीं है। किंतु मत ऐसा होना चाहिए कि चाहे अल्प-संख्यकों ने उससे सहमति प्रकट न की हो, तब भी वे उसे भय से नहीं विश्वास से मानने के लिए तैयार हों।" परंतु यह तभी संभव होता है, जब वह मत सार्वजनिक हित में हो। अत: सार्वजनिक हित की भावना लोकमत की आधारभूत विशेषता बन जाती है। इसी आधार पर हम अल्पमत, बहुमत, सर्वसम्मति व लोकमत के बीच अंतर कर सकते हैं अन्यथा हर मत लोकमत बन जाएगा।

(3) लोकमत जनता का अपेक्षाकृत स्थाई मत होता है। यह तर्कपूर्ण तथा विवेक पर आधारित होने के कारण अस्थिर आवेगों व भावनाओं के उफानों से संबंधित मत से भिन्न होता है। हम ऊपर देख आये हैं कि लोकमत जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होता है तथा जन-कल्याण की बातें क्षण-क्षण परिवर्तित होने के स्थान पर स्थायित्व के लक्षण से युक्त होती हैं। अत: जन कल्याण पर आधारित मत भी स्थायी हो जाता है। यहाँ यह ध्यान रखना है कि स्थायित्व जड़ता का सूचक नहीं है। समाज की परिस्थितियाँ आवश्यकताएँ, व आदर्श भी धीरे-धीरे बदलते जाते हैं और इसी के अनुरूप सार्वजनिक हित के लक्ष्य दब जाते हैं। अत: लोकमत जड़ता के स्थान पर गत्यात्मकता की ही विशेषता से युक्त कहा जा सकता है।

(4) लोकमत समाज की मूल्य व्यवस्था व आदर्शों से गठबंधित होता है। सार्वजनिक हितों की व्याख्या वास्तव में समाज की मूल्य व्यवस्था के संदर्भ में ही की जा सकती है। हर उस बात को सार्वजनिक हित का साधक माना जाता है जो अंतत: समाज के आदर्शों व गन्तव्यों तक पहुँचाने वाली होती है। लोकमत जन-कल्याण के लक्ष्य से प्रेरित होने के कारण ही समाज की मूल्य-व्यवस्था का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रक्षक माना जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब शासकों द्वारा समाज के मूल्यों का अतिक्रमण हुआ है तब-तब लोकमत ने लोगों को क्रांति के लिए तैयार किया है। अत: लोकमत नैतिकता और न्याय के आदर्शों से युक्त समाज की मूल्य व्यवस्था से गठबंधित रहता है।

इस प्रकार लोकमत सामान्यतया जन साधारण का ऐसा मत है जो अपेक्षाकृत स्थायी, विवेकी व सार्वजनिक हित-साधन के लक्ष्य से उत्प्रेरित तथा समाज के आदर्शों का रक्षक होता है।

5.4 लोकमत का निर्माण तथा अभिव्यक्ति (Formation and Expression of Public Opinion)

लोकमत का निर्माण किस प्रकार से होता है यह निश्चित रूप से कह सकना कठिन है। समाज में व्यक्ति की संपर्कता इतने व्यक्तियों, समूहों, संस्थाओं व प्रक्रियाओं से होती है कि किसका किसी विचार विशेष के बनाने में कितना योगदान रहा है सुनिश्चित रूप से कह सकना असंभव है। एक ही समस्या विशेष के बारे में एक व्यक्ति का विचार एक कारण से, तो दूसरे व्यक्ति का विचार किसी अन्य कारण से प्रभावित हो सकता है। अत: लोकमत के निर्माण के बारे में यही कहा जा सकता है कि इसकी निर्माण-प्रक्रिया अत्यंत ही जटिल है और इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व लक्षणों से लेकर बाहर की समूह व्यवस्था, राजनीतिक संरचनाओं व प्रक्रियाओं तक का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। यह स्वत: ही बनता है तथा छलयोजित भी किया जा सकता है। निरंकुश शासन-व्यवस्थाओं में लोकमत को अपने पक्ष में बनाने के लिए तानाशाह सहमति का अभियंत्रण (Engineering of consent) व छलयोजन (manipulation) तक करते रहे हैं, परंतु लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में लोकमत का विकास व निर्माण सामान्यतया स्वतंत्रतापूर्वक तथा अनेक साधनों से होता है। इन साधनों व तत्त्वों में से प्रमुख का वर्णन नीचे दिया जा रहा है–

(क) मानव तत्त्व (Human elements)–लोकमत के निर्माण में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका मानवीय तत्त्वों की है। इसके निर्माण के अन्य साधनों की प्रभावकारिता भी बहुत कुछ मानव तत्त्व के ऊपर ही निर्भर करती है। उदाहरण के लिए, समाचारपत्रों की लोकमत के निर्माण में भूमिका इस अवस्था में आधारभूत हो जाती है जब समाज के नागरिक समाचारपत्र अनिवार्यत: पढ़ते हों तथा उनमें अभिव्यक्त विचारों को सोच-समझकर स्वीकार या अस्वीकार करते हों। इन्हीं की लोकमत के विकास में भूमिका उस समाज में नगण्य रह जाएगी जहाँ व्यक्ति साक्षर

नोट

होते हुए भी समाचारपत्र पढ़ना पसंद नहीं करते हों। अत: मानव तत्त्व लोकमत के निर्माण के आधार स्थितियों का निरूपण करने के कारण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हर मानव समाज में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं तथा इनमें से हर एक के लक्षण विशेष होने के कारण इनकी लोकमत के निर्माण में पृथक भूमिका हो जाती है। व्यक्तियों को हर समाज में मोटे रूप से इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है–

(*i*) चिंतनशील व्यक्ति,

(*ii*) अध्ययनशील व्यक्ति,

(*iii*) कर्मशील व्यक्ति।

हर समाज में चिंतनशील या विचारवान व्यक्तियों के द्वारा ही नये विचार का जन्म होता है तथा प्रचलित विचारों का युक्ति-युक्त ढंग से परीक्षण व परिमार्जन होता है। यह सार्वजनिक मामलों में न केवल समझ रखते हैं वरन्, इनकी उनमें रुचि भी रहती है। ऐसे व्यक्तियों की संख्या कम ही होती है तथा सभी क्षेत्रों में अग्रणी चिंतक, कुछ नेता व विधायक और लेखक इस श्रेणी में आते हैं। यह समाज की मूल्य-व्यवस्था के जनक व रक्षक होने की अवस्था में होते हैं। यह अपने भाषणों व लेखों द्वारा सार्वजनिक मामलों के संबंध में युक्ति-युक्त ढंग से विचारपूर्ण मत प्रस्तुत करते हैं तथा इनकी सार्वजनिकहितता की तार्किक पुष्टि प्रस्तुत करते हैं। इस श्रेणी में आदर्शवादी दार्शनिकों से लेकर शिक्षक व व्यवहारवादी विचारक तक आ जाते हैं। यह जनमत के निर्माण का धरातल तैयार करते हैं।

अध्ययनशील व्यक्ति स्वयं विचारवान नहीं हों ऐसी बात तो नहीं है। फिर भी यह व्यक्ति प्रचलित विचारों व मतों की परख करने के लिए सभी पहलुओं का अध्ययन करके अपना मत बनाते हैं। इनमें सार्वजनिक मामलों को निष्पक्ष रूप से समझने की क्षमता होती है। यह महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक प्रश्नों पर निष्पक्षता से विचार बनाते हैं। इनके द्वारा चिंतनशील व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत विचार का परीक्षण व परिमार्जन होता है। उसके पक्ष व विपक्ष में विचार बनाने का काम इन्हीं के द्वारा होता है। यह मुख्यत: राजनीति से दूर, विचारधाराओं से उन्मुक्त तथा स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने की स्थिति में होते हैं। अत: इनके द्वारा कुछ की बात, दृष्टिकोण व मत अनेक का मत बनने की अवस्था में आ जाता है।

कर्मशील व्यक्ति अपनी रोजी-रोटी कमाने में इतने उलझे होते हैं कि इन्हें अपने स्वतंत्र विचार बनाने की न फुर्सत होती है तथा न ऐसा कर सकने के लिए आवश्यक शिक्षा व समझ होती है। यह प्राय: अपने से अधिक चतुर लोगों के द्वारा अभिव्यक्त मत को ही अपना मत बना लेते हैं। इन्हीं के द्वारा लोकमत व्यापक आधार प्राप्त करता है तथा प्रभावी शक्ति का रूप धारण करता है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि प्रथम दो श्रेणियों के व्यक्तियों के द्वारा अभिव्यक्त मत उनका स्वार्थी मत भी हो सकता है। ऐसी अवस्था में स्वस्थ जनमत के निर्माण के स्थान पर एकपक्षीय मत बन जाता है जिसे लोकमत नहीं कह सकते। वैसे ऐसा मत भी लोकमत के निर्माण का प्रणेता बन जाता है क्योंकि पक्षपात पूर्ण विचारों के साथ ही साथ अध्ययनशील व्यक्तियों द्वारा सार्वजनिक हित वाले विचारों का सृजन हो जाता है। इस प्रकार सबका सार्वजनिक हितकारी मत का निचोड़ अंतत: लोकमत के रूप में प्रकट हो जाता है।

(ख) परिवार व प्राथमिक समूह (Family and primary groups)–परिवार व प्राथमिक समूहों में व्यक्ति के संस्कारों का निर्माण होता है। जीवन के प्रथम पाठ व्यक्ति को परिवार में ही पढ़ने होते हैं। उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण यहीं ढलता व बनता है। प्रत्यक्ष रूप से परिवार ही मनुष्य के प्रारंभिक ज्ञान का स्रोत होता है। यहाँ वह अनेक प्रकार की कुण्ठाओं से युक्त या मुक्त बनता है। माँ-बाप, भाई-बहन के विचारों का उसके दृष्टिकोण से नकारात्मक व सकारात्मक ढंग से, व्यक्ति के विचारों को ढालने व बनाने का कार्य करता है। अत: व्यक्ति जीवन के सबसे नाजुक काल में परिवार पर उसकी अनिवार्य आश्रितता उसके भविष्य के व्यवहार के लिए विशेष तैयारी कही जा सकती है। इसलिए ही परिवार जनमत के निर्माण की आधारभूत पाठशाला के रूप में जाना जाता है।

प्राथमिक समूहों में व्यक्ति की अन्य व्यक्ति से न केवल आत्मीयता रहती है वरन् इनका उसके विचार विन्यास पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। यह व्यक्ति के समाजीकरण व राजनीतिकरण का प्रथम चरण कहे जा सकते हैं। यही वह समाज व समाज से संबंधित सार्वजनिक मामलों पर अपने विचारों को बनाने की प्रेरणा प्राप्त करता है।

नोट

पड़ोसियों तथा साथ-साथ खेलने वालों से लेकर व्यापक स्तर पर प्राथमिक समूह लोगों के विचारों को प्रभावित करते हुए पाए जाते हैं। इनसे व्यक्ति की ग्रहण की सीमाएँ निर्धारित होने लगती हैं। व्यक्ति बाहर के विचारों के प्रति क्या अनुक्रिया करेगा इसका पाठ वह बहुत कुछ परिवार व प्राथमिक समूहों में ही सीखता है।

(ग) धर्म व धार्मिक संगठन (Religion and religious organisations)–मनुष्य अपने विकास के प्रारंभिक साल में ही धर्म के प्रभाव में आ गया था। धीरे-धीरे धर्म का व्यक्ति के जीवन पर अधिकाधिक नियंत्रण होता गया है तथा आज वैज्ञानिकता के बावजूद धर्म का मानव जीवन पर अमिट प्रभाव बना हुआ है। अत: धर्म सदैव ही मानव मस्तिष्क पर प्रबल प्रभाव डालने वाला रहने के कारण, समाज के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर उसके दृष्टिकोण का नियामक कहा जा सकता है। धर्म व्यक्ति के चरित्र व आंतरिक मानस को ढालने का महत्त्वपूर्ण साधन रहा है। धर्म का प्रभाव इतना अमिट होता है कि विवेक व तर्क द्वारा भी बदला नहीं जा सकता। व्यक्ति के आंतरिक संस्कारों का उसके चिंतन व व्यवहार पर निर्णायक प्रभाव पड़ता है। यद्यपि समान्यतया धर्म एकपक्षीय दृष्टिकोण के विकास का ही प्रेरक होता है फिर भी इससे जनमत के निर्माण में योगदान मिलता है। यह व्यक्ति के मत-निरूपण में बड़ा सहयोगी होता है। यह सही है कि धर्म की भूमिका अधिकतर नकारात्मक ही रहती है पर इस नकारात्मक भूमिका का स्वयं लोकमत के सही प्रतिपादन में गहरा हाथ रहता है।

इसी तरह, धार्मिक संगठन व समूह विभिन्न सार्वजनिक प्रश्नों पर अपने सदस्यों को शिक्षित करते हुए उन प्रश्नों पर उनके विचार निर्माण की भूमिका निभाते हैं। धार्मिक संगठन अन्य संगठनों से कहीं अधिक प्रभावी होते हैं। अन्य संगठनों द्वारा रखे गये विचार को तर्क की कसौटी पर कसा जा सकता है। इस आधार पर उसे स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है, पर धार्मिक संगठन के द्वारा प्रेरित विचार तो देववाणी मानकर अंगीकार कर लिये जाते हैं। अत: धर्म व धार्मिक संगठन जनमत के निर्माण के प्रभावशाली उपकरण कहे जा सकते हैं। वैसे आधुनिक समय में धर्म के प्रभाव को अनेक विद्वान स्वीकार नहीं करते हैं तथा धर्मनिरपेक्षता की दुहाई देते हैं। पर शायद धर्मनिरपेक्षता के कारण धर्म व धार्मिक संगठन जनमानस को सार्वजनिक प्रश्नों पर और अधिक निरूपित करने वाले बन गये हैं। भारत में इसके प्रभाव के प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ते हैं।

(घ) शिक्षण संस्थाएँ (Educational institutions)–लोकमत के निर्माण में शिक्षण-संस्थाओं का योगदान विवाद रहित है। देश के युवक व युवतियों को स्वयं सोचने, निर्णय करने या दूसरों को तर्कसंगत ढंग से समझाने में समर्थ करने वाली शिक्षण संस्थाएँ ही हैं। व्यक्ति शिक्षित होकर ही सार्वजनिक मामलों में रुचि लेने लगता है। स्कूल, विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय उत्तरोत्तर व्यक्ति की समझ में वृद्धि का साधन होते हैं। ये शिक्षण-संस्थाएँ व्यक्ति के चरित्र निर्माण में आधारशिला का कार्य करती हैं और विद्यार्थियों में नागरिक-भाव और चेतना उत्पन्न करती हैं। शिक्षण संस्थाओं के द्वारा ही युवकों को देश की समस्याओं का ज्ञान कराया जाता है। कुल मिलाकर शिक्षण संस्थाएँ व्यक्ति को शिक्षित करती हैं, जिससे वह सार्वजनिक प्रश्नों पर अपना स्वयं का विचार बढ़ाने की अवस्था में आता है। वह शिक्षित होने के कारण ही अपने विचारों को अभिव्यक्त करना चाहता है तथा इस तरह लोकमत के निर्माण का साधन बन जाता है।

(ङ) सम्प्रेषण या संचार के साधन (Means of communication)–सम्प्रेषण के साधनों से विभिन्न दृष्टिकोणों में समन्वय की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। एक विचार अनेक तक या सब तक संचार के साधनों से ही पहुँचाया जाता है। समाचारपत्र, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा इत्यादि ऐसे साधन हैं जिनसे सार्वजनिक प्रश्नों पर एक विवाद-सा चलता रहता है तथा विभिन्न विचार-विकल्पों में से किसी एक पर पहुँचा जाता है। अत: इनका लोकमत के निर्माण व उसको व्यावहारिक बनाने में बहुत बड़ा हाथ रहता है।

सम्प्रेषण के साधनों में समाचारपत्र लोकमत के निर्माण में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। ये हमें राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं से अवगत कराते हैं। ये सरकार की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक गतिविधियों से जनसाधारण को अवगत रखते हैं। समाचारपत्र ही सरकार की नीति की स्वस्थ आलोचना करते हैं और शासन की त्रुटियों को जनता तक पहुँचाते हैं। इसी तरह, ये जनता की आवाज को सरकार तक पहुँचाने का कार्य भी करते हैं। अत: समाचारपत्र सरकार व जनता के मध्य एक ऐसी कड़ी का काम करते हैं जिससे सरकार की बात जनता तक

नोट

व जनता की बात सरकार तक पहुँचती है। इससे सार्वजनिक प्रश्नों पर जनता का मत बनने में सहायता मिलती है, परंतु यह केवल उन्हीं समाचारपत्रों के बारे में सही है जो निष्पक्ष होकर सरकार और जनता के बीच विचारों के आदान-प्रदान का कार्य करते हैं। सार्वजनिक हित से प्रेरित होकर कार्य करने वाले समाचारपत्र ही शुद्ध लोकमत के निर्माण में सहायक होते हैं। इसलिए ही स्वतंत्र, निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण समाचारपत्रों को स्वस्थ जनता का सजग प्रहरी और लोकतंत्र का धर्म-ग्रंथ कहा जाता है।

समाचारपत्रों की तरह ही रेडियो व दूरदर्शन भी लोकमत के निर्माण में सहायक होते हैं। समाचारपत्र तो केवल शिक्षित व्यक्तियों व सरकार में ही आदान-प्रदान का माध्यम बनते हैं। पर रेडियो व दूरदर्शन से सरकार के कार्यक्रमों व नीतियों के बारे में सभी व्यक्तियों को अवगत कराया जा सकता है। रेडियो व दूरदर्शन मनोरंजन के साथ ही साथ, तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं पर भाषण, टिप्पणियाँ, वार्ताएँ व वाद-विवाद प्रसारित करके जनता व सरकार के बीच संपर्क स्थापित करने में सहायक होता है। लोकमत के निर्माण में इनकी भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण होती है क्योंकि मनोरंजन के माध्यम होने के कारण अधिकांश जनता इनसे प्रभावित व सूचित की जा सकती है। सिनेमा भी इसी प्रकार का योगदान करता है।

(च) राजनीतिक दल व दबाव समूह (Political parties and Pressure Groups)–राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण में सतत सक्रिय रहते हैं। दल राजनीतिक सत्ता प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए अपने समर्थकों की संख्या में वृद्धि करने का भरसक प्रयत्न करते हैं। इसके लिए उन्हें राजनीतिक समस्याओं के विषय में अपने-अपने दृष्टिकोणों का व्यापक प्रचार करना पड़ता है। इससे जनता को उनके उद्देश्यों व दृष्टिकोणों का ज्ञान हो जाता है। राजनीतिक दल विचारों का प्रचार ही नहीं करते वरन् यह विचारों की सार्वजनिक हितों से संबंधता का भी स्पष्टीकरण करते हैं। यह लोकमत का निर्माण व संगठन भी करते हैं। वास्तव में बिखरे हुए विचारों को निश्चित सूत्रों में पिरोने का काम राजनीतिक दल ही कर सकते हैं। यह समस्याओं के प्रति जनता को सचेत करते हैं जिससे जन जागृति उत्पन्न होती है और लोकमत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है। वे जनता को तत्कालीन समस्याओं से अवगत कराते हैं और उनसे संबंधित विभिन्न पहलुओं को जनता के समक्ष रखकर उसे उनके संबंध में अपना मत बनाने का अवसर प्रदान करते हैं। किसी समस्या के विषय में किसी राजनीतिक दल द्वारा अभिव्यक्त मत का समर्थन जब जनता का एक बड़ा भाग करने लगता है तब उस दल का कार्य लोकमत का प्रकाशक भी बन जाता है। राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण के प्रयत्नों में निरंतर लगे रहते हैं क्योंकि लोकमत ही उन्हें सत्ता में बनाए रखने या सत्ता में लाने का साधन है।

दबाव समूह समाज में व्यक्तियों को विभिन्न हितों के लिए संगठित करने का कार्य करते हैं। यह अपने हितों की पूर्ति में जनमत को भी अपने पक्ष में करने का प्रयास करते हैं क्योंकि जनमत के समर्थन से इनके हितों की सरकार भी अवहेलना नहीं कर सकती है। यह विभिन्न समस्याओं पर जन-शिक्षण व जन-नेतृत्व का कार्य करके लोकमत के निर्माण में सहायक बन जाते हैं।

(छ) व्यवस्थापिका सभाएँ (Legislative assemblies)–व्यवस्थापिका सभाओं के द्वारा लोकमत की अभिव्यक्ति होती है तथा इसके निर्माण में भी योगदान मिलता है। यह वाद-विवाद का मंच, नीति-निर्धारण का माध्यम व जनता की आवाज को उठाने का महत्त्वपूर्ण स्थल होती है। देश से संबंधित हर प्रश्न पर इनमें विचार हो सकता है। इन सभाओं में वाद-विवाद के द्वारा विभिन्न समस्याओं के सभी पहलुओं का ज्ञान जनता तक पहुँचता है जिससे देशव्यापी वाद-विवाद का श्रीगणेश होता है और लोकमत का निर्माण होने में सहायता मिलती है। इन सदनों में सभी प्रकार की विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व होता है और अनेक विचारधाराओं के व्यवस्थित टकराव के माध्यम से एक मत के रूप में विचार बनते हैं जो लोकमत के प्रेरक बनते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न भागों के प्रतिनिधि प्रस्तुत समस्याओं और प्रश्नों पर अपने क्षेत्र की जनता के मतों की अभिव्यक्ति करके ऐसा साधन बन जाते हैं जिससे विधानमण्डलों में सारे देश के लोगों के विचारों का आदान-प्रदान हो जाता है। इससे लोकमत के निर्माण के साथ ही साथ यह इसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भी प्रस्तुत कर देती है।

(ज) मंच (Public platform)–मंच की लोकमत के निर्माण में भूमिका के संबंध में इकबाल नारायण ने लिखा है, "मंच लोकमत के निर्माण का एक उत्तम साधन है। सार्वजनिक समस्याओं पर वाद-विवाद होता है

जिससे जनता राजनीतिक शिक्षा ग्रहण करती है। सरकारी नीति की आलोचना, प्रत्यालोचना, समालोचना और उसके गुण-दोष की विवेचना होती है। ऐसे भाषणों और सभाओं से महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर जनता की चेतना केंद्रित होती है। इसके द्वारा जनता को अनेक समस्याओं का ज्ञान होता है और विभिन्न महत्त्वपूर्ण विषयों के संबंध में लोकमत का निर्माण होता है। सरकार के समर्थक सरकार के गुणों का उल्लेख करते हैं और उसके विरोधी उसकी त्रुटियों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं। इस प्रकार जनता को यह अवसर मिल जाता है कि वह दोनों पक्षों को देखकर अपना मत निर्धारित कर सके। इस संबंध में यह नहीं भूलना चाहिए कि मंच के ये लाभ जनता को तभी पूर्ण रूप से प्राप्त हो सकते हैं जब जनता शिक्षित हो और उसमें इतनी योग्यता हो कि वह भावावेश और विवेक में, सत्य और असत्य में, उचित और अनुचित में भेद कर सके। उसमें विचार-स्वातंत्र्य की प्रवृत्ति होनी चाहिए और शासन की ओर से भी उसे इसका अवसर मिलना चाहिये।"

जनमत के निर्माण व अभिव्यक्ति के विभिन्न साधनों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इन सभी साधनों का दुरुपयोग करके सच्चे लोकमत के निर्माण का मार्ग अवरुद्ध भी किया जा सकता है। अत: जनमत का निर्माण व अभिव्यक्ति ठीक ढंग से तभी हो सकती है जब कुछ शर्तें पूरी हों? ऐसी कुछ पूर्व शर्तों का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। अत: कुछ प्रमुख पूर्व शर्तों का विवेचन किया जा रहा है।

5.5 स्वस्थ लोकमत के निर्माण की पूर्व शर्तें (Pre-Requisites of Sound Public Opinion)

हर प्रकार की परिस्थितियों में स्वस्थ लोकमत का निर्माण नहीं हो सकता है। लोकमत के निर्माण तथा अभिव्यक्ति के सभी साधनों के किसी समाज में विद्यमान होने पर भी यह आवश्यक नहीं कि स्वस्थ लोकमत का वहाँ अनिवार्यत: विकास होगा। यह तो तभी विकसित हो सकता है जब लोकमत के निर्माण में आने वाली बाधाओं को समाप्त किया जाए। लोकमत का निर्माण अनेक व्यक्तियों, विचारों और परिस्थितियों की आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया से बनता है। स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि समाज संबंधी समस्याओं के विभिन्न पहलुओं पर ज्यादा से ज्यादा विचार प्रस्तुत हों तथा सही विचारों का प्रचार व प्रसार करने वाले व्यक्ति उच्च चरित्र के हों तथा जिन परिस्थितियों में ये विचार व व्यक्ति कार्य करें वे उन्हें स्वतंत्रता और निर्भीकता के अधिकतम अवसर प्रदान कर सकें। इससे स्पष्ट है कि स्वस्थ जनमत के निर्माण में सबसे महत्त्वपूर्ण पूर्व शर्त मनुष्यों से ही संबंधित है। किसी भी राजनीतिक समाज में स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि इसके नागरिकों में निम्नलिखित लक्षण विद्यमान हों–

(1) जनता यह जानती हो कि वह क्या चाहती है?

(2) जनता जो चाहती हो उसमें उसकी रुचि भी हो।

(3) जनता जो चाहती हो उसे अभिव्यक्त कर सकती हो।

स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह परमावश्यक है कि समाज के सदस्य क्या चाहते हैं इसका उनको सुस्पष्ट ज्ञान हो। इसके अभाव में वे अपना सुनिश्चित मत नहीं बना सकते हैं। अधिकांश विकासशील राज्यों में स्वस्थ जनमत के निर्माण की संरचनात्मक व्यवस्थाओं के होने पर भी लोकमत प्रकट रूप नहीं ले पाता है, क्योंकि जनसाधारण ठीक प्रकार से यही नहीं जानता है कि वह समाज के सक्रिय सदस्य के रूप में क्या प्राप्त करना चाहता है। लोकमत के विकास के लिए जनता की भिज्ञता ही पर्याप्त नहीं होती है, इसके लिए यह भी आवश्यक है कि लोग जो चाहते हैं उसमें रुचि रखते हों। रुचि के अभाव में जनता उदासीन बनी रहती है। उनके चारों तरफ कुछ भी घटित होता रहे, वे बेखबर बने रहना पसंद करते हों तो लोकमत का निर्माण होने में रुकावट पड़ती है। हर समाज में जनता को अगर जो वह चाहती है उसका ज्ञान हो तथा उसकी उस सबमें अत्यधिक रुचि भी हो तो भी स्वस्थ लोकमत तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक कि उनको उस सबकी, जो वह चाहती है तथा जिसमें उसकी रुचि है, अभिव्यक्ति के अवसर प्राप्त नहीं हों। अत: स्वस्थ लोकमत के निर्माण में सबसे बड़ी रुकावटें उपरोक्त तीन बातों का न होना है। किसी समाज में जनता क्या चाहती है इसको तभी जान सकती है जबकि वह शिक्षित हो। इसी तरह

नोट

नागरिक जो चाहते हैं उसका समझना तब तक निरर्थक है जब तक कि उनकी उस सबमें रुचि न हो तथा वे उसे अभिव्यक्त नहीं कर सकें। उदाहरण के लिए, सभी सार्वजनिक व राष्ट्रीय विषयों पर उदासीन जन समुदाय, अभिव्यक्ति के श्रेष्ठतम साधनों का भी प्रयोग नहीं करेगा। इससे स्पष्ट है कि स्वस्थ जनमत का निर्माण तभी हो सकता है जबकि जनता को इन तीन लक्षणों से युक्त करने के समुचित साधन समाज में विद्यमान हों अर्थात इन लक्षणों की प्राप्ति के मार्ग में आने वाली रुकावटों–निरक्षरता, निर्धनता, दूषित शिक्षा-प्रणाली, गैर ज़िम्मेदार समाचारपत्र, नागरिक उदासीनता और दलगत राजनीतिक दलों, का समाज में अभाव हो। अत: स्वस्थ लोकमत तभी बन सकता है जबकि नकारात्मक रूप से वे सब परिस्थितियाँ न हों जिनसे नागरिकों में उपरोक्त तीन गुण उत्पन्न होने में बाधाएँ उत्पन्न होती हैं तथा सकारात्मक दृष्टि से वे सब परिस्थितियाँ हों जिनसे नागरिकों में तीन लक्षणों को उत्पन्न किया जा सके। संक्षेप में लोकमत के निर्माण में जन समुदाय की सार्थक भूमिका से संबंधित लक्षणों के विकास व अभिव्यक्ति के लिए निम्नलिखित आवश्यक परिस्थितियों की विद्यमानता जरूरी है–

आदर्श व व्यावहारिक शिक्षा प्रणाली (Ideal and Practical Educational System)

स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि जनता सुशिक्षित, समझदार और सार्वजनिक मामलों में रुचि लेने वाली हो। उसमें राजनीतिक मामलों के प्रति जिज्ञासा हो तथा इस जिज्ञासा को शांत करने के लिए वे सभी साधनों से सूचनाएँ प्राप्त कर अपना मत निश्चित करने की अवस्था में हों। इसके लिए सही ढंग से जनता को शिक्षित करने की व्यवस्था का होना आवश्यक है। उचित शिक्षा के अभाव में, शिक्षित व्यक्ति भी सार्वजनिक मामलों पर सही विचार नहीं बना सकता है। सार्वजनिक साक्षरता मात्र से व्यक्ति स्वस्थ लोकमत के निर्माण में सहायक नहीं बन जाता है। इसके लिए लोगों का राजनीतिक तथ्यों से परिचित होना ही काफी नहीं है वरन् सच और झूठ, सही और गलत, उचित व अनुचित की पहचान कर ठीक बात का चयन करने की अवस्था में होना भी आवश्यक है। समाचारपत्रों, राजनीतिक दलों व अन्य संगठनों के द्वारा एक ही सार्वजनिक प्रश्न पर परस्पर विरोधी बातें कही जाती हैं। इनमें सही का निश्चय कर सकने की क्षमता होने पर ही व्यक्ति स्वस्थ लोकमत के विकास में सहायक होता है। अत: देश में ऐसी शिक्षा प्रणाली हो जो व्यक्ति में राजनीतिक परिपक्वता, विवेकशीलता तथा जागरूकता के साथ ही समाज, देश व अन्य नागरिकों के प्रति उसके कर्तव्य व उत्तरदायित्व का सही ज्ञान दे सके। अत: स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए ऐसी आदर्श शिक्षा प्रणाली अनिवार्य है जो नागरिक को सार्वजनिक संदर्भ में सही ढंग से सोचने की अवस्था में ला सके जिससे वे संकुचित दृष्टिकोण के स्थान पर व्यापक दृष्टिकोण से युक्त बन सकें। शिक्षा प्रणाली की आदर्शता के साथ ही साथ इसकी व्यावहारिकता भी आवश्यक है। वस्तुत: शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए जो जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न करे और उसे अपने कर्तव्यों व अधिकारों का ज्ञान कराए। शिक्षा ऐसी हो जो जनता में सूझबूझ विकसित करे जिससे जनता सार्वजनिक मामलों को भली-भाँति समझकर उन पर अपना उचित मत बना सकने की स्थिति न आ सके।

स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए नागरिकों की विवेकशीलता ही पर्याप्त नहीं है। उनमें सहनशीलता भी होनी चाहिए जिससे वे ठंडे दिमाग से समस्याओं के सब पहलुओं पर केवल विचार ही नहीं कर सके वरन् दूसरे के दृष्टिकोणों को समझने का प्रयास भी कर सकें। भावनाओं के आवेगों मे बहने वाली जनता साक्षर होने पर भी शिक्षित नहीं मानी जा सकती। अत: शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जो मनुष्य को सही अर्थों में शिक्षित बना सके। शिक्षित व्यक्ति हमेशा ही स्वस्थ लोकमत के निर्माण का आधार स्तंभ रहता है। वह आकस्मिकताओं से चिंतित नहीं होता तथा व्यापक सार्वजनिक दृष्टिकोण से सभी प्रश्नों को परखकर अपना मत बनाता है। इसलिए किसी ने ठीक ही कहा है कि शिक्षित व्यक्ति ही यह जानता है कि वह क्या चाहता है? अत: आदर्श व व्यावहारिक शिक्षा प्रणाली से शिक्षित व्यक्ति तैयार होते हैं जो स्वस्थ लोकमत के निर्माण की ठोस व्यवस्था बन जाती है।

अभिव्यक्ति व विचारों की स्वतंत्रता (Freedom of Thought and Expression)

स्वस्थ लोकमत का निर्माण केवल लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्थाओं में ही संभव है, क्योंकि लोकतंत्र व्यवस्थाएँ ही व्यक्तियों को अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रताएँ व सुविधाएँ उपलब्ध कराती हैं। लोकमत के लिए कुछ का विचार सब तक पहुँचाया जा सके इसकी छूट होनी चाहिए। अभिव्यक्ति और विचारों की स्वतंत्रता समाज

में ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करती है जिसमें सभी लोग मिलकर राजनीतिक प्रश्नों पर मान्य निर्णयों की अवस्था में पहुँच सकते हैं। विचार स्वातंत्र्य से नये-नये विचार ही उत्पन्न नहीं हो पाते हैं वरन् परस्पर विरोधी व विविध विचार भी सामने आते हैं। इससे सभी राजनीतिक प्रश्नों पर स्वतंत्र चिंतन व अनेक विचारों का मंथन होता है जो अंततः विवेकपूर्ण, स्थायी तथा सही निष्कर्षों तक ले जाने वाला बन जाता है। अतः स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक शर्त, विचारों व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का होना है।

निरंकुश व्यवस्थाओं में विचारों व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अभाव में स्वस्थ लोकमत का निर्माण नहीं हो पाता है। तानाशाही के समर्थन में लोकमत तो हर तानाशाह द्वारा बनाने का प्रयास किया जाता है पर ऐसे मत को लोकमत नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह जन-कल्याण की भावना से प्रेरित नहीं रहता है। निरंकुश व्यवस्थाओं में लोकमत स्वतः नहीं बनता यह तो बनाया जाता है। छलयोजन करके लोकमत के समर्थन का दिखावा किया जाता है। यही कारण है कि निरंकुश व्यवस्थाओं में भी कई बार धीरे-धीरे स्वस्थ जनमत बनकर तानाशाहों के विरुद्ध क्रांति का नारा बुलंद करने में सफल हो जाता है। अतः लोकमत हर अवस्था में बनता है परंतु उसके विकास में अभिव्यक्ति व विचारों की स्वतंत्रता से बड़ा सहयोग मिलता है।

स्वतंत्र व निष्पक्ष समाचारपत्र (Free and Impartial Newspapers)

स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि समाचारों का संचारण निष्पक्ष रूप से हो। संप्रेषण के अनेक साधन होते हैं परंतु उनमें समाचारपत्रों की भूमिका सर्वाधिक महत्त्व की है। यह समाज में विचारों का नेतृत्व करते हैं तथा जनता को सब बातों से परिचित कराते हैं। सरकार, राजनीतिक दलों व अन्य समूहों के विचार जनता तक ले जाने का काम समाचारपत्रों द्वारा ही संपन्न होता है। इसी तरह एक व्यक्ति के विचार दूसरे व्यक्ति तक तथा समाज में प्रचलित सभी विचार व बातें सरकार तक समाचारपत्रों के द्वारा ही पहुँचती हैं। यह विचारों व समाचारों का आदान-प्रदान लोकमत के निर्माण की प्रक्रिया का अभिन्न अंग बन जाता है, परंतु अगर बातों, सूचनाओं, खबरों व विचारों का यह संप्रेषण तोड़-मरोड़ कर होने लगे तो स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधा पड़ जाती है। अतः ऐसे समाचारपत्रों की आवश्यकता पड़ती है जो निष्पक्ष और ईमानदार हों और खबर को ज्यों की ज्यों जनता तक पहुँचाने का माध्यम बने रहें। इससे जनता को सही मत बनाने में सहयोग मिलता है। समाचारपत्र निष्पक्षता से तभी समाचारों का संचारण कर सकते हैं जब वे स्वतंत्र हों। उन पर सरकारी अथवा गैर सरकार किसी प्रकार का दबाव नहीं होना चाहिए जिससे वे सार्वजनिक समस्याओं, सरकार के कार्यों, राजनीतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों पर स्वतंत्रतापूर्वक और निष्पक्ष विचार व्यक्त कर सकें। अतः स्वस्थ लोकमत का निर्माण करने में समाचारपत्रों की निष्पक्षता व स्वतंत्रता का काफी महत्त्व है।

सामान्यतया समाचारपत्रों के समाचारपत्र (newspapers) के रूप में रहने पर ही स्वस्थ लोकमत निर्मित हो पाता है। जब समाचार पत्र 'विचारपत्र' (view papers) के रूप में कार्य करते हैं तो उनकी निष्पक्षता समाप्त हो जाती है तथा सभी समाचार विचार विशेष के रंग में रंगकर जनता तक पहुँचाए जाने लगते हैं। इससे आम जनता को वास्तविकताओं का पता ही नहीं चल पाता है तथा वह गुमराह होने लगती है। यह स्वस्थ जनमत के निर्माण में रुकावट की परिस्थिति हो जाती है। इसलिए समाचार पत्रों का स्वतंत्र व निष्पक्ष होना स्वस्थ लोकमत के निर्माण की पहली शर्त है। इनकी निष्पक्षता के अभाव में लोकमत बन ही नहीं सकता।

राष्ट्रवादी राजनीतिक दल (Nationalistic Political Parties)

राजनीतिक दल समाज में सक्रियता के प्रमुख उत्प्रेरक होते हैं। समाज का प्रक्रियात्मक जीवन राजनीतिक दलों के द्वारा ही नियंत्रित व निर्देशित रहने लगा है। जीवन के सभी पहलुओं पर इनका प्रभाव होता है। मानव विचारों को अच्छा या बुरा बनाने में इनकी प्रमुख भूमिका होती है। इनका सरकार पर तो पूर्ण नियंत्रण होता ही है, यह समाज व संपूर्ण समूह जीवन पर भी छाये रहते हैं। अतः राजनीतिक दलों का मनुष्य के विचारों को मोड़ने में महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहता है। यह प्रभाव सार्वजनिक कल्याण के अनुरूप होने पर राजनीतिक दलों को भी स्वस्थ जनमत के विकास में सहायक बना देता है। राजनीतिक दल केवल राष्ट्रवादी दृष्टिकोण रखने वाले होने चाहिए, क्योंकि ऐसे दृष्टिकोण वाले दल ही लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्य कर सकते हैं। ऐसे दल ही जनता को सही

नोट

विचार बनाने के लिए प्रेरित कर सकते है। संकुचित तथा सीमित दृष्टिकोण वाले दल लोकमत के विकास में बाधा पहुँचाते हैं। ये जनता को सार्वजनिक हित के विचारों से विमुख करते हैं। इससे जनता राष्ट्रीय प्रश्नों पर सही दृष्टिकोण नहीं बना पाती है जो सही जनमत के विकास में रुकावट उत्पन्न करता है।

राष्ट्रीय गन्तव्यों पर मतैक्य (Consensus Over National Goals)

राजनीतिक समाज में परस्पर विरोधी व संघर्षरत हित विद्यमान रहते हैं तथा राजनीतिक प्रक्रियाओं के द्वारा इन हितों में समन्वय स्थापित रहता है। यह किसी समाज की सामान्य अवस्था में स्वत: ही होता रहता है, परंतु इसके लिए यह आवश्यक है कि संपूर्ण समाज में राष्ट्रीय गन्तव्यों को लेकर मतैक्य बना रहे। जनता में राष्ट्रीय आदर्शों के विषय में एकता न होने की अवस्था में पारस्परिक कटुता और वैमनस्य इतना बढ़ जाएगा कि अराजकता फैलने की स्थिति आ जाएगी। ऐसी अवस्था में लोकमत के विकास का मार्ग अवरुद्ध ही होगा। लोकतंत्र व्यवस्थाओं में शासन की नीतियों को लेकर सामान्य मतभेदों का होना स्वाभाविक है लेकिन ऐसे मतभेद घातक नहीं होते हैं। परंतु राज्य के शासन का स्वरूप क्या हो, उसका उद्देश्य क्या हो, अथवा उसके उद्देश्यों की पूर्ति किन साधनों के प्रयोग द्वारा की जाए, इन बातों पर गहरे मतभेद से समाज में एकता नहीं रह पाती है तथा स्वस्थ जनमत का विकास असंभव हो जाता है क्योंकि किसी भी प्रश्न पर कोई सहमति की स्थिति ही नहीं आएगी। अत: समाज में एकता तथा राष्ट्रीय प्रश्नों पर सहमति के लिए समाज में राष्ट्रीय गन्तव्यों पर मतैक्य अनिवार्यत: रहना चाहिये। केवल ऐसी ही अवस्था में स्वस्थ लोकमत का विकास संभव होता है।

5.6 लोकतंत्र और लोकमत (Democracy and Public Opinion)

लोकतंत्र को जनता का, जनता के द्वारा व जनता के लिए शासन कहा गया है। यह जनता की इच्छा के अनुसार शासन है, परंतु जनता की इच्छा के अनुसार शासन का अभिप्राय यह नहीं होता कि सरकार के प्रत्येक कार्य पर जनता का परामर्श लिया जाए। कोरी तथा अब्राहम के अनुसार जनता की इच्छा के अनुसार शासन का अभिप्राय यह होता है कि नियतकालिक चुनावों में जनता स्वतंत्रतापूर्वक अपना विचार अभिव्यक्त कर सकें और जनता द्वारा व्यक्त किये गये अभिमत के अनुसार सरकार का गठन व संचालन हो। समाज से संबंधित सभी विवादास्पद प्रश्नों पर सरकार के निर्णय बहुमत की इच्छा के अनुरूप रहने की अवस्था में शासन जनता की इच्छा के अनुसार कहा जा सकता है बशर्ते कि बहुमत की इच्छा अल्पमत के अहित में नहीं हो। क्योंकि प्रजातंत्र व्यवस्था में जनहित की साधना का प्रमुख लक्ष्य रहता है। निर्वाचन में जनमत की अभिव्यक्ति होती है तथा सरकार का आधार वस्तुत: लोकमत बन जाता है। यह इसलिए संभव होता है, क्योंकि चुनावों में विभिन्न प्रत्याशी अपने कार्यक्रम व सार्वजनिक प्रश्नों पर अपने विचार जनता के सामने रखते हैं और जनता इनमें से जिसको उचित मानती है उसी के प्रस्तुतकर्ता को चुनकर अपना मत व्यक्त कर देती है। अत: लोकतंत्र में निर्वाचन लोकमत के प्रकाशन का माध्यम प्रस्तुत करते हैं तथा सरकार को केवल लोकमत पर ही आधारित करने की व्यवस्था करते हैं।

परंतु निर्वाचन तो एक निश्चित अवधि के बाद होते हैं तथा निर्वाचित प्रतिनिधि भी अपने उद्घोषित कार्यक्रमों से विमुख हो सकते हैं। ऐसी अवस्था में दो निर्वाचनों के बीच के काल में, सरकार व शासकों को जनता की इच्छा के अनुसार रखने का माध्यम लोकमत ही कहा जाता है। जनता समय-समय पर सार्वजनिक प्रश्नों पर अपना मत व्यक्त करती रहती है। समाचार पत्रों, राजनीतिक दलों व दबाव समूहों के द्वारा इस मत को लोकमत के रूप में विकसित करने में सहायता मिलती है तथा यह इन्हीं के द्वारा अभिव्यक्त होता है। सरकार इसके अनुसार ही अपने कार्यक्रमों व नीतियों को ढालने पर मजबूर रहती है। इस तरह लोकमत, लोकतंत्र शासन को व्यवहार में हर समय जनता की इच्छा के अनुसार रखने का कार्य करके लोकतंत्र का प्रहरी बन जाता है।

लोकतांत्रिक शासन को उत्तरदायी शासन भी कहा जाता है। ऐसे शासन में सरकार अपने हर कार्य व गतिविधि के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी रहती है। यह उत्तरदायित्व लोकमत के द्वारा ही व्यावहारिक बन पाता है। अत: प्रबुद्ध व सजग लोकमत, लोकतंत्र की प्रथम अनिवार्यता है। यह सरकर के कुशल प्रहरी का कार्य करता है। लोकतंत्र के

नोट

प्रतिकूल होने पर लोकतांत्रिक सरकार तो क्या निरंकुश से निरंकुश सरकार भी अधिक दिन नहीं टिक सकती। इसलिए सरकारों को सजग रखने व जन-इच्छा की अवहेलना करने से रोकने के लिए लोकमत ही एकमात्र सुरक्षा व्यवस्था कही जाती है।

लोकतंत्र शासन जन-कल्याण की साधना का लक्ष्य रखता है। इसके लिए शासन का सार्वजनिक हित की दिशा में ही चलना आवश्यक है। जनमत का मत ही शासन को सार्वजनिक हित के प्रति सजग व सचेत रखता है। लोकमत के द्वारा सरकार के उन कार्यों की आलोचना होती है जो जनहित के प्रतिकूल होते हैं। इस आलोचना का अर्थ ही यह होता है कि सरकार ऐसे कार्य करने से बचे। लोकमत सरकार के हर कार्य की निरंतर परख करते रहकर सरकार को केवल जनहित में ही कार्य करने के लिए सचेत करता है।

लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में नागरिकों के अधिकार व स्वतंत्रताएँ संविधान व साधारण विधि के द्वारा सुरक्षित होती हैं, परंतु सरकारें संविधान में, कानून में परिवर्तन व संशोधन का सभी राज्यों में अधिकार रखती हैं। अत: नागरिकों के अधिकारों व स्वतंत्रताओं की सुदृढ़ रक्षा व्यवस्था कानूनी संरक्षण द्वारा ही नहीं हो पाती है। इनकी सुरक्षा स्वयं जनता ही कर सकती है। वह सरकार के हर उस कार्य का विरोध करके, जो जन-स्वतंत्रता का अतिक्रमण करता है तथा प्रभावशाली ढंग से सरकार के विरुद्ध लोकमत निर्मित करके अपने अधिकारों व स्वतंत्रताओं की रक्षा कर सकती है। इस तरह लोकमत नागरिकों के अधिकारों का प्रहरी भी रहता है।

आधुनिक समय में लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्थाओं में एक गंभीर समस्या कानूनी संप्रभु एवं राजनीतिक सम्प्रभु में तालमेल बनाए रखने की होती है। आम चुनावों में राजनीतिक सम्प्रभु अपनी सत्ता अपने प्रतिनिधियों में हस्तांतरित कर देता है। जनता द्वारा भेजे हुए प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में जाकर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त करते हैं। यह कानूनी सत्ता कानून बनाने में सर्वोच्च व अंतिम होती है। इस कानूनी सत्ता को राजनीतिक सत्ता के अनुरूप केवल नियतकालिक चुनावों के द्वारा ही रखने की व्यवस्था होती है। परंतु दो चुनावों के अंतराल में इन दोनों सत्ताओं के बीच समन्वय रखने की कोई कानूनी व्यवस्था व्यावहारिक नहीं बन सकती है। अत: ऐसी अवस्था में इन दोनों सत्ताओं में तालमेल बनाए रखने की केवल अनौपचारिक व्यवस्था ही हो सकती है। कानूनी रूप से कानूनी राजसत्ता की आज्ञा सर्वोपरि होती है और उसके द्वारा बनाए गये कानूनों का पालन हर एक के लिए अनिवार्य होता है। यह कानूनी सत्ता जन-हित विरोधी कानून बनाकर सार्वजनिक कल्याण की उपेक्षा करने लगे तब क्या बचाव व्यवस्था हो? इसके राजनीतिक सम्प्रभु की इच्छा के प्रतिकूल कार्य करने पर दोनों सत्ताओं में संघर्ष की स्थिति आ जाती है। यह ऐसी विषम परिस्थिति है जिसमें कानूनी सत्ता संगठित, सुनिश्चित तथा अवपीड़न (coercive) की शक्ति से युक्त होती है, परंतु राजनीतिक सत्ता न संगठित होती है और न ही उसके पास बाध्यकारी शक्ति रहती है। अत: दोनों में संघर्ष की स्थिति में कानूनी सत्ता की सर्वोपरिता स्थापित होने की अवस्था आ जाती है। परंतु राजनीतिक सत्ता के प्रतिकूल कानूनी सत्ता की प्रधानता लोकतंत्र की भावना के प्रतिकूल होती है और एक तरह से यह लोकतंत्र का अंत करने की व्यवस्था मानी जाती है। ऐसी स्थिति में कानूनी सत्ता का राजनीतिक सम्प्रभु पर हावी होने से रोकने की प्रभावी व्यवस्था केवल लोकमत की शक्ति ही हो सकती है। अत: लोकमत कानूनी सत्ता व राजनीतिक सत्ता में न केवल समन्वय स्थापित करता है वरन् कानूनी सत्ता को अंतत: राजनीतिक सत्ता के अधीन भी बनाए रखता है।

हर समाज के अपने मूल्य, मान्यताएँ व आदर्श होते हैं। लोकतांत्रिक समाज में इनकी रक्षा व्यवस्था विभिन्न संस्थागत संरचनाओं के माध्यम से की जाती है। ऐसी रक्षा व्यवस्था द्वारा सुरक्षित आदर्श, समाज के प्रेरक व संयोजक होते हैं। यह संविधानवाद की अवस्था है। इसमें समाज का जनमानस परिलक्षित होता है। यह संविधानवाद, समाजों की जीवन शक्ति के रूप में सुस्थिर रहे इसके लिए इसकी सुरक्षा व्यवस्था अनिवार्य होती है। लोकतंत्र व्यवस्थाओं में इसकी रक्षा के लिए अनेक कानूनी व संवैधानिक बंधनों की व्यवस्था रहती है। फिर भी कानूनी रूप से गठित सरकारें इन मूल्यों के प्रतिकूल कार्य करने के लिए बाहरी विचारधाराओं या दबावों से मजबूर हो सकती हैं। ऐसे प्रयत्नों से बचाव व्यवस्था भी अनौपचारिक ही हो सकती है और लोकतंत्र ही यह करता है। अत: लोकमत संविधानवाद का रक्षक भी रहता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्थाओं में लोकमत, सरकारों को जनता की इच्छाओं के अनुरूप रखता है। सरकारों को उत्तरदायी रखने, जन-कल्याण की साधना के लिए ही कार्य करने और राजनीतिक

नोट

सत्ता के अधीन बनाए रखने का कार्य भी लोकमत ही करता है। अत: लोकतंत्र में लोकमत आधारभूत होता है। यह लोकतंत्र का सजग प्रहरी व रक्षक रहता है। इसलिए ही प्रबुद्ध व सजग लोकमत, लोकतंत्र की प्रथम अनिवार्यता कही गई है। जब कभी लोकमत की सजगता में कमी आती है तो लोकतंत्र का अंत अवश्य ही हो जाता है। अधिकांश विकासशील राज्यों में लोकतंत्र का अंत लोकमत की सजगता के अभाव के कारण ही हुआ है।

अधिनायकतंत्र व लोकमत (Public Opinion and Dictatorship)

निरंकुश व्यवस्थाओं में लोकमत के निर्माण व अभिव्यक्ति के साधनों पर तानाशाह का पूर्ण नियंत्रण होता है। इन व्यवस्थाओं में प्रतियोगी राजनीति का अभाव होता है। इनमें शासक के विरुद्ध किसी भी प्रकार की आवाज उठाने का साधन नहीं रहता है। समाज की समूह व्यवस्था पूरी तरह नियंत्रित रहती है तथा राजनीतिक शक्ति के द्वारा हर उस प्रयत्न को जो शासक के विरोध में किया जाता है, कुचल दिया जाता है। निरंकुश व्यवस्थाओं में एक ही व्यक्ति राजनीतिक व्यवस्था का संचालक रहता है। सेना या एकाधिकारी दल के माध्यम से संपूर्ण व्यवस्था ऐसे व्यक्ति के अधीन रखी जाती है। ऐसे राजनीतिक समाज में आतंक के द्वारा हर व्यक्ति को भयभीत रखा जाता है। इसमें कोई भी व्यक्ति शासक के विरुद्ध कुछ कहने की अवस्था में नहीं होता है, क्योंकि ऐसी बात करने वाले को समाप्त कर दिया जाता है। अत: निरंकुश व्यवस्थाओं में लोकमत की शक्ति का अस्तित्व ही नहीं माना जाता है। तानाशाही राज्यों में संचार के सभी माध्यमों पर सरकार का प्रत्यक्ष नियंत्रण रहने के कारण व्यक्तियों के विचारों का आपस में आदान-प्रदान नियंत्रित रहता है। इससे यह भ्राँति होना स्वाभाविक है कि अधिनायकतंत्र व लोकमत अपने आप में विरोधाभास है। इन दोनों की बेमेलता है। इन दोनों में सह-अस्तित्व असंभव है, परंतु वास्तविकता इसके बिल्कुल विपरीत है। सही बात यह है कि तानाशाही तो केवल लोकमत के सहारे ही टिक पाती है। तानाशाहों को भी नागरिक सहयोग की आवश्यकता होती है और यह सहयोग अनुकूल लोकमत होने पर ही मिल सकता है। अत: तानाशाह शासक सदैव ही लोकमत को अपने अनुकूल बनाए रखने का प्रयास करते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रतिकूल लोकमत के आगे बड़े से बड़े तानाशाह को झुकना पड़ा है। यही कारण है कि निरंकुश व्यवस्थाओं में किसी न किसी प्रकार के निर्वाचनों को ढोंग करके लोकमत के समर्थन का दम्भ भरा जाता है। पाकिस्तान के सैनिक शासक अय्यूब खाँ ने शायद इसी उद्देश्य से बहुत कुछ स्वतंत्र चुनाव कराए थे। इसी तरह 1967 की बसंत ऋतु में यूनान में फौजी कर्नलों ने सत्ता हथिया ली और अपने बलात् राजपरिवर्तन को लोकमत के समर्थन के अनुरूप दिखाने के लिए 1968 तक उन्होंने चुनाव करवा लिये। इससे यही स्पष्ट है कि निरंकुश व्यवस्थाओं में लोकमत को छलयोजित (manipulate) किया जाता है, जिससे अधिकांश जनता तानाशाह की समर्थक बन जाए। यही कारण है कि हर तानाशाही व्यवस्था में लोकमत का छलयोजन व अभियंत्रण (engineer) किया जाता है। मुसोलिनी व हिटलर ने क्रमश: इटली व जर्मनी में यही किया था। प्रेस, रेडियो, दूरदर्शन, मंच तथा सिनेमा के माध्यम से जनता की भावनाओं से इस तरह खेला जाता है कि अंतत: जनता तानाशाह को अपना उद्धारक मान बैठती है। जो तानाशाह यह नहीं कर सकता उसका अंत सुनिश्चित हो जाता है। पाकिस्तान में याह्या खाँ इसमें शायद सफल नहीं हो पाए और इसलिये उन्हें लोकमत के अनुरूप सत्ता एक 'सिविलियन' श्री भुट्टो को सौंपनी पड़ी थी। अत: लोकमत की शक्ति तानाशाही व्यवस्थाओं में भी विद्यमान रहती है परंतु नियंत्रण व्यवस्थाओं के कारण इसकी अभिव्यक्ति केवल क्रांति में ही संभव होती है।

लोकमत और राजनीतिक दल (Public Opinion and Political Parties)

लोकमत के निर्माण व अभिव्यक्ति में राजनीतिक दलों की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। निरंकुश व्यवस्थाओं में स्वस्थ व सही अर्थों में लोकमत का निर्माण केवल इसलिए ही नहीं होता है क्योंकि ऐसी व्यवस्थाओं में प्रतियोगी राजनीतिक दलों का अस्तित्व नहीं होता है। अगर किन्हीं व्यवस्थाओं में राजनीतिक दल होता है तो केवल एक और वह भी एकाधिकारवादी प्रकृति के कारण प्रतियोगी राजनीति का प्रणेता नहीं बन सकता है। राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकें इसके लिए आवश्यक है कि प्रतियोगी दल व्यवस्था हो। प्रतियोगी दलीय व्यवस्था के अभाव में राजनीतिक दल जनमत का संगठन करने का कार्य नहीं कर सकते हैं।

राजनीतिक दल व प्रबुद्ध लोकमत का 'चोली-दामन' का संबंध कहा जा सकता है। इसी तरह लोकतंत्र व राजनीतिक दल भी घनिष्ठ रूप से संबंधित माने जा सकते हैं, क्योंकि लोकतंत्र बहुमत का शासन माना जाता है तथा इस बहुमत को व्यवहार में भी बहुमत बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि यह लोकमत के अनुरूप बना रहे। राजनीतिक दल इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। राजनीतिक दल जनसाधारण के विचारार्थ कुछ मसले प्रस्तुत करते हैं और जनता से पक्ष या विपक्ष में राय प्रकट करने का आग्रह करते हैं। किसी भी मसले पर जनमत प्रायः केवल हाँ या ना में स्वयंमेव प्रकट नहीं होता है। अतः राजनीतिक दलों के प्रयासों से विचारों के परस्पर आदान-प्रदान के कारण विविध विचारों का सामंजस्य और जनमत का संगठन व प्रकाशन हो जाता है। राजनीतिक दल सकारात्मक ढंग से नहीं तो नकारात्मक ढंग से अवश्य ही जनमत का संगठन करते हैं। इस प्रकार जनमत संगठन का कार्य लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में प्रतियोगी दलों के द्वारा ही संपन्न होता है।

राजनीतिक दल विभिन्न प्रकार के विचारों का प्रचार करके जनता के सामने अनेक विकल्प प्रस्तुत करते हैं। इन विचार-विकल्पों में विरोध भी हो सकता है तथा एकता भी संभव है, परंतु यह सब बिखरे हुए होते हैं। इनको संगठित करना ही लोकमत का निर्माण करना है। राजनीतिक दलों के अभाव में विभिन्न व छितरे हुए विचारों का न संगठन हो सकता है और न ही उनमें सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। अतः राजनीतिक दल विशेष रूप से प्रतियोगी राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण व अभिव्यक्ति में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

5.7 अशिक्षित समाजों में संचार की समस्याएँ (Problems of Communication in Illiterate Society)

संचार माध्यमों की समाज में प्रभावी भूमिका के कारण आज ग्लोबल विलेज (Global Village) में सूचना के अधिकार को मौलिक अधिकार के रूप में स्थान मिल रहा है। आज दूर-दराज के गाँवों में भी इन माध्यमों की आवश्यकता महसूस की जा रही है। जिन स्थानों में आज इन माध्यमों के अभाव हैं, उन स्थानों को पिछड़ा माना जा रहा है। संचार के तीन तरीकों–(1) अंतर्वैयक्तिक संचार (2) समूह संचार (3) जन संचार–में यहाँ जनसंचार पर विचार किया जायेगा। जनसंचार माध्यम को संक्षेप में जन-माध्यम (Mass Media) या माध्यम (Media) कहा जाता है। जनसंचार माध्यमों में निम्नलिखित माध्यमों की गिनती की जाती है–(1) परम्परागत लोक माध्यम (2) प्रिंट मीडिया (3) फिल्म (4) इलेक्ट्रॉनिक माध्यम। इलेक्ट्रॉनिक माध्यम के अंतर्गत–(1) रेडियो (2) टी.वी. (3) डिजिटल माध्यम आते हैं।

भारतीय समाज अभी भी बहुत हद तक परम्परागत जीवन मूल्यों से ही प्राण वायु पाता है। आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य के समक्ष विकास की विराट संभावनाओं के द्वार खोले हैं, लेकिन जनमानस में इन परम्पराओं की जड़ें गहरी हैं। वह पूर्णरूपेण इससे मुक्त नहीं हो सका है। इन पारम्परिक माध्यमों में मनुष्य की उत्सवधर्मिता आज भी जीवन्त है। दूसरा यह कि देश का अधिकांश भाग अभी भी आधुनिक जनसंचार माध्यमों की पकड़ से बाहर है। आज भी पूर्वोत्तर राज्यों में लोगों की दिनचर्या से दूरदर्शन और रेडियो कार्यक्रमों का समयानुकूल साम्य नहीं है। वहाँ तक देश के सभी समाचारपत्रों या पत्रिकाओं की पहुँच नहीं है। इसके लिए बहुत हद तक आर्थिक अभाव भी जिम्मेदार है। निरक्षर समाज की आँखें अक्षर-संचार में छिपी संभावनाओं से काफी दूर हैं। इसलिए समाज के इन भागों में आज भी परम्परागत माध्यम ही प्रासंगिक है।

समसामयिक घटनाचक्र का शीघ्रता में लिखा गया इतिहास ही पत्रकारिता कहा जाता है। पत्रों की स्थान-मानवृद्धि के साथ पत्र से पत्रकारिता का जन्म हुआ। इसमें कला और विज्ञान दोनों का सन्निवेश है। यहीं पत्रकारिता के उस आदर्श और दायित्व की नींव पड़ी, जिसने पत्र और पत्रकारिता को सत्ता का चतुर्थ आसन प्रदान किया।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में रेडियो, टेलीविजन और इंटरनेट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत में रेडियो के प्रसारण का प्रारंभिक प्रयास जून, 1923 में शुरू हुआ, जब निजी स्तर पर मुंबई में रेडियो क्लब की स्थापना की गयी। इसके बाद भारत सरकार एवं निजी कंपनी इंडिया ब्रॉडकास्टिंग कंपनी के समझौते के फलस्वरूप ब्रॉडकास्टिंग सेवा की स्थापना की गयी, जिसने प्रायोगिक तौर पर मुंबई में जुलाई, 1927 ई. से प्रसारण शुरू किया और कुछ महीनों बाद कोलकाता से प्रसारण प्रारंभ हुआ। इसी के साथ द्रुतगामी इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों की शुरुआत हुई, जो दूरदर्शन से होते

नोट

हुए अद्यतन इंटरनेट तक आ पहुँचा है। सूचना और प्रसारण मंत्रालय की रिपोर्ट के अनुसार देश में इस समय आकाशवाणी के लगभग 200 से अधिक केंद्र काम कर रहे हैं।

भारत में दूरदर्शन की शुरूआत समाज शिक्षा के विकास की दृष्टि से सन् 1959 ई. में हुई। 1 नवम्बर, 1959 ई. को दिल्ली में प्रथम टेलीविजन स्टेशन की स्थापना हुई, जिसका उद्घाटन तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने किया। उस समय यह ऑल इंडिया रेडियो का ही एक भाग था। दूरदर्शन पर प्रसारित कार्यक्रम एक घंटे का होता था, जो सप्ताह में दो बार मंगलवार और शुक्रवार को प्रसारित किये जाते थे। इनमें से चालीस मिनट के कार्यक्रम सामुदायिक केंद्रों के लिए समाज शिक्षा के कार्यक्रम होते थे। सन् 1960 ई. में गणतंत्र दिवस समारोह को भी दूरदर्शन पर सीधे प्रसारित करने का सफल प्रयास किया गया। इस प्रकार यह दृश्य-श्रव्य माध्यम आकाशवाणी के श्रव्य माध्यम से अलग हो गया। यह स्वतंत्र अस्तित्व में आ गया। आज दूरदर्शन का पर्याप्त विस्तार हो गया है। खेल, संसद आदि के सीधे प्रसारण से इसकी महत्ता काफी बढ़ गयी है। दूरदर्शन की वार्षिक रिपोर्ट सन् 1997 के अनुसार इस समय 57.7 मिलियन घरों में टी. वी. सेट हैं और 296 मिलियन लोग अपने घरों में टी. वी. कार्यक्रम देख सकते हैं।

इधर हिंदी पत्रकारिता भी साइबर स्पेस में जा चुकी है। इंटरनेट पर पत्रकारिता की वजह से वेब अखबार की शुरुआत हो चुकी है। आज स्थिति यह है कि कुछ भारतीय समाचारपत्रों के संस्करण नेट के सर्वश्रेष्ठ संस्करणों में गिने जाते हैं। 1995 ई. में केवल 20 समाचारपत्रों के ही वेब साइट थी। अब इनकी संख्या पाँच हजार से ऊपर है। इनमें 225 एशियाई समाचारपत्र हैं। भारत में ऑन लाइन मीडिया की खास विशेषता यह है कि यहाँ अधिकतर साइट भारतीय भाषाओं की हैं। एक आकलन के मुताबिक 60 प्रकाशनों के संस्करण नेट पर मौजूद हैं, जिनमें अंग्रेजी समाचारपत्रों के साइटों की संख्या केवल 18 है–शेष भारतीय भाषाओं की साइट हैं।

भारत में इन्टरनेट के इस्तेमाल करने वालों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। आँकड़ों के मुताबिक इन्टरनेट तक पहुँच रखने वाले लगभग पाँच लाख लोग हैं, इनमें से अधिकांश अप्रवासी भारतीय हैं। फिर भी इस माध्यम की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस माध्यम को डिजिटल माध्यम नाम देना अधिक तर्क संगत प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें डिजिटल तकनीक का प्रयोग होता है।

भारत में जनसंचार की अवधारणा अत्यंत प्राचीन है। भारतीय पौराणिक साहित्य में इसके अगणित उदाहरण मिलते हैं। 'संजय' महाभारत में संभवतः दूरदर्शन की भाँति ही किसी माध्यम से धृतराष्ट्र के समीप बैठकर उन्हें युद्ध के 'लाइव टेलीकास्ट' का वर्णन सुनाते हैं जिसे हम सभी 'दिव्य दृष्टि' नाम देते हैं। पौराणिक साहित्य में 'आकाशवाणी' की अनेक घटनाएँ मिलती हैं। कंस को देवकी पुत्र द्वारा अपनी हत्या की संभावना का समाचार आकाशवाणी से ही मिलता है और उस समय का आकाशवाणी निष्पक्ष एवं निर्भीक समाचारों को देने में आज से अधिक संभव रहा होगा जो कि उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है। ये घटनाएँ प्राचीन भारत में आधुनिक संचार माध्यमों की तरह सूचना संचार तंत्र की उपस्थिति का संकेत देती हैं। किंतु यह निर्विवाद है कि भारत में परम्परागत रूप से समूह संचार ही अपनाया जाता रहा है, जिसमें मेले, सभा, तीर्थाटन आदि के माध्यम से अखिल भारतीय स्तर पर संचार संभव था। यह एक संचार तंत्र के रूप में भारत की अद्वितीय विशेषता रही है, जिसके कारण उत्तर भारत में रामचरितमानस अखिल भारतीय जनमानस तक पहुँच सका तथा सुधारात्मक आयाम लिए दक्षिण भारत का भक्ति आंदोलन धुर उत्तर की धरती तक पहुँच सका। यद्यपि लोकनाट्य के रूप में प्राचीन भारत में जनसंचार माध्यम उपस्थित था तथापि आधुनिक काल में पत्र-पत्रिकाओं के साथ नवीन प्रकार के जनसंचार का प्रचलन शुरू हुआ जो, फिल्म, रेडियो, टेलीविजन से होकर आज के द्रुतगामी इंटरनेट सेवा तक जा पहुँचा है। इन माध्यमों ने युगान्तकारी परिवर्तन स्थापित करते हुए संपूर्ण विश्व को गाँव में बदल दिया।

5.8 लोकतंत्र में मीडिया की भूमिका (Role of Media in Democracy)

आधुनिक विश्व में लोकतंत्र एवं लोकतांत्रिक संस्थाओं का काफी तीव्र गति से विकास हुआ है। मीडिया लोकतंत्र की एक सशक्त संस्था है। मीडिया अर्थात् जनसंचार के माध्यम (रेडियो, टेलीविजन, समाचारपत्र, इत्यादि) किसी भी समाज अथवा राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रतिबिंब होते हैं। मीडिया अपने प्रचलन के पश्चात् से ही मानव के दृष्टिकोण एवं विचारों को प्रभावित करता रहा है। विभिन्न देशों में संपन्न होने वाली सामाजिक एवं राजनीतिक क्रांतियों में मीडिया की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण रही है। मीडिया की

नोट

इसी सशक्त एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए ब्रिटेन के प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक आमण्ड बर्क ने इसे लोकतंत्र के चौथे स्तंभ का विशेषण प्रदान किया। लोकतांत्रिक राष्ट्रों में जहाँ विचारों एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान की गई हो, वहाँ इस स्वतंत्रता का सही ढंग से पूर्ण प्रयोग मीडिया द्वारा ही किया जाता है। देश का ऐसा कोई भी कोना होना लगभग असंभव-सा होगा, जो इसकी पैनी दृष्टि से बचा हो। यही कारण है कि शक्तिशाली शासक भी इसके महत्त्व एवं शक्ति की उपेक्षा नहीं कर सकते।

वर्तमान समय में एक ओर जहाँ मीडिया हमें देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों की जानकारी प्रदान करता है वहीं विदेशों में घटने वाली घटनाओं एवं परिवर्तित होते सामाजिक मूल्यों से भी अवगत कराता है। वस्तुत: मीडिया लोकतंत्र का एक सजग और सशक्त प्रहरी है, जिसके माध्यम से जन-साधारण द्वारा अपनी इच्छाएँ, विरोध, समर्थन एवं आलोचना सभी कुछ प्रकट करते हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि मीडिया जन-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का एक प्रभावी मंच है, उसका प्रतिबिंब है। यही कारण है कि बड़े से बड़ा राजनीतिज्ञ भी मीडिया की अवहेलना करने से डरता है।

मीडिया जनता के एक प्रवक्ता के रूप में कार्य करता है। जनता द्वारा सरकार की त्रुटियों से संबंधित अपनी शिकायतें मीडिया द्वारा ही अभिव्यक्त की जाती हैं। दूसरी ओर, सरकार के लिए मीडिया के माध्यम से राष्ट्र की नब्ज़ मालूम करना सरल हो जाता है।

लोकतंत्र में जनमत का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है और इस जनमत के निर्माण का दायित्व भी मीडिया का ही होता है। सरकार की नीतियों एवं कार्यक्रमों पर टिप्पणियों एवं आलोचनाओं द्वारा यह वास्तविकता को जनता के समक्ष रखता है। महत्त्वपूर्ण नीतियों के जटिल अर्थ को, जो कि साधारण नागरिक की समझ से परे होता है, मीडिया द्वारा ही स्पष्ट किया जाता है। मीडिया द्वारा संपूर्ण विश्व में समाचारों एवं विचारों को प्रसारित किया जाता है तथा जनता को विश्व में घटित होने वाली घटनाओं के संबंध में अद्यतन जानकारी सुलभ कराई जाती है। मीडिया का एक अति महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि यह देश एवं विश्व के लोगों हेतु राष्ट्रीय अथवा अंतरराष्ट्रीय स्तर की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय परिचर्चा और वाद-विवाद में भाग लेना आसान बनाता है।

आर्थिक एवं सांस्कृतिक वैश्वीकरण का श्रेय काफी हद तक मीडिया को ही जाता है। वर्तमान में यह "वसुधैव कुटुम्बकम्" की अवधारणा को साकार रूप दिए जाने की दिशा में संलग्न है। इसके अतिरिक्त यह जनता की राष्ट्रीय सीमाओं को पार करने एवं विश्व के अन्य लोगों से मानसिक धरातल पर संपर्क करने में अत्यधिक सहायक है।

आधुनिक समय में मीडिया एक अंतर्राष्ट्रीय अभिकरण की भूमिका का निर्वहन कर रहा है। विभिन्न देशों में घटित घटनाओं एवं समाचारों का व्यापक कवरेज इसके हाथों में एक नया अस्त्र है, जिसकी सहायता से यह तानाशाहों को अपनी जनता एवं विश्व समुदाय से वास्तविकता को छिपाने से रोकती है। इसके परिणामस्वरूप किसी भी क्षेत्र में निवास करने वाली दमित जनता अन्य स्थानों की स्वतंत्र जनता से अचेतन रूप से संपर्क में रहती है। यही कारण है कि किसी भी तानाशाह अथवा अधिनायकवादी के लिए जनता के अधिकारों का हनन कठिन होता जा रहा है।

आज टी.वी. खोलते ही प्रत्येक समाचार चैनल पर हर घंटे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, जो कि तभी घटित हुई होती हैं, ब्रेकिंग न्यूज के माध्यम से दिखाई जाती हैं। राष्ट्रीय महत्त्व की इस प्रकार की घटनाएँ कई बार हमें यह सोचने के लिए विवश कर देती हैं कि क्या वास्तव में भारतीय राजनीति इतनी अधिक संदूषित हो गई है? संभवत: यही कारण है कि आज के भ्रष्ट समाज में मीडिया के उत्तरदायित्व एवं भूमिका लोकतंत्र के अन्य तीनों स्तंभों (व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका) की अपेक्षा बढ़ गए हैं। आधुनिक मीडिया को प्राप्त अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं ने उनके अधिकार क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि की है। किंतु इन असीमित अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं से उसे अपने उत्तरदायित्वों से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। मीडिया को अपने स्वतंत्रता के अधिकार का उपयोग करते समय यह विशेष ध्यान रखना चाहिए कि उसके द्वारा प्रकाशित अथवा प्रसारित किसी भी लेख अथवा कार्यक्रम से देश की एकता, अखंडता एवं शांति को आघात न पहुँचे। मीडिया का यह परम कर्तव्य है कि वह बिना किसी पक्षपात अथवा पूर्वाग्रह के जनता को वास्तविक स्थिति से अवगत कराए। यह एक निर्विवाद सत्य है कि मीडिया लोकतंत्र एवं मानव अधिकारों का एक सशक्त रक्षक है। एक उत्तरदायी मीडिया तंत्र देश में कानून-व्यवस्था को बनाए रखने तथा राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता को कायम रखने में अद्वितीय भूमिका निभा सकता है। अत: एक लोकतांत्रिक शासन

व्यवस्था में एक स्वतंत्र मीडिया तंत्र अनिवार्य है और मीडिया को भी कुशलतापूर्वक एवं राष्ट्र के प्रति उत्तरदायित्वों की भावना से कार्य करते हुए देश के विकास में अपना अमूल्य योगदान प्रदान करना चाहिए।

नोट

5.9 समाज निर्माण में समाचारपत्र की भूमिका (Role of Newspapers in Social Development)

मीडिया अर्थात् जनसंचार के माध्यम (रेडियो, टेलीविजन, समाचारपत्र इत्यादि) किसी भी समाज अथवा राष्ट्र की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रतिबिंब होते हैं। जनसंचार के सभी माध्यमों में समाचारपत्र समाज निर्माण में अपेक्षाकृत अधिक सशक्त भूमिका का निर्वहन करते हैं। समाचारपत्रों का प्रचलन आरंभ होने के बाद से ही वे मानव के दृष्टिकोण एवं विचारों को प्रभावित करते रहे हैं। विभिन्न देशों में संपन्न होने वाली सामाजिक एवं राजनीतिक क्रांतियों में समाचारपत्रों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। समाचारपत्रों की इसी महत्त्वपूर्ण एवं सशक्त भूमिका को दृष्टिगत रखते हुए इसे "लोकतंत्र का चौथा स्तंभ" का अलंकरण प्रदान किया गया है।

समाचारपत्रों के प्रचलन के समय से लेकर वर्तमान समय तक परिस्थितियों में अभूतपूर्व परिवर्तन आया है और आज समाचारपत्रों की जन-साधारण तक पहुँच सरल हो गई है, जिसके परिणामस्वरूप समाचारपत्र समाज के प्रत्येक वर्ग की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करने हेतु सक्षम हो गए हैं। आज समाचार-पत्र हमारे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गए हैं। आधुनिक समाचारपत्रों द्वारा सरकारों के निर्माण एवं विघटन, विविध विषयों पर जनमत का निर्माण करने तथा पाठकों की मनोस्थिति को प्रभावित करने जैसी व्यापक भूमिकाओं का निर्वहन कर रहे समाचारपत्रों एवं पत्रिकाओं में सामाजिक जीवन के समस्त पक्ष सम्मिलित होते हैं, जैसे–स्थानीय समाचार, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय समाचार, खेल स्पर्द्धाएं, व्यापार एवं अर्थशास्त्र, फैशन शो, बच्चों एवं युवाओं पर लेख, शिक्षा एवं रोजगार के अवसर, सिनेमा इत्यादि। इसके अतिरिक्त समाचारपत्र देश की राजनीतिक, गतिविधियों के संचालन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। समाचारपत्र सरकार एवं साधारण जनता के मध्य एक पुल का कार्य करते हैं। वे जनता की अपेक्षाएँ सरकार तक तथा सरकार की बात एवं नीतियों इत्यादि को जनता तक पहुँचाते हैं। इस प्रकार वर्तमान समय में समाचारपत्रों ने लोकतंत्र के एक सजग प्रहरी का स्थान ग्रहण कर लिया है।

भारत के स्वाधीनता संघर्ष में भी समाचारपत्रों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन् किया। भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय सहित अन्य समाज सुधारकों ने भी अपने धार्मिक एवं सामाजिक सुधार कार्यक्रमों को विस्तार प्रदान करने तथा उन्हें जन-जन तक पहुँचाने हेतु समाचारपत्रों का ही सहारा लिया। इनके माध्यम से ही देशभक्ति की भावना का संचार अखिल भारतीय स्तर पर हुआ, जिसके कारण देशभक्तों ने स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए हँसते-हँसते कुर्बानी दे दी।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, *(मराठा, केसरी)*, सुरेंद्रनाथ बनर्जी *(बंगाली)*, भारतेंदु हरिश्चंद्र, *(संवाद कौमुदी)*, लाला लाजपत राय *(न्यू इंडिया)*, अरविंद घोष, *(वंदे मातरम्)* महात्मा गाँधी *(यंग इंडिया, इंडियन ओपीनियन व हरिजन)*, आदि महान् नेताओं एवं राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के संचालकों ने विभिन्न भाषाई समाचारपत्रों के माध्यम से ब्रिटिश शासन की शोषणकारी नीतियों एवं कार्यों को उजागर करके जन-सामान्य तक पहुँचाया। इन समाचारपत्रों से संपूर्ण विश्व में अत्याचार पूर्ण ब्रिटिश शासन का प्रचार होता था। समाचारपत्रों की इस बहुआयामी भूमिका के कारण ही ब्रिटिश शासन द्वारा प्रेस पर कठोर प्रतिबंध आरोपित किये गये तथा समाचारपत्रों एवं उनके संचालकों को अराजक घोषित कर दिया गया। किंतु समाचारपत्रों द्वारा उत्पन्न किये गये जन-उभार ने स्वतंत्रता प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने में बहुमूल्य योगदान दिया।

समाचारपत्र एक ओर जहाँ देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों एवं गतिविधियों की जानकारी प्रदान करते हैं वहीं दूसरी ओर सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों से भी जन-साधारण को अवगत कराते हैं। समाचारपत्रों के अभाव में लोकतंत्र सर्वथा अकल्पनीय है। समाचारपत्रों को जनता की तीसरी आँख भी कहा जाता है।

समय एवं स्थितियों में परिवर्तन करने के साथ-साथ समाचारपत्रों के कार्य क्षेत्र का दायरा भी अत्यधिक बढ़ गया है। एक सभ्य समाज में उनकी भूमिका, बहु-आयामी है तथा वर्तमान समय में राजनीति के अपराधीकरण एवं

भ्रष्टाचार के वातावरण में समाचारपत्रों के उत्तरदायित्वों में अत्यधिक वृद्धि हुई है। भ्रष्टाचार में संलिप्त नेताओं एवं सरकारी अधिकारियों का पर्दाफाश करने तथा असामाजिक तत्त्वों को सजा दिलाने में वे अपनी भूमिका का आदर्श निर्वहन करते हैं। समाचारपत्रों द्वारा अपने विश्लेषणों के माध्यम से व्यापक स्तर पर जनमत तैयार किया जाता है। वर्तमान समय में साधारण जनता कार्यपालिका तथा/अथवा व्यवस्थापिका से अधिक विश्वास समाचारपत्रों एवं न्यायपालिका पर करती है।

एक शक्तिशाली समाज के निर्माण में समाचारपत्र अपना अमूल्य योगदान देते हैं। साथ ही वे इस तथ्य का भी सदैव ध्यान रखते हैं कि उनके द्वारा दी गई सूचनाओं से राष्ट्र की अस्मिता एवं अखंडता पर कोई आँच न आए। तथ्यों एवं सत्य को पूर्ण रूप से जनता के समक्ष रखने के लिए समाचारपत्रों को पर्याप्त स्वतंत्रता की आवश्यकता होती है और यह स्वतंत्रता उन्हें संविधान द्वारा अनुच्छेद-19 (1)(क) के माध्यम से प्रदान की गई है।

कहा जाता है कि कलम की ताकत तलवार से अधिक होती है, जो कि सत्य भी है क्योंकि तलवार के वार से तो मात्र एक ही व्यक्ति घायल होता है किंतु कलम द्वारा लिखे गए एक कटु वाक्य मात्र से ही लाखों-करोड़ों लोगों के हृदय घायल हो सकते हैं। कलम की अपरिमित शक्ति के कारण ही प्रसिद्ध तानाशाह नेपोलियन बोनापार्ट शत्रु से अधिक विरोधी समाचारपत्रों से डरता था। समाचारपत्र जन-मानस को एक ऐसी निष्पक्ष दृष्टि प्रदान करते हैं, जिससे जनता स्वयं सत्य एवं असत्य, सही और गलत में भेद कर सके। मीडिया के लिए सभी राजनीतिक दल एवं नेतागण एक समान होते हैं, आदर्श पत्रकारिता के भीतर पक्षपात के लिए कोई स्थान नहीं है।

समाचार-पत्रों के अभाव में स्वस्थ लोकतंत्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। सरकार द्वारा बनाई जाने वाली लोक कल्याणकारी योजनाओं एवं नीतियों को जनता तक पहुँचाने का कार्य समाचारपत्रों द्वारा ही किया जाता है। विश्व की कोई भी क्रांति एवं आंदोलन समाचारपत्रों के सहयोग के बिना नहीं हो सका है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, समाज के अभाव में मनुष्य का अस्तित्व ही संभव नहीं है। समाचारपत्रों से हमारा समाज व्यापक रूप से प्रभावित होता है। अत: यह ठीक ही कहा गया है कि, "यदि किसी समय के समाज की स्थिति जाननी हो तो उस समय के समाचारपत्रों को देखो।"

5.10 कार्यपालिका में संचार साधनों का योगदान व प्रचार की भूमिका (Contribution of Means of Communication and Role of Propaganda in Executive)

संचार साधनों के विकास ने कार्यपालिका को सीधे जन-संपर्क में ला दिया है। रेडियो, टेलीविजन (दूरदर्शन), टेलीफोन तथा प्रेस के माध्यम से कार्यपालिका अपने हर कार्य के लिए जनता के प्रति सीधा उत्तरदायित्व निभाने लगी है। कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि के इस तथ्य की तरफ राजनीतिशास्त्र के विद्वानों का ध्यान अभी तक कम ही गया है। परंतु मेरी दृष्टि में कार्यपालिका को शक्ति केंद्र बनाने में संचार के साधनों व प्रचार (propaganda) का सर्वाधिक योग रहता है। आज राष्ट्रपति व प्रधानमंत्री हर देश में बार-बार जनता को रेडियो के द्वारा संबोधित करने लगे हैं। दूरदर्शन के माध्यम से कार्यपालिका अध्यक्ष जनता के सामने पेश होने लगे हैं। जिन देशों में संचार साधनों पर सरकारी नियंत्रण नहीं होता वहाँ भी कार्यपालिका का प्रचार सर्वाधिक होता है। संचार साधनों ने कार्यपालिका को हर बात में जनता के निकटतम ला दिया है। कार्यपालिका व जनसाधारण के बीच यह संपर्कता तथा कार्यपालिका के पक्ष में प्रचार, हर देश के मुख्य कार्यपालकों को शक्ति केंद्र बनाने में सहयोगी रहा है। एलेन बाल ने इस संबंध में ठीक ही लिखा है कि 'जनसंपर्क माध्यमों का उपयोग करने के अवसर तथा प्रचार की सुविधा कार्यपालिका की शक्ति को मजबूत बनाने वाला महत्त्वपूर्ण घटक है। टेलीविजन का इस्तेमाल करने में दगाल उस्ताद थे और अपने द्विवर्षीय प्रेस सम्मेलनों को करने में वह सावधानी बरतते थे।' इससे आम जनता पर बहुत गहरी छाप पड़ती है। उनके लिए कार्यपालिका ही सब कुछ बन जाती है।

कार्यपालिका व विशेषकर मुख्य कार्यपालक का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में वह ही चेतना-केंद्र हो गया है। उपरोक्त तथ्यों ने अवश्य ही कार्यपालिका में शक्ति केंद्रण को प्रोत्साहित किया है। इनके अलावा भी अनेक बातें ऐसी हैं जिनसे कार्यपालिकाओं का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। मुख्य कार्यपालकों का व्यक्तित्व, सरकार के अन्य सदस्यों के साथ उनका संबंध, राष्ट्र के लिए कुछ कर गुजरने का उनका निश्चय, जन कल्याण के लिए साधन जुटाने में उद्यमशीलता, कार्यपालिका की स्थिरता, कार्यपालकों की कूटनीतिज्ञता तथा हर

नोट

परिस्थिति का चतुराई व कभी-कभी चालाकी से सामना करने की दक्षता ने कार्यपालकों को राजनीतिक मंच का 'रिंग मास्टर' बनाने में सहायता की है। ला पालोम्बारा ने तो यहाँ तक लिखा है कि कार्यपालकों की शक्ति में वृद्धि का कारण उनकी चालबाजी, जोड़-तोड़ व कपट-प्रबंध करने की क्षमता व योग्यता है।

मुख्य कार्यपालक व्यवस्थापिकाओं का सहयोग प्राप्त करने की क्षमता रखता है। उनको धमकी तक देने में नहीं हिचकिचाता है, उनको अपंग बनाकर इन्हें उससे सहयोग करने के लिए मजबूर कर सकता है। अमरीका के राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डेलेनो रूजवेल्ट व ट्रू मेन ने ऐसा अनेक बार किया था। इन सब तथ्यों के अलावा एक बात निर्विवाद है कि कार्यपालक ही देश का नेता, राष्ट्र का प्रतीक, सरकार का अधिकृत प्रवक्ता, राजनीतिक व्यवस्था का संयोजक व समाज की एकता तथा राष्ट्र के अहं का रक्षक होता है। अत: कार्यपालकों का बढ़ता हुआ महत्त्व व उनके पद में अप्रत्याशित शक्ति केंद्रण वर्तमान परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम है।

5.11 सामाजिक जीवन का राजनीतिकरण या राजनीतिक समाजीकरण (Politicization of Social Life or Political Socialization)

समाजीकरण अध्ययन एवं अन्वेषण का एक नवीन क्षेत्र नहीं है, क्योंकि ऐसे अन्वेषण सामाजिक मनोविज्ञान, नृविज्ञान तथा मनोरोग विज्ञान में होते रहे हैं। तथापि समाजीकरण के परिणाम के रूप में राजनीतिक व्यवहार (अर्थात् राजनीतिक समाजीकरण) का अन्वेषण एक नवीन बात है। राजनीतिक समाजीकरण को पहले 'नागरिकता', 'नागरिकता प्रशिक्षण' तथा 'नागरिक समाजीकरण' के नामों से जाना जाता था। राजनीतिक समाजीकरण वास्तव में राजनीति एवं राजनीतिक व्यवहार के क्षेत्र में समाजीकरण की प्रक्रिया का परिसीमन है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक मूल्य (राजनीतिक संस्कृति) एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित होते हैं।

राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक संस्कृतियों का अनुरक्षण और उसमें परिवर्तन किया जाता है। समाजीकरण के माध्यम से व्यक्तियों को राजनीतिक संस्कृतियों में शामिल किया जाता है। तभी राजनीतिक वस्तुओं के प्रति उनके अभिविन्यास का निर्माण किया जाता है। दूसरे शब्दों में, समाजीकरण उस शिक्षण प्रक्रिया की ओर निर्देश करता है, जिसके द्वारा सुसंचालित राजनीतिक व्यवस्था के लिए स्वीकार्य मानकों और व्यवहारों को एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी तक संप्रेषित किया जाता है। राजनीतिक समाजीकरण का उद्देश्य व्यक्तियों का इस तरीके से प्रशिक्षण और विकास करना है कि वे राजनीतिक समुदाय के सुकार्यकारी सदस्य बन सकें।

राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया सामान्यतया आकस्मिक अथवा अदृश्य रूप से कार्य करती है। इसका अर्थ यह है कि यह शांत और सौम्य रूप से संचालित होती है कि कई बार लोगों को इसके संचालन की खबर भी नहीं होती है।

राजनीतिक समाजीकरण की संकल्पनाओं में प्रधान बल एक पीढ़ी तक राजनीतिक मूल्यों के सम्प्रेषण पर दिया जाता है। किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता इस तथ्य के कारण इसके सदस्यों के राजनीतिक समाजीकरण पर निर्भर करती है कि एक अच्छा कार्यकारी नागरिक मानकों को अंगीकार कर ले और उन्हें भावी पीढ़ियों को सम्प्रेषित करे। उदाहरण के लिए, ब्रिटेन में नागरिकों को प्रशिक्षित कर इस बात का अभ्यस्त बनाया जाता है कि वे परिवर्तन करने के लिए संवैधानिक उपायों को स्वीकार कर लें, बजाय इसके कि इन मामलों को सड़कों पर ले जायें या हिंसात्मक उथल-पुथल की अवस्थाएँ पैदा करें।

सरल शब्दों में कहा जाए तो राजनीतिक समाजीकरण एक ऐसा विचार है जो राजनीतिक स्थायित्व (Political stabilization) के लक्ष्य को प्राप्त करने की अपेक्षा करता है। **राबर्ट सीगल** के शब्दों में "राजनीतिक समाजीकरण का उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों का प्रशिक्षण और विकास करना है जिससे वे राजनीतिक समाज के अच्छे कार्यकारी सदस्य बन सकें। राजनीतिक समाजीकरण व्यक्तियों के मन में मूल्यों, मानकों और अभिविन्यासों का विकास करता है जिसमें राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास की भावना हो और वे अपने आपको अच्छे कार्यकारी नागरिक के रूप में बनाये रखें तथा अपने उत्तराधिकारियों के मन पर अमिट छाप छोड़ सकें।

सीगल के शब्दों में, "राजनीतिक समाजीकरण से अभिप्राय सीख की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा प्रचलित राजनीतिक व्यवस्था द्वारा स्वीकृत राजनीतिक आदर्श एवं व्यवहार पीढ़ी-दर पीढ़ी हस्तांतरित होते हैं।" **लेंगटन** ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। इनके शब्दों में व्यापकतर अर्थ में "राजनीतिक समाजीकरण वह तरीका है जिसके द्वारा समाज राजनीतिक संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरित करता है।"

डेविड ईस्टन के शब्दों में "किसी प्रकार से एक प्रौढ़ पीढ़ी युवा पीढ़ी को अपने जैसे प्रौढ़ प्रतिरूप (adultimage) में ढालती है, यही समाजीकरण है।"

पीटर मर्कल ने राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया को एक प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया का स्वाभाविक अध्ययन माना है। उनके अनुसार : "किसी राज्य-व्यवस्था के सदस्यों द्वारा राजनीतिक दृष्टिकोण एवं व्यवहार की प्रतिकृति को विकसित करने से संबद्ध वैज्ञानिक अध्ययन को राजनीतिक समाजीकरण का अध्ययन कहा जाता है।"

आमण्ड एवं पॉवेल राजनीतिक समाजीकरण को एक ऐसी प्रक्रिया मानते हैं जिसके द्वारा व्यक्ति राजनीतिक संस्कृति में प्रवेश करता है। राजनीतिक वस्तुओं के प्रति ज्ञान प्राप्त करता है, अपने प्रतिमानों, अभिकांक्षाओं का निर्माण करता है, अपने व्यवहार की रीति निर्धारित करता है अर्थात् वह राजनीतिक संस्कृति एवं पद्धति का अंग बनता है, उनका मत है कि यह अवधारणा आधुनिक युग में इसलिए विशेष महत्त्व रखती है कि इसके माध्यम से राजनीतिक स्थायित्वता एवं विकास को सरलता से समझा जा सकता है। आधुनिक युग में नये राज्यों के उदय के कारणवश, संचार साधनों में निरंतर विकास के कारणवश, तकनीकी खोजों के परिणामस्वरूप समाजीकरण की प्रक्रिया आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में विशेष स्थान रखती है।

राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया बन जाती है क्योंकि यह नागरिकों के दृष्टिकोण से संबंध रखती है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से मनुष्य को आने वाली राजनीतिक पद्धति के मान्य प्रतिमान एवं व्यवहार के संबंध में ज्ञान प्राप्त होता है। यह स्वाभाविक है कि यह ज्ञान आहिस्ता-आहिस्ता बिना चेष्टा किये होता रहता है, पर ज्ञान प्रयत्नों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। आमण्ड एवं पॉवेल इस प्रक्रिया को दो भागों में बाँटते हैं : स्पष्ट एवं अस्पष्ट (Manifest and Latent)। इनका मत है कि नागरिक राजनीतिक वस्तुओं के प्रति ज्ञान केवल राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेते समय ही प्राप्त नहीं करते बल्कि उस काल में भी वह ज्ञान प्राप्त करते हैं जबकि वह राजनीतिक प्रक्रिया में भाग नहीं ले रहे होते। प्राय: नागरिकों की राजनीतिक संस्कृति के अधिकांश भाग का निर्माण अप्रत्यक्ष रूप में ही होता है, पर मनुष्य पर प्रत्यक्ष प्रभाव भी पड़ते हैं जो संभवत: उतना ही महत्त्व रखते हैं जितना कि अप्रत्यक्ष। सूक्ष्म में, यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक समाजीकरण एक ऐसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से नागरिक राजनीतिक पद्धति के उद्देश्यों, मानकों और उसके व्यवहार के संबंध में प्राप्त करता है। इसी के माध्यम से वह अपने उद्देश्यों, माँगों, अभिलाषाओं का निर्माण करता है, अपने व्यवहार की नीति बनाता है अर्थात् राजनीतिक संस्कृति में प्रवेश करता है, राजनीतिक पद्धति में अपना स्थान खोजता है और अपना योगदान देता है।

राजनीतिक समाजीकरण का उद्देश्य नागरिकों को ज्ञान देकर समाज के अच्छे कार्यवाहक बनाना है। क्योंकि राजनीतिक पद्धति में एकता के अभाव में राजनीतिक प्रक्रिया असंभव हो जाती है जिससे पद्धति के स्थायित्व को खतरा उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार राजनीतिक समाजीकरण उन मूल्यों, प्रतिमानों और दृष्टिकोणों के संबंध में ज्ञान प्राप्त कराता है ताकि व्यक्ति अच्छे नागरिकों के रूप में आने वाली पीढ़ियों पर अच्छा प्रभाव डाल सकें। इसमें कोई संदेह नहीं कि जब बच्चा उत्पन्न होता है तो वह ज्ञान प्राप्त व्यक्ति नहीं होता। वह राजनीतिक ज्ञान आहिस्ता-आहिस्ता प्राप्त करता है। राजनीतिक समाजीकरण के लिए केवल ज्ञान पर्याप्त ही नहीं है उसके लिए यह भी आवश्यक है कि समाज के जिन मूल्यों एवं प्रतिमानों के संबंध में ज्ञान प्राप्त हुआ है वह अपने मूल्य एवं प्रतिमान बना लें तभी वह अच्छा नागरिक बन सकेगा।

राजनीतिक समाजीकरण उस समय आरंभ होता है जब एक बच्चा पर्यावरण में प्रवेश करता है। वह अनेक प्रकार की परिस्थितियों के संपर्क में आता है जिनके माध्यम से वह ज्ञान प्राप्त करता है। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें बच्चा सत्ता, आज्ञा, विरोध, सहभागिता के संबंध में ज्ञान प्राप्त करता है। ईस्टन एवं डेनिंग बच्चे के जीवन में चार सत्रों का वर्णन करते हैं जिसके द्वारा बच्चा राजनीतिक-समाजीकरण एवं राजनीतिक संस्कृति में प्रवेश करता है–

(1) विशेष व्यक्तियों के माध्यम से सत्ता की मान्यता।

(2) सार्वजनिक एवं निजी सत्ता में अंतर।

(3) राजनीतिक संस्थाओं एवं व्यवहार के संबंध में ज्ञान।

(4) राजनीतिक संस्थाओं और व्यक्ति विशेष के मध्य अंतर।

नोट

5.12 राजनीतिक समाजीकरण का संप्रत्ययीकरण एवं प्रक्रिया (Conceptualisation and Concept of Political Socialisation)

राजनीतिक समाजीकरण से संबद्ध अनुसंधान को संगठित एवं व्यवस्थित करने के यद्यपि अनेक संप्रत्यात्मक आधार प्रस्तुत किए गए हैं, परंतु फिर भी आज तक कोई सर्वमान्य प्रारूप विकसित नहीं हो पाया है।

सामान्य व्यवस्था सिद्धांत के समर्थकों (ईस्टन, हेस) ने राजनीतिक समाजीकरण को व्यवस्था के लिए समर्थन प्राप्त करने एवं उसे रखने का एक माध्यम बताया है। इस दृष्टिकोण में राजनीतिक समाजीकरण के अध्ययन से अभिप्राय राजनीतिक व्यवस्था के प्रत्येक स्तर पर समर्थन संबंधी एवं विघटनकारी प्रभावों की व्याख्या करना है। संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम के समर्थक विद्वान (पारसंस, मिचेल, आमंड तथा वर्बा आदि) राजनीतिक समाजीकरण को व्यवस्थावादी विचारकों के समान ही देखने का प्रयास करते हैं, परंतु समाजीकरण के महत्त्व की दृष्टि से इनका दृष्टिकोण थोड़ा-सा भिन्न है। ये विचारक राजनीतिक समाजीकरण को व्यवस्था के अस्तित्व को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण मानने के साथ-साथ इस बात पर भी बल देते हैं कि यह केवल राजनीतिक व्यवस्था के निवेशन (अर्थात समर्थन, साधनों व माँगों) को प्रभावित नहीं करता अपितु इन निवेशनों को निर्णयात्मक निर्गतों में परिवर्तित करने में भी महत्त्वपूर्ण है।

राजनीतिक समाजीकरण के प्रत्यय (Socialisation And its Variables)

राजनीतिक समाजीकरण के दो प्रत्यय (Variables) हैं:

(1) एकरस (Homogeneous),

(2) खण्डित (Heterogeneous)

एकरस प्रत्यय से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति एक-दूसरे से मिलकर विश्वास के वातावरण में कार्य करते हैं और अपने राजनीतिक विचार ग्रहण करते हैं। यह पद्धति के स्थायित्व का वर्णन करता है। इसके बिल्कुल विपरीत खंडित प्रत्यय में नागरिक एक-दूसरे पर शक करते हैं और ऐसी घृणा के वातावरण में पद्धति के प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा का अभाव होता है, क्योंकि समाजीकरण का उद्देश्य पद्धति को बनाए रखना है इसलिए अनेक लेखक इसे रूढ़िवादी अवधारणा कहते हैं। यह परिवर्तन के विरुद्ध अवधारणा है परंतु ऐसा नहीं है। यह अवधारणा परिवर्तन में विश्वास करती है पर वह धीमी गति के और शान्तिपूर्ण परिवर्तन में विश्वास करती है। वह यह मानती है कि समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवर्तन के साथ-साथ राजनीतिक संस्कृति में भी उसी मात्रा में परिवर्तन होना चाहिए। अकस्मात् अधिक मात्रा में परिवर्तन राजनीतिक पद्धति को खंडित कर देता है। उनका मत है कि राजनीतिक मूल्यों का निर्माण एवं राजनीतिक परिवर्तन साथ-साथ होने चाहिए। यह अवधारणा सत्ता धारियों को यह समझाने का प्रयत्न करती है कि वे कोई ऐसा कार्य न होने दें जिससे कि राजनीतिक पद्धति के प्रति नागरिकों के व्यवहार में अकस्मात् परिवर्तन हो जाए।

5.13 राजनीतिक समाजीकरण के निर्माणक तत्व (Determinants of Political Socialisation)

ऊपर दिए गए विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक समाजीकरण वास्तव में एक प्रकार की शिक्षा है जिसके माध्यम से व्यक्ति राजनीतिक वस्तुओं के प्रति ज्ञान प्राप्त करता है और व्यवहार का निर्माण करता है। मैनहिम ने राजनीतिक समाजीकरण की चार विशेषताओं का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं–

(1) राजनीतिक समाजीकरण आधारभूत रूप में एक अधिक विस्तृत या सामान्य सीखने व शिक्षण की प्रक्रिया का ही एक भाग है। इस प्रकार यह उस प्रक्रिया से केवल उन्हीं तत्त्वों को ग्रहण करता है जिनकी राजनीतिक वस्तुओं, मूल्यों या गतिविधियों से संगतता व उपयोगिता हो।

नोट

(2) राजनीतिक समाजीकरण के फलं योग्यात्मक और अंतर्क्रियात्मक (Aggregative and interactive) हैं। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया सदा ही जारी रहती है।

(3) राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया अति विस्तारपूर्ण (Comprehensive) है, इसमें वे सभी बातें आ जाती हैं जिनमें राजनीति को सीखने से कुछ भी संबंध हो।

(4) प्रत्येक व्यक्ति समाजीकरण के अनुभवों के न्यूनाधिक अनोखे मेल का प्रतिनिधित्व करता है। चूँकि पारिवारिक जीवन, सामूहिक संघों, शैक्षिक अनुभवों और जीवन शैलियों के प्रकार अनगिनत हैं और चूँकि राजनीतिक समाजीकरण में अन्य शक्तियाँ अंतर्ग्रस्त रहती हैं, अत: ऐसे समाजीकरण के संभावित उत्पाद भी अनगिनत और विविध प्रकार के हैं। (The potential products of such socialisation must be more numerous and more diverse)।

आमंड एवं पॉवेल राजनीतिक शिक्षा को एक जीवनकाल की शिक्षा और एलेन बॉल इसको एक ऐसी शिक्षा मानते हैं जो केवल मनुष्य के बचपन तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि सारे जीवन तक चलती रहती है। वह कुटुम्ब, शिक्षा संस्थाओं, जनसंचार साधनों, व्यवसायी संस्थाओं को समाजीकरण के अभिकर्ताओं (Agents) के रूप में देखते हैं जिनमें मनुष्य व्यावहारिक एवं औपचारिक राजनीतिक शिक्षा ग्रहण करता है।

समाजीकरण के प्रमुख अभिकरण (Agents) इस प्रकार हैं–

(1) परिवार या कुटुंब, (2) औपचारिक शिक्षा संस्थाएँ, (3) अनौपचारिक संस्थाएँ, (4) जनसंचार के साधन, (5) राजनीतिक दल।

यह स्वाभाविक ही है कि समाजीकरण की संस्थाओं में सर्वप्रथम स्थान परिवार एवं कुटुंब को ही प्राप्त हो सकता है। यहाँ से व्यक्ति संतोष एवं विरोध की भावनाएँ ग्रहण करता है। आदेश एवं आज्ञा के संबंध में ज्ञान प्राप्त करता है। श्रद्धा की भावना ग्रहण करता है, राजनीतिक मूल्यों का निर्माण करता है। रॉबर्ट लेन कुटुंब में तीन रीतियों का वर्णन करते हैं जिसके द्वारा एक बच्चा ज्ञान प्राप्त करता है–

(1) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सिद्धांतीकरण,

(2) बच्चे का एक विशेष सामाजिक परिस्थिति से संपर्क,

(3) बच्चे की मनोवृत्ति का उद्देश्यपूर्ण निर्माण।

व्यक्ति की राजनीतिक शिक्षा में दूसरा स्थान औपचारिक शिक्षा संस्थाएँ हैं। अतीत से यह विश्वास किया जाता है कि शिक्षा संस्थाएँ व्यक्ति के राजनीतिक व्यवहार के निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। आमंड एवं वर्बा यह विश्वास करते हैं कि जितनी अधिक एक व्यक्ति की शिक्षा होगी उतना ही अधिक उसे राजनीतिक ज्ञान होगा; और राजनीतिक एवं सरकारी प्रक्रिया को समझ पायेगा तथा राजनीतिक वस्तुओं के संबंध में उसके उतने ही अधिक विचार होंगे। राजनीति में वह सक्रिय होगा, राजनीतिक क्रियाओं को प्रभावित करने की क्षमता होगी और सामाजिक वातावरण में विश्वास होगा। यही कारण है कि स्कूलों के पाठ्यक्रमों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उच्च-शिक्षा की संस्थाएँ व्यक्ति को राजनीतिक संस्कृति के निर्माण में परोक्ष अनुभव प्रदान करके विशेष सहायता करती हैं जिसके माध्यम से राजनीतिक पद्धति में वह सरलता से अपना स्थान ग्रहण कर लेता है। यह शिक्षा संस्थाएँ राजनीतिक पद्धति में स्थापित व्यवहारों को स्पष्ट कर देती हैं। मायरन विनर भारत में विश्वविद्यालयों की समाजीकरण की क्रिया में भूमिका का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि 'यदि विश्वविद्यालयों के अधिकारी विद्यार्थियों की शिकायतों को दूर करने का संतोषजनक मार्ग निकाल लें तो विश्वविद्यालयों में अनुशासनहीनता की समस्या तो दूर हो ही जाएगी, वह देश को ऐसे अभिजन भी देंगे जो पद्धति के स्थायित्व को प्रभावित करेंगे और देश को उन्नति की ओर ले जाएंगे।

इस राजनीतिक शिक्षा में तीसरा स्थान औपचारिक संस्थाओं का है जहाँ व्यक्ति कार्य करता है, मनोरंजन के लिए जाता है या सामूहिक रूप से राजनीतिक क्रियाओं में भाग लेता है और चौथा स्थान जनसंचार साधनों का है जिनके माध्यम से वह अपने राजनीतिक विचार बनाता है, सूचनाएँ ग्रहण करता है और राजनीति में गतिशील होने का प्रयत्न करता है।

राजनीतिक दल भी समाजीकरण के अभिकरण हैं। सर्व सत्तावादी राज व्यवस्थाओं के राजनीतिक दलों का प्रमुख कार्य पुरातन मूल्यों एवं मान्यताओं को स्थापित करना होता है। जनतंत्रात्मक देशों व राज्य व्यवस्थाओं में यद्यपि राजनीति दलों का प्रधान कार्य मतदाताओं को मतदान के प्रति प्रशिक्षित करना है, फिर भी इनमें नए मूल्यों को प्रस्थापित करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। नवोदित राष्ट्रों में राज-संस्कृति के सर्जन एवं परिवर्तन सामाजिक दलों का

नोट

बहुत अधिक महत्त्व है। इन देशों में अन्य संस्थाओं के अविकसित स्वरूप के कारण राजनीतिक दल केवल निर्वाचकीय उपादान ही बनकर नहीं रह जाते हैं बल्कि वे ढेर सारे दूसरे कार्यों का संपादन या निष्पादन करते हैं, जैसे जनता एवं शासन के मध्य संबंध स्थापित करना, राजनीतिक सूचनाओं का प्रसार करना, विभिन्न समुदायों में एकता स्थापित करना तथा राष्ट्रीय कार्यक्रमों का प्रसार कर राजनीतिक समाजीकरण के एजेंट के रूप में सकारात्मक भूमिका निभाना।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो सदैव राजनीतिक शिक्षा ग्रहण करता रहता है। वह अपने मानकों के उद्देश्यों का निर्माण करता है और अनुभव के आधार पर उन्हें संशोधित करता रहता है।

राजनीतिक समाजीकरण की प्रक्रिया के अध्ययन का कोई सर्वमान्य प्रतिमान न होने को कारण विभिन्न समूहों एवं विभिन्न समाजों में इसके बारे में पायी जाने वाली भिन्नता है। अधिकतर अध्ययन अमरीका तथा पश्चिमी यूरोप के देशों तक ही सीमित रहे हैं। इसलिए भी इस प्रक्रिया के बारे में कोई व्यापक दृष्टिकोण विकसित नहीं हो पाया है। विभिन्न देशों के विभिन्न धर्मों एव सजातीय समूहों के बच्चों पर हुए अध्ययनों से हमें यह पता चलता है कि उनमें 3-4 वर्ष की आयु में ही प्रजातीय एवं सजातीय प्राथमिकताएँ विकसित होनी शुरू हो जाती हैं जिसमें अपने प्रजातीय एवं सजातीय समूह के प्रति लगाव एवं अन्य समूहों के प्रति शत्रुता की भावनाएँ सम्मिलित हैं। 7-8 वर्ष की आयु तक बच्चे अन्य समूहों के लिए प्रयुक्त शब्दों एवं संप्रत्ययों को सीख जाते हैं तथा 12-13 वर्ष की आयु में आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन, न्यूजीलैंड एवं अमरीका, आदि देशों में राष्ट्रीय एवं प्रजातीय भावनाओं के अतिरिक्त वर्ग संरचना का कुछ ज्ञान, शक्ति व बल, घरेलू एवं बाहरी मित्रों एवं शत्रुओं की कुछ जानकारी, दलों के अस्तित्व, चुनाव तथा मतदान और सरकार के महत्त्व के बारे में कुछ ज्ञान तथा राजनीतिक दल के बारे में कुछ प्रतिबद्धता का उपार्जन प्रारंभ हो जाता है। किशोरावस्था में राजनीतिक सूझ-बूझ में प्रमुख रूप से प्रगति होती है। सरकार की संरचना व कार्यों, विधि राजनीतिक दलों, समुदायों की आवश्यकताओं, व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं जनकल्याण से संबंध तथा राजनीतिक निर्णय लेने के आधारों, आदि के बारे में जागरुकता आने लगती है। वयस्क होने पर व्यक्ति राजनीतिक प्रक्रियाओं में स्वयं भाग लेना शुरू कर देता है तथा राजनीतिक सीख के रूप में यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है।

छात्र क्रियाकलाप

1. 'स्वतंत्र व निष्पक्ष समाचारपत्र' से आप क्या समझते हैं?

2. राजनीतिक समाजीकरण के कितने प्रत्यय हैं?

नोट

5.14 सारांश (Summary)

- लोकमत विवेक और नि:स्वार्थ भावना के ऊपर आधारित वह विचार है जिसका लक्ष्य जाति अथवा वर्ग विशेष का हित न होकर संपूर्ण समाज का हित होता है।
- लोकमत किसी भी रूप में अनिवार्यत: पूर्ण बहुमत की राय नहीं है, क्योंकि किसी भी विषय पर अनेक और विभिन्न लोकमत हो सकते हैं, और यह ज्ञात करना वास्तव में दुष्कर है कि एक सच्चे बहुमत की राय क्या है?
- लोकमत के निर्माण के बारे में यही कहा जा सकता है कि इसकी निर्माण-प्रक्रिया अत्यंत ही जटिल है और इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व लक्षणों से लेकर बाहर की समूह व्यवस्था, राजनीतिक संरचनाओं व प्रक्रियाओं तक का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है।
- कर्मशील व्यक्ति अपनी रोजी-रोटी कमाने में इतने उलझे होते हैं कि इन्हें अपने स्वतंत्र विचार बनाने की न फुर्सत होती है तथा न ऐसा कर सकने के लिए आवश्यक शिक्षा व समझ होती है। यह प्राय: अपने से अधिक चतुर लोगों के द्वारा अभिव्यक्त मत को ही अपना मत बना लेते हैं।
- सम्प्रेषण के साधनों में समाचारपत्र लोकमत के निर्माण में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। ये हमें राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं से अवगत कराते हैं। ये सरकार की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक गतिविधियों से जनसाधारण को अवगत रखते हैं।
- स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए यह परमावश्यक है कि समाज के सदस्य क्या चाहते हैं इसका उनको सुस्पष्ट ज्ञान हो। इसके अभाव में वे अपना सुनिश्चित मत नहीं बना सकते हैं।
- लोकमत को जनता का, जनता के द्वारा व जनता के लिए शासन कहा गया है। यह जनता की इच्छा के अनुसार शासन है, परंतु जनता की इच्छा के अनुसार शासन का अभिप्राय यह नहीं होता कि सरकार के प्रत्येक कार्य पर जनता का परामर्श लिया जाए।
- राजनीतिक दल व प्रबुद्ध लोकमत का 'चोली-दामन' का संबंध कहा जा सकता है। इसी तरह लोकतंत्र व राजनीतिक दल भी घनिष्ठ रूप से संबंधित माने जा सकते हैं, क्योंकि लोकतंत्र बहुमत का शासन माना जाता है तथा इस बहुमत को व्यवहार में भी बहुमत बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि यह लोकमत के अनुरूप बना रहे।
- वर्तमान समय में एक ओर जहाँ मीडिया हमें देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक गतिविधियों की जानकारी प्रदान करता है वहीं विदेशों में घटने वाली घटनाओं एवं परिवर्तित होते सामाजिक मूल्यों से भी अवगत कराता है।
- एक शक्तिशाली समाज के निर्माण में समाचारपत्र अपना अमूल्य योगदान देते हैं। साथ ही वे इस तथ्य का भी सदैव ध्यान रखते हैं कि उनके द्वारा दी गई सूचनाओं से राष्ट्र की अस्मिता एवं अखंडता पर कोई आँच न आए।
- राजनीतिक समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक संस्कृतियों का अनुरक्षण और उसमें परिवर्तन किया जाता है। समाजीकरण के माध्यम से व्यक्तियों को राजनीतिक संस्कृतियों में शामिल किया जाता है। तभी राजनीतिक वस्तुओं के प्रति उनके अभिविन्यास का निर्माण किया जाता है।
- राजनीतिक दल भी समाजीकरण के अभिकरण हैं। सर्व सत्तावादी राज व्यवस्थाओं के राजनीतिक दलों का प्रमुख कार्य पुरातन मूल्यों एवं मान्यताओं को स्थापित करना होता है।

नोट

अभ्यास प्रश्न (Exercise Questions)

1. लोकमत का अर्थ एवं परिभाषा दीजिए। इसकी प्रमुख विशेषताओं का भी उल्लेख करें।
2. लोकमत के निर्माण एवं अभिव्यक्ति पर अपने विचार प्रस्तुत करें।
3. स्वस्थ लोकमत के निर्माण से पूर्व कौन-कौन सी आवश्यक परिस्थितियों का होना जरूरी है?
4. लोकतंत्र में मीडिया की भूमिका पर प्रकाश डालिए।
5. कार्यपालिका में संचार के साधनों के योगदान को स्पष्ट कीजिए।
6. 'राजनीतिक समाजीकरण' या सामाजिक जीवन के राजनीतिकरण से क्या तात्पर्य है?
7. राजनीतिक समाजीकरण के प्रत्यय एवं निर्माणक तत्त्व कौन-कौन से हैं?

संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

1. Modern Politics and Government — Alan R. Ball
2. Rural Sociology — Doshi, S.L. and Jain, P.C.— Rawat, Jaipur, 1999
3. India as a Secular State — Smith, D.E. — Princeton University Press,London, 1963
4. Politics in India — Kothari, Rajni — Orient Longman Ltd, Delhi, 1972.